निवेदन

श्री सियारामशरण गुप्त लगभग ३०-३५ वर्ष से निरन्तर हमारे साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहे है। उनका साहित्य गुण और परिमाण दोनो की ही दृष्टि से अत्यन्त वरेण्य है। उनके तपःपूत काव्य-जीवन और उससे उद्भूत पावन जीवन-दर्शन का अपना पृथक् वैशिष्ट्य है, जिसका उचित मूल्याकन अभी हिन्दी में नही हुआ। —इसी उद्देश्य को सामने रखकर आज से कोई ८-९ महीने पहले एक योजना बनायी गयी थी।

प्रस्तुत पुस्तक उसी का परिणाम है। इससे उक्त उद्देश्य की कहाँ तक पूर्ति होती है, इसका निर्णय तो सियाराम-साहित्य के प्रेमी और मर्मज्ञ ही करेंगे। परन्तु मुझे अपने प्रयत्न पर सन्तोष ही है : 'यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।'

अन्त में, मैं अपने सभी सहयोगियों के प्रति सविनय आभार प्रकट करता हूँ। वास्तव में इस ग्रन्थ के सम्पादन की कहानी उनके सहयोग की ही कहानी है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने ही की है—मैंने तो ग्रंथन मात्र किया है।

आरम्भिक योजना और रूप-रेखा आदि के निर्माण में मैंने श्री जैनेन्द्रकुमार तथा श्री बालकृष्ण राव के सत्परामर्श और सहयोग से लाभ उठाया है—इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

शरद् पूर्णिमा,
संवत् २००७ वि०
दिल्ली।

—नगेन्द्र

क्रम

भाग १

जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व

भाग २

आलोचना

भाग ३

प्रमुख कृतियाँ

भाग १

जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व

अनुज

[श्री मैथिलीशरण गुप्त]

प्रिय नगेन्द्रजी का आग्रह है, मै सियारामशरण के जीवन के सम्बन्ध मे कुछ लिख दूं। यह उनके स्नेह के अनुरूप ही है। परन्तु इधर मै बहुत अलसाने लगा हूँ। कभी दो-चार पद्य लिख देना दूसरी बात है। मेरी दुर्बल स्मृति भी, दैनिकी के अभाव मे, अकेली-सी पडकर असहाय है। मै यह तो नही मानता कि बाह्य दृष्टि से वह काल सुस्मरणीय न होने के कारण मैने स्वय अज्ञातरूप से अपनी स्मृति कृश कर ली है। यह ठीक है कि हमारा परिवार धन से ऋण की दशा मे आ गया था, परन्तु बीते हुए दु ख भी सुखद होते है। तथापि मनुष्य की शक्तियो का क्षय भी शरीर का एक धर्म होता है।

सबसे बढकर तटस्थता का भी मुझ मे अभाव है। जीवन के मिले-जुले प्रवाह मे घटनाएँ आती और बह जाती है। हम दोनों इतने निकट है कि अलग से उन्हे देखना मेरे लिए असम्भव-सा है। उनका सहज होना ही, प्रस्तुत प्रसग मे, मेरे लिए कठिन हो गया है। एक बार स्वय अपने सम्बन्ध मे कुछ लिखने की चेष्टा मैंने की थी; परन्तु काम चला नही। इस असफलता का मुझे कोई खेद भी नही।

सियाराम ने अपनी बाल्य-स्मृति मे जो कुछ लिखा है उसे मैंने अभी फिर एक बार पढा। इसलिए कि उसी से कुछ सूत्र मुझे मिल जाय और उनके सहारे मैं नगेन्द्रजी का आग्रह रख सकूँ। परन्तु जैसा उन्होने लिखा है, मुझे स्मरण नही आता, मैने उनकी कौन-सी प्रारम्भिक रचना ठीक की थी। हॉ, उनकी एक अन्य कविता उन्ही ने 'मौर्य-विजय' के रूप मे अवश्य परिवर्तित करायी थी। मै स्वय उस विषय पर लिखना चाहता था और उन दिनो ऐसे कथानको की खोज मे रहता था।

उनके शैशव का एक स्मरण आज भी मुझे है। उनके पैर मे एक भयानक फोडा हुआ था। जिस दिन उसमे चीरा लगाये जाने की बात थी उसी दिन वह अपने-आप फूट गया। इतनी पीब निकली कि मानो उनका सारा शरीर ही निचुड़ गया। सम्भव है, उसी के कारण उनकी बाढ़ मारी गयी हो। ऊँचाई में वे मेरी अपेक्षा बहुत छोटे रह गये।

जान पडता है उस समय जिस फोडे ने उनका पैर पकड़ा था उसकी पीडा को वे आज भी अपने हृदय मे आश्रय दिये जा रहे है।

अवस्था मे वे मुझसे दस वर्ष छोटे है और विद्या के क्षेत्र मे उतने ही बडे। तीन-चार वर्ष हिन्दी की परीक्षाओ मे, शेष स्वय शिक्षा प्राप्त करने मे। भिन्न-भिन्न समय मे मैने भी कुछ प्रयास किया है। परन्तु निष्फल होने से वह नगण्य ही रहा। फिर भी जब वे अपने छोटों में अपना बडप्पन रखते है तब मै ही उनके बडे होने का अधिकार कैसे छोड सकता हूँ।

साधारण और विशिष्ट जनो के बाल्यकाल की बहुत-सी बाते एक-सी होती है। परिस्थितियो की भिन्नता के कारण उनके परिणाम भिन्न हुआ करते है। अपने कुल के सस्कार भी होते है। इधर बौद्धिक हो जाने पर भी सियारामशरण अश्रद्ध अथवा अभावुक नही।

खेल-कूद की ओर बच्चो की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु अपने अनुज का यह भाग मैंने मानो पहले ही हथिया लिया था। उनका कोई उपद्रव स्मरणीय नहीं। चोट-चपेट उनका काम न था। जैनेन्द्रजी के कथनानुसार उनकी यह न्यूनता उनकी रचनाओं मे भी बनी है। वे आघात नही कर सकते। 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धय.' के अनुसार कही ऐसा तो नही है कि उनके इशारे हमसे अक्लमंदी की आशा करते हो!

जिज्ञासा उनमे पर्याप्त मात्रा मे थी। एक बार हमारा एक मृग-शावक मर गया। उसके सम्बन्ध मे, 'दाऊजू, वो हिन्न काँ गओ' (दाऊजू, वह हिरन कहाँ गया) से आरम्भ करके वे पिताजी से प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगे। अन्त में उसे उठा ले जाने वालो के विषय में उन्होने पूछा—वे उसका क्या करेंगे? पिताजी को यह प्रसंग प्रिय न था। फिर भी, वे किसी प्रकार उत्तर दे रहे थे। इस बार उनकी वैष्णवता क्षुब्ध हो उठी। इसी बीच मेरे बाल्य-बन्धु मुंशी अजमेरी आ गये थे। पिताजी ने उनकी ओर देखकर कहा, "क्यों जी, तुम देख रहे हो, ये हमसे कैसी बातें पूछ रहे है। इन्हे रोकते नहीं हो।" अजमेरी ने हँसकर कहा, "आप ही तो उत्तर दे-देकर इन्हें उत्साहित कर रहे है।" यह कहकर और सियारामशरण को गोद में उठाकर वे वहाँ से खिसक आये।

शारीरिक स्फूर्ति के अभाव मे उनकी कल्पना और भी स्फुरित हो उठी हो तो आश्चर्य नही। सम्भव है, आरम्भ से ही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने उन्हें बाह्य विषयों से विमुख बना दिया हो। मिट्टी के हाथी के पोले पेट में चींटी को बन्द करके वे हाथी को गतिशील भले ही न बना सके हों, हाथी पर चढ़ने का लोभ उन्हें कभी नही हुआ। अब तो उनके निकट उसका कोई महत्त्व भी

नही। बाहर आने-जाने का भी उन्हे वैसा उत्साह न था। अपने मुशीजी वाले लेख मे उन्होने फुसलाकर बाहर ले जाने की बात कही भी है।

मन्त्र-बल से अक्षय भण्डार प्राप्त करने की उनकी चेप्टा भी कौतूहलजन्य ही समझनी चाहिए। मै भी कुछ दिन इस फेर मे रहा था। विशेषकर सरस्वती को सिद्ध करने के स्वप्न मे। इन्द्रजाल नामक लीथो के छपे एक गुटके के पन्ने भी चमत्कारो पर अधिकार प्राप्त करने की आशा से मै उलटा करता था। कहते है, जो जाति पुरुषार्थहीन हो जाती है वह मन्त्र-बल से मायापुरी निर्माण करने की बाते सोचा करती है। फिर भी बच्चो की इस प्रकार की चेष्टा क्षम्य ही समझनी चाहिए।

बचपन मे हम लोग मोतियो के झुमके, जिनका बोझ सँभालने के लिए मोतियो की ही दुहरी साँकले कानो पर चढी रहती थी, पहना करते थे। पैरो मे चाँदी के कड़े, तोडे, हाथो मे सोने के कडे, पोहचियाँ और गले में गोप गुज एव कण्ठे आदि भी समय-समय पर पहना करते थे। सिरो पर मण्डील भी बँधवाते थे। सियारामशरण भी इसके अपवाद न थे। उनका ऐसा कोई फोटोग्राफ भी कही होगा। अब तो मै समझता हूँ, किसी ग्रह-शान्ति के लिए रत्न-विशेष की अँगूठी पहनना भी उनके मनोनुकूल न होगा। घर के लडके भी अब गहनों से मुक्ति पा गये है। कुण्डल गये तो कर्णवेध की बाधा भी उनके साथ चली गयी। हमारे अँगरखो के घेर मे चारो ओर गोटे-पट्टे और पीठ तथा बाँहो पर सुनहले पान-पत्ते टँके होते थे। परन्तु उन कपडो का मूल्य स्यात् उतना भी न होता होगा जितना आजकल लड़के एक कोट की सिलाई दे आते है और थोडे मे बहुत करा लेने का गर्व करते है। हमारे अँगरखों के साथ सुथने भी होते थे, परन्तु वे प्राय कोरे ही रहते थे। उन्हे पहनकर कौन गाँव के लड़कों से यह सुनता कि बीबी के खूसने मे चार-चार चीलर।

मेरे लिए यह चिढाना अभी तक बना है। गत महायुद्ध के दिनो मे कपड़े की कठिनाई खादी के कारण हम लोगो को उतनी नही व्यापी थी। फिर भी मैंने सोचा, धोती की अपेक्षा सुथने मे थोडा कपडा लगेगा। परन्तु उसे पहने देखकर प्रयाग मे महादेवीजी ने हँसकर कहा, "पाजामा पहने आप नेता-जैसे लगते है।" घर आकर मैने अपने सबसे छोटे भाई चारुशीलाशरण से, जो हम लोगो के लिए खादी का प्रबन्ध करते है, कहा, "सुथना नही चलेगा। महादेवीजी रुप्ट होती है।" महादेवीजी ने मुझे नेता तो न बनने दिया, परन्तु कठिनाई हुई उस दिन जिस दिन झाँसी मे अपने प्रदेशपाल किंवा गवर्नर महोदय की पार्टी मे सम्मिलित होने का अवसर आया। मैं उस सौभाग्य से वंचित ही

रह जाता, यदि तत्र भवान् मुझे धोती पहनकर आने की आज्ञा देने की कृपा न करते ।

स्मरण आता है, विद्यारम्भ के प्रारम्भिक दिनो मे एक-दो बार सियारामशरण को पाठशाला तक पहुँचा आने मे मैने उनके अभिभावक होने का अभिमान किया था । मानो मैं स्वय सब-कुछ पढ-पढाकर अब अपने छोटे भाई की देख-रेख मे लगा हूँ ।

उन दिनो प्रारम्भिक पाठशालाओ मे दोनो समय पढाई होती थी। प्रातः-काल अचार के साथ पूरी का कलेवा करके जाना, दोपहर को भोजन के लिए आना और सध्या को छुट्टी पाना । परन्तु तब भी छुट्टी कहाँ थी ? रात को भी पण्डितजी पढाने आते थे । यही क्रम तो सियारामशरण का भी रहा । कलेवे मे हम लोग बहुधा बासी पूरियो का सेवन करते है और वह हमे रुचिकर भी होता है । कहते है, एक बार गुरुदेव के पूरी खाने पर बापू ने उनसे कहा था, "यह तो विष है ।" गुरुदेव ने हँसकर उत्तर दिया, "परन्तु यह ऐसा विष है, जिसका हमारे शरीर को अभ्यास हो गया है ।"

आगे चलकर सियारामशरण उन साप्ताहिक और मासिक पत्रो को भी उलटने-पुलटने लगे जो उन दिनो हमारे यहाँ आया करते थे । विशेषकर 'सरस्वती' के लिए वे बहुत उत्सुक रहा करते थे । अन्य आकर्षणो के साथ उसमे मेरे पद्य भी छपा करते थे, जिनमे से अधिकाश उनको कण्ठस्थ हो जाते थे ।

प्राइमरी पाठशाला की पढाई पूरी करके आगे पढने का सुयोग वे न पा सके । कह नही सकता, इसमे हमारी अर्थकृच्छ्रता कितनी आडे आयी थी । उन दिनो हमारे छोटे कक्का थे, पहले से ही घर का सारा भार उन्ही पर था । वे ऐसी बाधा से हार मानने वाले न थे । तथापि यह ठीक है कि हमारी झाँसी की दुकान का काम-काज बन्द हो गया था । सियारामशरण की देखभाल करने वाला कोई विश्वासी जन वहाँ न था । हाईस्कूल मे उन दिनों बोर्डिंग भी न था । होता भी तो उसमे उनका रखना सम्मानजनक न समझा जाता । जिस स्कूल के बनने मे हमारे घर से अधिक दान दिया गया था, उसमे उनका इस प्रकार रहना कदाचित् हीनतासूचक समझा जाता । इसके पूर्व उस स्कूल में पढने के लिए मैं झाँसी भेजा गया था । परन्तु बहुत-सा धन नष्ट करके कोरा-का-कोरा लौट आया था अथवा लौटा लिया गया था । इस भय से कि शहर की सगति मे कही आगे और भी न बिगड़ जाऊँ । खेल-कूद तक तो कुशलता थी । इस प्रकार, सम्भव यही है कि परोक्ष रूप मे, मै ही अपने अनुज के शिक्षा-लाभ में बाधक बना ।

घर की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यापार के साधन न रह जाने से हम सभी भाई प्रायः बैठे ठाले थे। सियारामशरण साहित्य-सदन की कुछ लिखा-पढ़ी करने लगे। ठाकुरजी की पूजा का भार भी उन्ही पर आ गया। हम लोगो को पान खिलाना भी उनका काम था। इसे अस्वस्थ होने पर भी वे आग्रहपूर्वक बहुत दिनों तक करते रहे।

साहित्य की ओर पहले से ही उनकी प्रवृत्ति थी। साहित्य-सदन का काम भी कितना था। सुतराम् रचना के लिए समय का अभाव उन्हे न था। परन्तु जैसा उन्होने बाल्य-स्मृति मे लिखा है, अपनी पद्य-रचना लेकर वे सीधे मेरे निकट नही आये। फिर भी यह एक ऐसी मिठाई थी जो अकेले-अकेले नही खायी जा सकती थी। यही नही दूसरो को खिलाकर ही इसमे तृप्ति मिल सकती थी। परन्तु भय-सकोच भी थोडा न था। मध्यकाल मे हमारे सगीत और साहित्य की जो दशा हो गयी थी उसे देखते हुए लोग कला की कितनी ही प्रशसा क्यों न करें, कलाकारो के प्रति उनकी वैसी आस्था नही रह गयी थी। जिस पथ मे चरित्र के पतन की आशका हो उसमें कौन गृहस्थ अपने घर के लड़के का जाना ठीक समझेगा। स्वय कलाकार जब उघाडा होकर बाहर नही निकलता तब सहसा अपने मन का आवरण सबके सम्मुख क्योंकर हटा सकता है। अथवा कला एकान्त की ही साधना है। बाहर आये बिना यदि उसकी गति नही तो क्या आरम्भ मे उसे संकोच भी न हो? प्रतिभा जब पागलपन की ही एक अवस्था मानी जाती है तब कौन अकस्मात् उसका प्रदर्शन करने से संकुचित न होगा? अपने कृतित्व की परीक्षा मे उत्सुकता के साथ एक शंका भी रहती है। जो हो, मुझे एक सतीर्थ मिल जाने से संतोष ही हुआ। जितना सहयोग मैं दे सकता था मैंने उन्हे दिया। मेरे लिए इससे अधिक क्या संतोष होगा कि आज वह सहयोग हम दोनों में पारस्परिक हो गया है।

वस्तुतः मेरे सहयोग की सीमा कवित्व के ककहरे तक ही समझनी चाहिए। शीघ्र ही वे गुरुदेव की रचनाओ के सम्पर्क मे आ गये और उनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपना मार्ग निर्धारित कर लिया। यो तो अब भी उनकी रचनाएँ छपने से पहले एकाधिक बार मै पढ लिया करता हूँ; परन्तु मेरे किसी सशोधन अथवा परिवर्तन को मान लेने के लिए वे बाध्य नही। यही उचित भी है।

पद्य के क्षेत्र से आगे बढ़कर उन्होंने गद्य में कहानियाँ और निबन्ध आदि भी लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसमे एक दो सम्पर्कित लोगों से उन्हें जो सम्मतियाँ मिलीं वे आशाप्रद न थी। परन्तु मेरा मन हर्षित और आकर्षित था।

मैंने उनसे कहा, "तुम्हे तनिक भी हतोत्साह होने की आवश्यकता नही। तुम्हारे इन समीक्षको मे एक अपने मन से और दूसरा अपनी बुद्धि से विवश है।"

अब तो उनमे इतना आत्म-विश्वास है कि वे अपने प्रकाशन के व्यवसाय को भी स्वार्थ के साथ परमार्थ का साधन मानते है।

साहित्य-प्रेस की स्थापना के विचार मे भी वे ही अधिक उत्साही हुए। एक क्राउन फोलियो ट्रेडिल लेकर ही कार्य आरम्भ करने की उनकी योजना थी। परन्तु जब मशीन लगाने का निश्चय हुआ तब वह भी मेरा एक व्यसन बन गया। थोडे दिन हुए, उनके पुत्रोपम चि० राय आनन्दकृष्ण ने उनकी उस योजना का औचित्य शारदा-मुद्रण से सिद्ध कर दिया।

यौवन के आरम्भ मे ही सियारामशरण को श्वास का दुर्द्धर रोग हुआ। बीच-बीच मे उनका कष्ट देखकर हम लोग किकर्तव्यविमूढ़ हो जाते है। किन्तु तनिक प्रकृतिस्थ होते ही वे कुछ लिखने-पढने की चेष्टा करते है। इसी स्थिति मे उन्होने अपने आप अग्रेजी का भी इतना अभ्यास कर लिया है कि वे उसके साहित्य का रस ले सकते है। कभी-कभी मुझे भी उसमे से कुछ देते है। बगला तो वे अनायास ही पढने लगे थे। परन्तु उर्दू के विषय मे दाग की वह उक्ति उन पर पूरी-पूरी घटित हुई कि उर्दू खेल नही है, आते-आते आती है। एक बार बापू के निर्देशानुसार उन्होंने उसे सीखना चाहा था परन्तु अचानक रोग का दौरा हो जाने से काम रुका सो रुका। वस्तुत उर्दू की चुलबुलाहट उनके स्वभाव से मेल नही खाती। जो लोग अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का जानना अनिवार्य बताते है, उनकी दृष्टि में वे दयनीय है। इसलिए कि ऐसे लोग हिन्दी का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार करते है।

वे प्राय भूमि पर सोते है। विशेषकर जाडो मे। उनके आस-पास एक ओर कुछ पुस्तकें और दूसरी ओर बहुत-सी ओषधियाँ रहती है। आरम्भ में उन्होंने जलचिकित्सा आदि कितने ही प्राकृतिक उपचार किये। प्राणायाम करने की चेष्टा की और फेफड़ो के व्यायाम के लिए दस-बीस दिन स्वरालाप करते हुए भी मैंने उन्हे देखा। पहले वे सध्या समय घूमने जाते थे। अब आँगन मे टहलकर ही उन्हे सन्तोष करना पडता है।

भोजन-सम्बन्धी प्रयोग वे अब भी किया करते है। इस विषय मे उन्हे कोई विशेष रुचि अथवा आग्रह नही। पहले आम की खटाई उन्होने साग की भाँति खायी है। अब मीठे आम खाने से भी वे डरते है। भोजन की भाँति वस्त्रों मे भी वे साधारण है और खादी का ही व्यवहार करते है। उन्हे खेद है कि वे सूत नही कात पाते। रुई के सूक्ष्म तन्तु उड़-उड़कर श्वास नली मे

जाने से उनके रोग बढने का भय रहता है। वस्तुत. रुई से उन्हे छोटे से ही गिजगिजाहट लगती है। और रुई भरे कपडो की आवश्यकता वे कम्बल आदि से ही पूरी करते हे। तनिक भी भारी वस्त्र ओढकर चलने मे उन्हे कष्ट होता है। वे उसे सँभाल नही पाते। अण्डी की एक चादर से ही काम चलाते है। मैंने हठपूर्वक एक तूस ला दिया। उसका व्यवहार करने मे उन्हे सकोच ही होता है। उनके रोग की अव्यर्थ ओषधि अभी तक नही निकली। प० मोतीलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री किशोरलाल मश्रूवाला, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के अनुभवो से भी उन्हे वैसा लाभ नही हुआ। इधर ओषधियो के विष से उनके शरीर की दशा और भी चिन्तनीय हो गयी है। श्री मश्रूवाला ने उन्हे बम्बई बुलाकर वहाँ उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध कर देने की कृपा की है और इन दिनो वे वही है।

इस स्थिति मे भी लोग उनसे अपने पत्रो के लिए लेख और कविता आदि भेजने के लिए आग्रह करते है और उनकी असमर्थता उनकी व्यग्रता को और भी बढ़ा देती है।

रोग ने उनका शरीर जर्जर कर दिया है, परन्तु उनका मन मानो और भी निखरकर खरा और सतेज होता जान पडता है। वे कभी निराश नही होते। आश्चर्य नही, यदि अपने समय के देशमान्य महानुभावों को भी अपने रोग से ग्रस्त देखकर उसे भी महत्त्व देते हो। प्रत्येक न्यूनता का एक विशेष पक्ष भी होता है, वे उसकी उपेक्षा नही करते। उसे भी बखानते है, खोटे मे भी एक खरा खोजने का प्रयास करते है।

इदानीम् बम्बई की अपनी रोग-शय्या से उन्होने अपने भतीजे श्रीनिवास की जन्मतिथि पर उन्हे असीसते हुए लिखा है—"ऐसी तिथियाँ आत्मचिन्तन के लिए होती है। परन्तु हम प्रायः भटककर यही सोचने लगते है कि हमारी ये आकांक्षाएँ पूरी नहीं हुई और ससार ने हमारी ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया। इसके स्थान पर इस बात का सन्तोष उचित है कि हमे बहुतो से अधिक मिला है, असन्तोष तो इसी का होना उचित है कि हित हमसे उतना नहीं हो पाया जितना होना था। मैं तुम्हे ये बाते उपदेश देने के लिए नही लिख रहा हूँ, इस अस्पताल मे जब मै श्वास की तीव्र वेदना से व्याकुल होता हूँ तब यही विचार शान्ति देते है। मै अनुभव करता हूँ, मुझे जो भयकर पीड़ा होती है उससे भी अधिक पीडित जन यहाँ है, उनकी पीडा की अनुभूति निज की पीड़ा का शमन करती है।"

जिन दिनों हम लोग राजबन्दी के रूप मे कारारुद्ध थे, उन दिनो न जाने

वे कैसे अपनी व्याधि भूल-से गये थे और शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के भार सह गये थे। इस स्थिति मे दुःख के बदले दर्प ही उनमें प्रकट हो गया था।

मैं ठीक नहीं कह सकता, गुरुदेव और बापू दोनों मे वे किससे अधिक प्रभावित हुए। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनके लिखने की शैली अलंकृत भाषा की दृष्टि से गुरुदेव की अनुयायिनी है और उनके भाव बापू के अनुयायी हैं। बापू का सामीप्य तो उन्हें अनेक बार प्राप्त हुआ, परन्तु इच्छा रखते हुए भी वे शान्तिनिकेतन नही पहुँच सके। उन्हे इसका दुःख अब भी है।

उस बार हिन्दुस्तानी सम्मेलन मे आहूत होकर वे वर्धा गये थे। सम्मेलन के उनके अनुभव अच्छे न थे। परन्तु वे वस्तुत बापू के लिए ही वहाँ गये थे। अतएव उनकी यात्रा सफल थी। अन्तिम दिन चलने के पूर्व जब वे बापू को प्रणाम करने गये तब वहाँ नन्दिनी नाम की एक बालिका को थपथपाकर उन्होंने उससे कहा—बेटी नन्दिनी, अब बापू तेरा नाम खुशहाली रखने जा रहे है। इसे सुनकर उनकी ओर मुष्टि प्रहार का अभिनय करते हुए बापू हँस पडे।

इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन मे भी वे वर्धा से ही बापू के साथ गये थे। एक दिन वहाँ का कृषि-विभाग देखने भी गये। जहाँ खाद बनाया जाता था, वहाँ पहुँचकर उन्हे ऐसा जान पडा, मानो हम नरक मे आ गये है। उनका कहना है, कई दिनो तक वहाँ की दुर्गन्धि हम लोगो के माथों मे छायी रही। परन्तु बापू का एक बार नासा सकोच भी नही हुआ! इन्द्रियों पर उनका यह अधिकार अद्भुत था। इसी प्रसग मे उन्होंने एक घटना और भी सुनायी थी। वहाँ सेठ हुकमचन्दजी ने बहुत-से लोगो को भोजन का निमन्त्रण दिया था। सबके लिए चाँदी के थाल कटोरे आदि तो थे ही, बा और बापू के लिए सोने के थाल सजाये गये थे। जब बापू अपनी मण्डली के साथ वहाँ पहुँचे तब दिखाई पडा सेठजी ससभ्रम कह रहे थे 'अरे लाओ रे!' कक्ष मे प्रविष्ट होते-होते बापू ने हँसकर कहा—क्या सोफे पर बिछाने के लिए खादी? इसी समय सचमुच एक सेवक एक खादी का टुकड़ा लिये वहाँ आ पहुँचा। सियारामशरण को लगा, एक ओर इतना वैभव और एक ओर टुकड़े का ऊहापोह! सेठजी के खादी बिछाने के पहले ही बापू मखमली सोफे पर बैठ गये; परन्तु भोजन उन्होने सोने के थाल मे स्वीकार नही किया। अगत्या मीरा बहन को उस पर बैठाया गया। अन्त मे सेठानीजी गुड परोसने आयी। सेठ हीरालालजी ने सियारामशरण से कहा—"ये हमारी माताजी है।" सबने प्रसन्नतापूर्वक वह प्रसाद ग्रहण किया।

सियारामशरण की इच्छा रही है कि कुछ बालको को लेकर उन्हे रचनात्मक शिक्षा देने के लिए एक छोटी-सी सस्था चलायी जाय। इसके लिए उपयुक्त स्थान की बात भी उन्होने सोची। परन्तु उनके स्वास्थ्य ने साथ न दिया। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कुछ दिन पहले यहाँ के गणेशशंकर हृदय-तीर्थ का शिलान्यास करने के लिए कृपापूर्वक प० जवाहरलालजी आये थे। तब पडितजी से भी उन्होने कहा था कि कुछ युवको को अपने आदर्श के अनुरूप शिक्षित करने का समय आप निकाल सके तो बडा अच्छा हो। पडितजी सुनकर मुस्करा गये। वे पहले ही बहुत व्यस्त थे। यह तो भावी पीढ़ी का काम है कि उनका आदर्श अपनाकर उसकी रक्षा करे!

महायुद्ध के समाचारो मे रेडियो द्वारा दोनो ओर से बमबारी का बखान सुन-सुनकर सियारामशरण के मन मे जो प्रतिक्रिया हुई उसी का परिणाम उनका 'उन्मुक्त' है। जिस सामूहिक हत्या के लिए दोनो पक्षो को लज्जा होनी चाहिए थी, उसी पर वे घमण्ड करते थे। वह भी विश्व-शान्ति के नाम पर। अपने 'नकुल' काव्य में सियारामशरण ने जो लिखा है वह भी इस प्रसग मे स्मरणीय है .

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझे स्वयमपि जो विष मे।

बिना अभियोग-आघात किये उदात्त भावो की अभिव्यक्ति किस प्रकार हो सकती है, 'नकुल' के युधिष्ठिर में मानो इसका प्रमाण उन्होंने दिया है। औद्धत्य की अपेक्षा विनय मे निजत्व की रक्षा कठिन होती है। 'नकुल' मे मनुष्य की उदार परम्परा की अक्षयता का अपना विश्वास भी उन्होने प्रकट किया है। परन्तु कुबेर के सेवक का जो चित्रण उन्होंने किया है उसमें एक स्थान पर उनसे मेरा मतभेद रहा है।

देश मे इतनी बड़ी घटना घट गयी, हम लोग परचक्र मे पिसने से मुक्ति पा गये और भारत स्वतन्त्र हो गया। परन्तु हमने उसका महत्त्व नही समझा। इससे उन्हे पीड़ा होती है कि अपना कर्तव्य निभाना तो दूर, हम अपने अधिकारी नेताओं पर उलटा व्यग्य विद्रूप करते है। उनके मत मे कठिनाइयाँ स्वाभाविक है। आगे चलकर वे स्वयं दूर हो जाएँगी। हमारी दासता के दोष मिटते-मिटते मिटेंगे। जो लोग स्वय कुछ नही करते अथवा जो अपनी ही घात में रहते है वे ही दूसरों के द्वारा हथेली पर उगायी सरसो देखना चाहते है। स्वार्थी, व्यवसायी और राज्य के सेवक जब ऐसी-वैसी बाते करते है तब बहुधा वे उत्तेजित हो उठते हैं। वे बहुत विनीत है परन्तु अपनी बात कहने का

साहस उनमे है। एक बार किसी प्रसंग मे सहसा वे मुझसे कहने लगे, "तुम तो कभी-कभी बापू के विरोधी पक्ष के स्तर पर उतरकर बोलने लगते हो।"

श्री सुभाषचन्द्र बसु जब उत्तर प्रदेश मे दौरे पर चिरगाँव पधारे थे, उसके कुछ ही पहले बगाल मे गाधीजी के साथ दुर्व्यवहार किया गया था। अपने स्वागत-भाषण मे सियारामशरण ने सुभाष बाबू से उसका प्रायश्चित्त करने की माँग की थी। उनके उस भाषण की उन दिनो बहुत चर्चा हुई थी। कुछ लोगो ने उसे मेरा भाषण समझ लिया था। मै उन दिनो काशी मे था। एक दिन एक सज्जन ने मार्ग मे भेंट हो जाने पर मुझसे कहा, "अरे गुप्तजी आप कब आ गये ? अभी तो चिरगाँव मे सुभाष बाबू का स्वागत-भाषण पढ़ रहे थे।" मेरे बड़े होने का यह लाभ था और सियारामशरण का छोटे होने का त्याग।

दिल्ली के बिरला-भवन मे, जहाँ बापू की हत्या हुई थी, वे जिस भाव से गये थे उसके विपरीत बातें देखकर उन्हें बडी चोट लगी। श्री घनश्यामदास बिरला से इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा-पढी की। उनकी आशा के विरुद्ध घनश्यामदासजी ने उनकी सद्‌भावना इस रूप मे ग्रहण की कि अपने नाम लिखे गये उनके पत्रो के प्रकाशन की अनुमति भी उन्होने नही दी। अपनी 'अजलि और अर्घ्य' नाम की रचना मे बापू की निधन-भूमि के विषय में भी मैंने दो पक्तियाँ लिखी थी। मै समझता था इससे सियारामशरण को सन्तोष होगा परन्तु उन्होने उस पद्य को न रखने के लिए कहा। उनकी भावना होगी कि हमारा श्राद्ध-कर्म क्षोभ-रहित होना चाहिए। परन्तु जहाँ गोडसे का नाम लेना पड़ता है, वहाँ बिरला-भवन का नाम क्यो नही लिया जा सकता। फिर भी वह पद्य निकाल लिया गया।

वे नये विचारो से कभी नही घबराते। उनका स्वागत करके उनसे परिचित होने के लिए प्रस्तुत रहते है। फ्रायड के मनोविज्ञान के विषय मे भी उन्होने थोडा-बहुत पढ़ा है। और अपने सम्बन्ध मे उसकी कुछ बाते मिलती हुई पाकर वे उससे प्रभावित भी है। एक दिन वे अपने एक मान्य बन्धु से इसी विषय पर उत्साहपूर्वक चर्चा कर रहे थे। वे बन्धु भी फ्रायड के एक प्रेमी पाठक थे। उन्होने कहा, "एक बार रात को सोते समय मुझे पीने को जो दूध मिला उसमे शक्कर के स्थान पर नमक पड़ा था। इसका कारण मेरी समझ मे यह आया कि मेरी गृहिणी मुझे शक्कर नही देना चाहती थी। इसलिए बिना जाने ही उन्होने शक्कर के स्थान पर नमक लेकर दूध मे डाल दिया।" इस सूक्ष्म विश्लेषण पर मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा, "बधाई है तुम्हें, इस मनोविज्ञान

पर !" मेरे बन्धु पर्याप्त हृष्ट-पुष्ट है और उन्हे मधुमेह-जैसा कोई रोग भी नहीं है। शक्कर भी उन दिनो ऐसी दुष्प्राप्य न थी।

मेरे इष्ट-मित्रों से उनका व्यवहार मेरे सम्बन्ध के अनुरूप रहता है। जिन्हे मै अपना बडा मानता हूँ उनका तो कहना ही क्या ! जिनसे मेरा समानता का व्यवहार रहता है उन्हे भी वे अपना बडा मानते है और मेरे छोटो से समानता का व्यवहार करते है। मतभेद होने पर भी उनसे कोई असन्तुष्ट नही रहता। जैनेन्द्रजी जब यहाँ आते है तब मै चाहता हूँ दोनो की लडाई हो और मै कौतुक देखूं !

कविता के सशोधन लेकर ही नही, अन्य बातो मे भी मेरे और सियारामशरण के बीच मतभेद हो जाता है और यदा-कदा विवाद भी। निरन्तर एक साथ रहने से ऐसा होना स्वाभाविक है। किन्तु वे मुझसे इतने कभी नही झगड़ते जितना मैं स्वय अपने अग्रज से लड बैठता हूं। व्यवहारत भरसक वे मेरे मतानुकूल ही चलना चाहते है, यद्यपि पूछने पर अपना मत भी नही छिपाते। आर्थिक विषयो में वे अपनी रुचि नही दिखाते।

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्

वाक्य की विद्या वाली चिन्ता उन्होने अपने लिए चुन ली है, अर्थ वाली हम लोगों पर छोड दी है। धन-सन्तान की वृद्धि का आशीर्वाद ही बडा आशीर्वाद माना जाता है। उसके अनुसार उक्त बन्धु-जैसे विचारक औरस सन्तान के अभाव के कारण ही धन के प्रति उनकी उदासीनता मान सकते है। परन्तु इसके विपरीत अगणित प्रमाण दिये जा सकते है। वास्तव मे लोगों की सहज प्रवृत्तियाँ ही उन्हें परिचालित करती है।

उन दिनों की रीति के अनुसार छोटी ही अवस्था मे सियारामशरण का ब्याह हुआ था। उनके श्वसुर लखपती तो थे ही, उस कन्या के पश्चात् उनको और कोई सन्तान नहीं हुई। वे चाहते तो सहज ही हमारा उपकार कर सकते थे। परन्तु धन तो हमारे हाथ न रहकर हमारे उत्तमर्णो के हाथ चला जाता। अन्त में जिस लडके को उन्होने गोद लिया था वह तो अब नही है, परन्तु उसके दो पुत्र हैं और हम लोगो से उनका सौमनस्य भी है।

हमारे एक मित्र अपने दुर्दिनो की बात सुनाते थे। आषाढ ऊपर था और उनका बैल अचानक मर गया। उनके श्वसुर धनी थे। वे वृद्ध भी थे और एकाकी भी। परन्तु हमारे मित्र की दस-बीस रुपये की सहायता भी उन्होंने नहीं की। भले ही कुछ दिन पीछे स्वयं उन्हे बुलाकर अपना सेरो चाँदी-सोना सौप दिया और अपनी जमींदारी आदि भी उनके पुत्र के नाम कर दी। पॉच-

सात वर्ष पूर्व मेरे एक भतीजे चि० सुमित्रानन्दन को भी अपने मामा का एक गाँव मिला था, परन्तु हमारा सकट तो प्रभु की कृपा से ही कटा।

सियारामशरण को कई बच्चे हुए परन्तु कोई भी न रहा। मेरी 'नक्षत्र निपात' और 'मेरे आँगन का एक फूल' नाम की रचनाएँ उन्ही के दो बच्चों के सम्बन्ध मे लिखी गयी थी। उनमे से एक बच्चा अब भी दौडकर मुझे अपनी ओर आता दिखाई पडता है। अन्त मे उनकी स्त्री भी न रही। उस समय उनकी अवस्था इतनी न थी कि वे दुबारा दारपाणिग्रहण न कर सकते। परन्तु वे सहमत न हुए। उनकी बाधा-व्यथा का विचार करके हम लोग भी आग्रही न हो सके। उनकी रचनाएँ ही उनकी सन्तति है। और आक्रोश करने से क्या?

घर मे लडके-बच्चे उन्हे बापू कहते है। आगे अपने राष्ट्रपिता के नाम-साम्य की नाममात्र की यह महत्ता भी उनके मन को प्रभावित करती रही हो तो यह असम्भव नही।

शैशव मे हम सबने पिताजी से रामचरितमानस की नाम-महिमा और 'नीलाम्बुजश्यामलकोमलागम्' आदि कुछ सस्कृत श्लोक सीखे थे। सियाराम-शरण ने एक बात और न जाने कहाँ से सीख ली थी। वे कहा करते थे, "हम तो गुफा मे बैठकर तपस्या करेंगे।" हमे लगता है, वे वही कर रहे है!

भैया का गृहस्थ-जीवन

[श्री चारुशीलाशरण गुप्त]

झाँसी और कानपुर के बीच मे कानपुर वाले मार्ग पर बडागाँव नाम का एक गाँव है। वहाँ देवकीनन्दन कारेखिमऊ की एक मात्र सन्तान केशरबाई के साथ धूमधाम से भैया का, उस समय के अनुसार, बालविवाह हुआ था। कानपुर के कारीगरो ने आकर आतिशबाजी और फुलवारी बनायी थी; बडागाँव के दारोगा ने अपनी शान दिखाने के लिए बारूद निश्चित स्थान से हटवाकर अलग लगवा दी थी। बरात के साथ पिताजी जब वहाँ पहुँचे तब खिन्न हुए; उन्होने उसे फिर पूर्व-निश्चित स्थान पर लगवा दिया और बेचारा दारोगा कुछ न कह सका। बरात मे झाँसी के कुछ अधिकारी भी आये थे। यो यह वह समय था जब गाँव का दारोगा गवर्नर से न्यून नही होता था।

भैया के ससुर अच्छे धनी गिने जाते थे। तीन-चार गाँवो मे उनकी ज़मींदारी भी थी। सोना-चाँदी भी यथेष्ट था। उनका विचार था कि विवाह के कुछ दिन पश्चात् जमाई को अपने ही यहाँ रख लेगे। परन्तु यह उनका भ्रम ही था। अर्थ के लोभ पर हमारा सम्मान ही विजयी रहा। अन्त में मरने से कुछ पूर्व निराश होकर वे एक लड़के को अपना उत्तराधिकारी बना गये।

उनकी विधवा दुःखित भी रही, परन्तु जो होना था वह हो चुका था। वे चाहती थी कि बीच-बीच मे भैया वहाँ जाकर रहे। एक दिन उन्होंने अपने किसी जन से सन्देश भेजा कि भैया थोडी देर के लिए ही हो जाएँ। उन दिनों नौ मील जाने के लिए साइकिल ही ऐसा साधन था जिससे जाकर शीघ्र लौटा जा सकता था। भैया प्रातःकाल डाक लेने स्वय जाया करते थे। एक दिन डेढ़ दो घण्टे लेट होकर डाक मिलने वाली थी। इस बीच वे साइकिल से ससुराल पहुँचे। सास की प्रसन्नता स्वाभाविक थी। उन्होने प्रेम से कुछ खिला-पिला कर अन्त में कहा—'मैं तुम्हे कुछ दे सकूँ, देना चाहती हूँ, उससे तुम कोई व्यवसाय करोगे तो मुझे सन्तोष होगा। मेरे पास अपना धन बहुत नही है, पर तुम उसे अस्वीकार न करना।'

उनके उक्त प्रस्ताव के उत्तर में भैया ने घर के गुरुजनों की अनुमति लेकर उसे स्वीकार कर लिया। प्रथम बार सन् १९१० के प्रारम्भ मे प्रयाग प्रदर्शनी मे ट्रेडिल मशीन पर छपाई होती उन्होने देखी थी। वही से प्रेस करने का निश्चय उनके मन मे आया था। अतएव अनेक वर्ष के शुभ संकल्पित प्रेस की स्थापना के अपने पवित्र कार्य का, उनकी अर्पित धन-राशि से, भैया को श्रीगणेश करना उपयुक्त और रुचिकर जान पडा था। चिरगॉव जैसे छोटे-से गॉव मे मुद्रण-प्रकाशन-सम्बन्धी भविष्य की कठिनाइयॉ कम करने मे उनके इस कार्य के सूत्रपात ने विशेष रूप से सहायता पहुँचायी।

ट्रेडिल मशीन देखकर प्रेस खोलने के निश्चय के प्राय: दो-तीन वर्ष पूर्व का भैया का एक प्रसंग स्मरण आ रहा है। अपने पडोसी स्वर्णकार सुहृद के साथ छपाई के काम आने वाले अक्षर की, सीसे की, विपरीत आकृति बनाने के प्रयोग मे वे एक दिन तल्लीन थे। अक्षर के विपरीत आकार का उभार स्पष्ट हो सका है क्या, चर्चा-मध्य मेरे आ पहुँचने पर सहयोगी मित्र से सकेत से, "देखो, चारुशीला", कहकर उन्होंने वह परीक्षण अविलम्ब ओट मे पहुँचा दिया था। अपने बाल्य स्वभाव के वशवर्ती होकर सीसे के अक्षर ढालने के परीक्षण के इस रहस्य को गुरुजनो के समक्ष मै कही प्रकट न कर दूँ, ऐसी आशका उन्हे उस समय रही होगी। उनके इस प्रयोगात्मक प्रसग का स्मरण आने पर यह लगता है कि प्रेस खोलने का विचार सन् १९१० की प्रयाग-प्रदर्शनी देखने के पूर्व ही से शायद उनके मन को आलोडित करता रहा था।

हमारी भाभी काम-काज और व्यवहार-बर्ताव में भी कुशल थीं। ये गुण उनमे जन्मजात थे, शिक्षा-जन्य नही। वे हम लोगो को बड़े स्नेह से परोसकर खिलाती-पिलाती थी। सन्ध्या समय अवकाश देखकर भैया के निर्देशानुसार मै उन्हे अक्षराभ्यास कराने का प्रयत्न करता था। अटक-अटककर स्कूल की प्रारम्भिक पुस्तके ही वे पढ़ सकी। परन्तु स्त्री-शिक्षा का वैसा वातावरण न होने से पढ़ाई का काम आगे न बढ सका। भैया भी उन्हे पढ़ाते तो कैसे, जब घर की काकियों और भाभियों की उपस्थिति मे अपनी पत्नी के हाथ से भोजन परोसवाना और उनसे सम्भाषण करना पुरानी परम्परा के अनुकूल न था।

हमारे एक सम्मान्य नागरिक अपने घर की स्त्रियो के साथ आकर हमारे यहाँ ठहरे थे। सवेरे भाभी ने स्त्रियो के पास जाकर उनसे कहा, 'उठिए, निस्तार करके पहले जलपान कर लीजिए।' अतिथि की स्त्री शौच जाने के अर्थ मे 'निस्तार' शब्द सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुई। भाभी ने कहा—'हम लोग तो गाँव के वासी है, आपके समान कैसे बोल-बतिया सकते है।' परन्तु आज भाभी

होती तो देखती कि हम लोग भी अपनी गाँव की भाषा को भूलते जा रहे है और न ग्रामीण ही रह जाते है, न नागरिक ही हो पाते हैं।

सन् १९०५ मे रामनवमी के दिन हमारी माताजी का देहान्त हुआ था। हम सब लोग उनके निकट थे। भैया को इस बात की भी पीडा हो रही थी कि माताजी का ध्यान हम लोग अपनी-अपनी ओर आकर्षित करके उनकी शान्ति मे बाधक तो नही हो रहे है।

प्रात कालीन प्रथम सूर्य की किरणों के साथ भैया को छीको की एक लडी-सी आती रहती थी। हमारी मझली काकी को इससे उनके भावी रोग की आशका होती थी। वैसे तो हमारी मझली काकी एकाकी स्वभाव की थीं, परन्तु रोगदोष मे वे बहुत ही ममता के साथ हमारी सेवा-सँभाल किया करती थी। भाभी मे भी यह गुण था। मुझे भयकर रूप मे टाइफाइड हुआ था, तब स्वय अस्वस्थ होते हुए उन्होंने मेरी बडी परिचर्या की थी।

अपने माता-पिता के साथ वे वृन्दावन की तीर्थयात्रा पर गयी थी। वहाँ के एक सरोवर में स्नान करते हुए उनका पैर फिसल गया और वे पानी मे डूब गयीं। कोलाहल होने पर एक साधु ने कूदकर किसी प्रकार उनका उद्धार किया। फिर भी पेट मे पानी भर जाने से उनके जीवन की आशा न रह गयी थी। उपचार से प्राण तो बच गये, परन्तु जीवन-व्यापी रोग उनके फेफडो मे बस गया।

उनके यथाक्रम चार बच्चे हुए और अन्त मे एक लडकी हुई थी, परन्तु कोई भी न जिया। अन्तिम बालक कोई तीन वर्ष की आयु तक जीवित रहा। यह परिवार और परिवार के बाहर भी बहुतो का वात्सल्य-भाजन रहा। दद्दा की 'पुष्पाजलि' नाम की कविता उसी की मृत्यु पर लिखी गयी थी। 'नक्षत्र-निपात' रचना उसके बड़े भाई के निधन पर लिखी गयी थी जो डेढ-दो वर्ष की आयु मे ही चल बसा था। उक्त दोनो रचनाओं का हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे अपना एक स्थान है।

भाभी को अन्त मे क्षय हो गया था। उपचार से पहले तो वे स्वस्थ होती हुई-सी जान पडीं परन्तु १९२२ की जाड़ो की एक रात मे बोलते-बोलते उनकी मृत्यु हो गयी। भैया ने ऊपर तो अपना दु.ख प्रकट नही किया, परन्तु 'विषाद' काव्य-रचना से उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

अपनी दिल्ली की इस अन्तिम यात्रा पर जाते हुए भैया ने मुझसे उनकी निधन-तिथि पूछी थी और कोई बात इस सम्बन्ध में उन्होने मुझसे नही की।

भाभी की मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्तिम सन्तान तीन वर्ष की आयु की उर्मिला बेटी एक वर्ष तक और जीवित रही। वह बडागाँव में थीं। जिस दिन भैया झाँसी से चिरगाँव आ रहे थे, बीच मे एक रात वहाँ रुक गये थे। भैया को देखकर बेटी अत्यन्त हर्षित हुई थी। बीमार न थी, किन्तु दूसरे दिन भैया जब चिरगाँव लौट रहे थे उसी समय बेटी ने प्राण छोड दिये। घटना ने भैया को मर्माहत किया। 'आर्द्रा' नामक उनकी काव्य-पुस्तक मे बेटी को लक्ष्य करके जो कारुणिक कविता 'हूक' पाठक पढेगे, उससे उनके उस आकस्मिक दु ख की अनुभूति स्वय उन्हे होगी।

सियारामशरणजी के व्यक्तित्व-सूत्र

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०]

श्री सियारामशरणजी से कई वर्ष हुए मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ और वह निरन्तर गाढा होता गया। मै साहित्य-सदन मे श्री गुप्तजी से परिचित होने गया था। उसी तीर्थ-दर्शन की साहित दक्षिणा मे मुझे सियारामशरणजी प्राप्त हुए। झबरे बालो से ढका हुआ चौडा सिर, ढलवॉ ललाट के नीचे दो चमकते नेत्र, मुस्कराता बदन, सॉवला रग, मँझली अगलेट और रोगो से जूझते हुए भी परास्त न होने वाला शरीर का ठाठ—यही सियारामशरणजी हैं, जो प्रथम दर्शन मे टकसाली साहित्यिक की अपेक्षा परिचित आत्मीय से अधिक जान पड़ते है।

उनकी बाल-सुलभ सरलता, हँसतामुखी रहन-सहन, बहुमुखी रुचि एव दूसरों के साथ गहरी आत्मीयता मे बँधने की क्षमता ने आरम्भ से ही मेरे मन पर बहुत प्रभाव डाला। वे वार्तालाप मे रस लेते है, कवि और उपन्यासकार का भावुक हृदय सचाई से मित्रों के सामने उँडेल देते है, मतभेद प्रकट करने में भी सौम्य स्थिति से नही हटते।

प्राचीन के प्रति वे आस्थावान् है, साथ ही नूतन के प्रति उनके हृदय मे स्वागत का भाव है।

नर की प्रतिष्ठा के वे भक्त हैं और मानवोचित गुणो की व्याख्या और जीवन में उनकी प्राप्ति को ही वे व्यक्ति और समष्टि का ध्येय मानते है।

साहित्य उनके जीवन में रम गया है। पारिवारिक सुख में फैलने वाले रस-तन्तु उनके लिए साहित्य की कृतियों मे भर गये है। यही रस-धारा उनको मानो जीवित रखती है।

चिरसाथी के रूप मे मिले हुए श्वास-रोग से उन्होंने एक प्रकार का समझौता कर लिया है, ऐसा लगता है कि उसका अवसाद उनकी बलवती प्राणधारा से पराजित होकर ही उनके अनुभव तक पहुँचता है।

साहित्य-सदन के उस विशाल प्रागण में जहाँ श्रद्धेय मैथिलीशरणजी के लिए दैवी विचारों के अनेक विमान उतरे हैं, सियारामशरणजी एक वरदान की

तरह हैं जो अपनी उपस्थिति-मात्र से उस स्थान के आनन्दी निर्झर को सतत प्रवाहित रखते है। राम के चिरबन्धु लक्ष्मण की तरह उनकी सार्थकता है। गुप्तजी-रूपी वटवृक्ष की सन्निधि मे पनपने पर भी उनका अपना व्यक्तित्व है जो उनकी बहुविध साहित्यिक कृतियों में प्रकट होता रहा है।

गाधी-विचार-धारा का उन पर प्रभाव पड़ा है। अथवा कहना चाहिए कि युग-पुरुष की वाणी को भली प्रकार हृदयंगम करके उसे पल्लवित व्याख्या के साथ उन्होंने साहित्य मे पिरोया है।

भारतीय लोक-जीवन की जो चिर-प्रतिष्ठा है, उसको अनुप्राणित करने वाले जो चरित्र के गुण है, जिनकी सूची वाल्मीकि ने अपने काव्य के आरम्भ मे ही बतायी है, एवं इस देश की संस्कृति मे जो उदात्त और तेजस्वी जीवन-तत्त्व है, उनमें सियारामशरणजी का मन रमता है। अपने साहित्य की यह पृष्ठभूमि जनपदो मे बसने वाले जन-जीवन से उन्होने प्राप्त की है।

मेरी बहुत दिनो से यह अभिलाषा रही है कि अग्रेजी लेखिका जैन आस्टन ने अंग्रेजी देहातो के जनपदीय जीवन का जैसा अमर चित्र खीचा है, वैसा चित्र भारतीय जन-जीवन का भी किसी हिन्दी-लेखक की कृपा से हमें साहित्य में मिलता। सियारामशरण के 'नारी' उपन्यास को पढ़कर कुछ उसी प्रकार का सन्तोष मुझे प्राप्त हुआ था।

हर्ष की बात है कि सियारामशरणजी की साहित्यिक वेदी अभी निरन्तर प्रज्वलित है। अभी उन्होने गीता और उपनिषदो के अनुवाद में मन लगाया है। आशा है, उनकी साहित्यिक गगा के तट नये-नये तीर्थों से यशस्वी बनेंगे।

भैया

[डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी]

ओ दुःसह, तेरी दुःसहता, सहज सह्य हमको हो जाय।
तेरे प्रलय घनो की धारा निर्मल कर हमको धो जाय।
अशनि-पात में निर्घोषित हो
विजय-घोष इस जीवन का;
तड़ित्तेज में चिर ज्योतिर्मय
हो उत्थान-पतन तन का।
बन्धन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलो का,
तेरी उच्छृंखल वन्या में
पागलपन हो इस मन का।
निजता की संकीर्ण क्षुद्रता तेरे सुविपुल में खो जाय;
ओ दुःसह, तेरी दुःसहता, सहज सह्य हमको हो जाय।

[पाथेय]

जिसने श्री सियारामशरण को भयकर रोग से जूझते हुए भी सदा-अम्लान सदा-प्रशान्त सहज रूप मे नही देखा वह इस कविता का भाव बहुत थोडा ही समझ सकेगा। मैंने पहली बार उन्हें दिल्ली की एक साहित्य-सभा मे देखा था। उनकी कविताओं का थोडा आस्वाद मुझे पहले मिल चुका था। परन्तु उनका व्यक्तित्व स्वय किसी मनोहर काव्य से कम आकर्षक नहीं था। अत्यन्त सरल स्वभाव और अत्यन्त मर्मभेदिनी तीक्ष्ण दृष्टि—प्रथम दर्शन में ये दो बाते ही दर्शक पर अपना प्रभाव डालती है। उनके समूचे व्यक्तित्व मे कही बनावट या कृत्रिमता नहीं है! सहज-सारल्य की तो वे प्रत्यक्ष मूर्ति है। एक बार दिल्ली की बड़ी सड़क पर हम लोग—मैं, श्री सियारामशरण और श्री चारुशीलाशरण जा रहे थे। भाई चारुशीलाशरणजी सियारामशरणजी को 'भैया' कहते थे और यह अत्यन्त प्यारा और घरेलू सम्बोधन मैंने उन्ही से सीख लिया था। जवाब में 'भैया' ने भी मुझे 'भैया' कहना शुरू कर दिया था। लेकिन असली

भैया तो वे ही थे। सो, हम तीनो सध्या समय दिल्ली के प्रशस्त राजमार्ग पर जा रहे थे। तीनों गाँव के रहने वाले गँवार। 'भैया' तो चिरगाँव के रहने वाले 'चिर-गँवार'! रास्ता भूल गये। किसी से पूछना चाहिए था। एक नवदम्पति अपने नवजात पुत्र को गाडी मे ठेलते, बाते करते जा रहे थे। भैया ने लपक-कर उनसे ही रास्ता पूछा। मैने कहा—भैया, यह काम अच्छा नही हुआ। दम्पति जब इस प्रकार बाते करते जा रहे हो तो उन्हे छेडना शहर मे अनुचित माना जाता है। आधुनिक शिष्टाचार का ध्यान हमे रखना चाहिए था। मैंने यह बात विनोद मे कही थी लेकिन शिष्टता और सरलता की मूर्ति 'भैया' को लगा कि यह बुरा हुआ। पहले तो बोले कि नही इसमे हम लोगो से क्या अशिष्टता हुई है? पर बात उनके मन मे जमी रही। अन्त मे 'अज्ञेयजी' को आधुनिक शिष्टाचार का विशेषज्ञ समझकर पंच बनाया गया और जब उन्होने भैया के थोडा अनुकूल निर्णय दिया तब जाकर उनके चित्त से कलक दूर हुई। भैया वैसे सरलता के अवतार है फिर भी मै उन्हे 'सरल' नही कह सकता; क्योकि इस सरल-सौम्य व्यक्ति की आँखे इतनी भेदक है कि वह कठिन-से-कठिन प्रश्नो के कठोर-से-कठोर आवरण को तोडकर उनके भीतरी रहस्यो को आसानी से देख लेती है। श्रद्धा और समीक्षण शक्ति उनके सहजात गुण है। शब्दों के तोड-मरोड और आटोप-सटोप से उन्हें नही भुलाया जा सकता, ऊपरी तडक-भडक से उन तीक्ष्णदर्शी आँखो को नहीं चौधियाया जा सकता। पता नही ये दोनों गुण किस प्रकार उनमे एकत्र वास कर रहे है। अपना सहज वैर भूलकर कैसे वे एक ही आश्रम मे स्थित है। शायद यह पूर्व-जन्म की किसी तपस्या के फल हो, शायद गुप्त-कुल की अपनी विशेषता हों या फिर शायद कठोर दुःख के भीतर से छनकर आयी हुई अद्भुत धैर्य-निष्ठा का प्रसाद हो। शायद तीनों का ही यह सम्मिलित परिणाम है। इस व्यक्ति को मैं सरस नहीं कह सकता। 'अहि-मयूर' 'मृगबाघ' को एक साथ नचाने वाला निपुण जादूगर है। वस्तुतः भैया सहज है, सरल नही। सरलता एकांगी होती है, सहजता सब-कुछ को आत्मसात् करने के बाद सबके निर्गलित रस का मधुर परिपाक है। वह तपस्या से प्राप्त होती है। कबीरदास ने एक बार झल्लाकर कहा था—

सहज-सहज सब कोई कहैं, सहज न चीन्हें कोइ।
जिन सहजै बिषया तजी, सहज कही जै सोइ॥

मेरे एक असाहित्यिक समझे जाने वाले मित्र ने मुझसे एक बार प्रश्न किया कि वह क्या बात है जो सियारामशरणजी मे इतनी मधुरता बनाये रखती है। उनका श्वास-रोग बडा कठिन रोग है; शरीर अत्यन्त शीर्ण, फिर

भी मन मे कही तिक्तता नही, व्यवहार मे कही कटुता नही, स्वभाव मे कही कठोरता नही। कोई बात ऐसी ज़रूर होनी चाहिए जो उन्हे सदा सरस, सदा उदार बनाये हुए है। कोई एक अदृश्य रसस्रोत, किसी कठोर विश्वास-शिला पर स्थित अमर निर्झर, कुछ तो होना ही चाहिए।

एक बार एक दुर्बल तपस्वी—अतेज, असम्बल—पशुत्व से लडने चल पडा। पशुता भयंकर थी। तपस्वी निस्सहाय था। फिर क्या—

देर लगती क्या कालधूममुखी ज्वालाएँ
होकर लयंकरी करालाएँ
आ गयी समीप वज्रवेग भरीं
जाने किस क्रूरता के हर्ष मध्य हहरीं!
आगे बढ़, पीछे हट, खेल-खेल
हिंसा का प्रमत्त भार झेल-झेल
निगल गईं वे उसे हन्त एक छिन में;
अन्त हाय, अन्त एक छिन में!

बिलकुल स्वाभाविक बात है। सियारामशरण के अन्तर्यामी कवि ने ऐसा बहुत देखा है। पर इससे क्या पशुत्व को ही बडा मान लिया जाय!

कवि रे, अरे क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर तार सभी ढीले ये?
कैसी किस वेदना व्यथा से है व्यथित तू?
उर में अशान्त उन्मथित तू?
वायु का प्रवाह रुका तेरे धरातल में
ज्योति म्लान-सी है नभस्तल में
देख यह ऐसा अन्त?

कवि को क्षण-भर के लिए इस मर्मन्तुद घटना से अभिभूत होना पड़ा है। पर यह अस्थायी प्रतिक्रिया है। यह उसका विश्वास नही है, यह उसके जीवन का स्थायी भाव नहीं है—

अन्त! अरे कौन कहाँ कैसा अन्त?
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का
आद्यक्षर नव्य-भव्य जीवन का—
जिस के निमित्त सब धीर-धनी भिक्षुक हैं,
निखिल तपस्विजन इच्छुक है,
जिसकी शुभाशा लिये मन में
कितने प्रवीर परिश्रान्त है भ्रमण में,
नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता,
मृत्यु में हिली-मिली अमरता।

और फिर

हार कहाँ उसमें कहाँ है हार ?
अन्त के दिगन्त तक उसका महाप्रसार।
आज के ही आज में उसे न देख।
उसका विजय लेख
काल का तरंगोत्ताल माला में लिखित है
अगम अनन्त में ध्वनित है !
देह वह दुर्बल—उसी का लोभ ?—
उसके बिना ही तो पशुत्व का कराल क्षोभ
ईंधन-विहीन हतप्रभ है,
व्यग्र उसकी ही पुनः प्राप्ति हेतु अब है !

[बापू]

यही वह अमर उत्स है ! मनुष्यता की जय-यात्रा के प्रति अखण्ड विश्वास। यह जड़ संभार, ऊपर तडक-भड़क, बाह्य आवरण, मिट जाते हैं ! ये स्थायी नही है। आज जो-कुछ घट रहा है उसका अन्त आज ही नहीं हो जाता। काल का तरगोत्ताल प्रवाह एक है और अनन्त है। जो मर गया सो समाप्त नही हो गया। जो पशुता की कराल ज्वालाओ मे जल गया वह भी अपना दान इस महाप्रवाह मे दे जाता है। 'आज के ही आज में उसे न देख।'

× × ×

'भैया' सौम्य तपस्वी है। ज्ञान के प्रति इतनी सजग जिज्ञासा थोड़े ही साहित्यिकों मे होगी। इन दिनो जबकि थोडे मे उतर जाने वालों से साहित्य इतना प्लावित हो गया है कि उसमे नये पौधों के निरन्तर सूखने की ही आशंका बनी रहती है, इस प्रकार का नि स्पृह, निर्मान, सत्य-निष्ठ साधक मिलना सौभाग्य की बात है। वे विज्ञापनो के चक्कर मे नही पडते। सरस्वती की उपासना मे इस प्रकार एकान्त निष्ठा आजकल दुर्लभ है।

हे ध्रुव-धीर, प्रकाश-ख्याति की
भला तुम्हें क्या चाह ?
दिग्भ्रान्तों को तम में भी तुम
दिखलाते हो राह।

[बापू]

सियारामशरण : मेरी नज़रों में

[श्री विष्णु प्रभाकर]

—दृश्य एक—

दिसम्बर १९३७ की बात है। मैं 'जीवन-सुधा' के सम्पादक भाई यशपाल से मिलने उनके कार्यालय मे गया था। बातों-बातो मे वे बोले—"सुनो, आज सियारामशरणजी आये हुए है।"

मैंने अचरज से कहा—"सियारामशरणजी यहाँ है!"

"हाँ! आओ, उनसे मिलकर जाना।"

मै दुविधा मे पडा—सियारामशरण जितने बडे कवि, मै उतना ही छोटा लेखक! न जाने क्यों मेरा जी नही किया। मैने कहा—"मुझे काम है। कल आऊँगा।"

यशपाल बोले—"अरे, ऐसा भी क्या काम है, आओ।"

और मुझे जाना पडा। उनके बारे मे तब तक मैं बहुत-कुछ पढ़ चुका था। 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनका चित्र तो मुझे बहुत ही प्रभावशाली लगा था—उन्नत ललाट, उदार स्थिर दृष्टि और सबसे अधिक चेहरे का भोलापन! मैंने सोचा—कितना सुन्दर होगा यह कवि! और तब मैंने 'मृण्मयी' की, जो तभी प्रकाशित हुई थी, कविताएँ गुनगुनाते हुए उनके कई मनमोहक चित्र अपने मानस-पट पर खींच डाले। देखा—उनके उन्नत ललाट पर रामानन्दी तिलक है, सिर पर पतली-सी चोटी है, वे सफेद खद्दर का धोती-कुरता पहने हैं, उनकी आँखों में···तभी जीने मे चढ़ते-चढ़ते यशपाल बोल उठे—देखिये, मामा जी, विष्णु आये है।

"आइए, आइए" की ध्वान हुई और मैंने देखा कि जैनेन्द्रजी सामने बैठे है। उनके पास ही उकडूँ-से बैठे एक वृद्ध पुरुष कोई पुस्तक या पत्रिका देख रहे हैं। आहट पाकर उन्होने मेरी ओर देखा और मैंने उन्हे। सहसा मन में उठा—काल-चक्र के थपेड़े खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है!······

ठीक इसी समय जैनेन्द्रजी ने कहा—"आप सियारामशरण हैं।"

बिजली-सी कौंधी । मैंने सँभलकर देखा—ये सियारामशरण···सियाराम-शरण यह ! नही ! यह तो उस चित्र की छाया भी नही । सिर पर रूखे, उलझे बालो का जगल । मोटे-मोटे खद्दर का कुरता और घुटनो तक की धोती और शरीर जैसे जीवन-विहीन, किसी निर्विकार भार से दबा हुआ !

—दृश्य दो—

जैनेन्द्रजी ने दिल्ली मे जो साहित्य-परिषद् बुलायी थी, उसकी घटना है। सचालक महोदय चाहते थे कि सभापति के समर्थको में सियारामशरणजी का नाम रहे । उनसे प्रार्थना की गयी, लेकिन वे तो कॉप उठे—हम···! लोगो ने तर्क किया—आपको केवल समर्थन करना है । लेक्चर नहीं देना । वे बोले—"हम तो कभी बोले ही नही । कैसे कहेगे !"

और कहते-कहते वे जैसे कॉप-से उठे !

मैंने सोचा—इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति ! छिः छि· ! ! ···

और उनसे मैने कहा—"आप खड़े होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति-पद के लिए श्री मश्रूवालाजी के नाम का समर्थन करता हूँ । बस !"

उन्होने यही कहा और मै देख रहा था—वे एक-एक शब्द पर कॉप रहे थे, उनकी मुद्रा साफ-साफ कह रही थी—हम भी क्या इतने बड़े काम के योग्य है ।

यह विनम्रता थी या आत्म-निषेध ?

फिर उन दो-तीन दिनो में मै कई बार उनके नजदीक बैठा । बातें कीं, उन्हें देखा तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका हुआ लगता है, यह निर्बल का झुकना नही है, बल्कि यह उस शक्तिशाली का झुकना है जो अपनी शक्ति से बराबर इनकार किये जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र, एक छोटा-सा नगण्य जीव है ।

सियारामशरण भोले नही है । उन्हे कोई ठग नही सकता, परन्तु साथ ही वे भी किसी को नही ठग सकते । चाहे तब भी नहीं । वे इस विद्या मे कोरे है । वे जो कुछ है, यह है कि उन्हे विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं है और इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है । इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है ।

परन्तु अपने में उन्हे जितना अविश्वास जान पड़ता है, दूसरे में उतना ही विश्वास है । यह प्रकृति आत्म-दान से उपजी है । इसी से उनका अपने मे इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरो मे विश्वास उनके प्रति श्रद्धा पैदा कर देता है ।

सियारामशरण देखने मे जैसे बीसवी सदी मे वैदिक युग के मॉडल जान पडते है, ऐसे ही उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी बडी उग्रता से जाग पडती है, पर उग्रता तो उनके स्वभाव मे रह ही नही सकती। इसलिए ऐसे समय पीड़ा उन्हे घेर लेती है। बहन सत्यवती मल्लिक की ओर से दी गयी चाय-पार्टी मे श्री 'अज्ञेय' ने फिल्म लेने का प्रबन्ध किया तो सियारामशरणजी की धार्मिक भावना जैसे तडप उठी—"वात्स्यायनजी! यह क्या करते है आप ?"

सियारामशरण ने अपने जीवन मे बहुत कप्ट उठाये है। प्रियजनों के वियोग की मानसिक पीडा और चिरसगी दमे की शारीरिक यातना ने उन्हे बरबस तपस्वी बना दिया है। परन्तु इस व्यथा के भार से दबकर वे इतने प्रेरणा और प्रोत्साहन से भर उठे है। निस्सन्देह उनके ये अभिशाप जग के लिए वरदान बन गये है। "जहाँ पीडा है वहाँ पवित्रता है।" यह प्रसिद्ध उक्ति सियारामशरण की जीवन-रूपी अनुसन्धानशाला मे पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। सियारामशरण विनयी इतने है कि यदि कोई उनकी ठीक बात मे भी दोष निकाले तो वे मान लेगे—गलती हो सकती है। क्योकि वे मानते है, वे निर्भ्रान्त नही है, जो निर्भ्रान्त नही है वह कही भी गलती कर सकता है! और कोई उनसे कहे कि आपकी अमुक रचना बडी सुन्दर है तो क्या कहने वाला उनकी आँखों से बहने वाली तरल कृतज्ञता को सह सकेगा ? लज्जा से उसकी आँखे स्वय झुक जाएँगी। इतनी निश्छलता···इतना आत्म-दान लेकिन इतना कुछ देकर भी वे स्वय छूछे रहते है।

× × ×

व्यक्ति सियारामशरण जितना झुका है, कवि उतना ही ऊपर ही ऊपर उठा जा रहा है। उसने अपने में डूबकर वेदना की कूची से वे चित्र अकित किये हैं, जिनमे रोज का जीवन है, उपेक्षा है, पीडा है, वेदना है, कसक है, पर आरोप कही नही है, चेतावनी भी नहीं। मात्र सकेत है, जो सीधा हृदय में जा पैठता है, क्योंकि उसके पीछे स्वय कवि का अनुभव मूर्तिमान हो उठा है। मानो कवि कहता है कि मुझे देखो और समझो। मेरे मुँह से मेरी कथा सुनने की आशा मत करो। इसी से वे बोलते कम है, सुनना ज्यादा चाहते है। जीवन या साहित्य, सब जगह वे विशुद्ध मानवतावादी है।

सियारामशरणजी की ज्ञान-पिपासा बडी तीव्र है। जन्मजात प्रतिभा न होने पर भी वे इतने बड़े कवि बन गये हैं। वे कोष के सहारे ही अंग्रेजी के बड़े-बड़े कवियो की रचनाएँ पढ़ लेते हैं। एक बार मैं उनसे कह बैठा—"आपका रेखाचित्र लिखने की बात जी में उठी है।"

उन्होने उत्तर दिया—"बात उठी है तो दबा न दीजिए। किसी के लिए उसका रेखाचित्र एक दर्पण के समान होता है। व्यक्ति अपना चेहरा उसमे देखकर सुधारने का अवसर पाता है।" आत्म-सुधार की इस प्रवृत्ति ने उन्हे सदा ऊपर उठाया है।

गहन गम्भीर विषयो की बहस मे, अथवा राजनीति की दलदल मे उनका मन नही लगता। धारा-सभा का अधिवेशन या नई दिल्ली की सैर उन्हे अधिक प्रिय है। कवि जो ठहरे! वे मानते है कि अज्ञानी रहकर तो वे कुछ सीख सकते है। इसी कारण लोग उन्हे गलत समझते है और इसी कारण वे बहुत दिनो से उपेक्षा के पात्र बने रहे।

बात यह है कि मूलतः सियारामशरणजी बौद्धिक नही है। उनकी मौलिकता परिश्रम और स्वाध्याय की मौलिकता है। विनय और श्रद्धा ने उनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इसी के द्वारा उनकी प्रतिभा को बल मिला है, बुद्धि से नही। बुद्धि के सहारे वे आत्म-निषेध की भावना को नही पा सकते थे। बुद्धि अहम् को अस्वीकृत नही कर सकती और न इकाई को भूलने ही देती है।

परन्तु सियारामशरणजी आत्मनिषेध की इतनी प्रबल भावना को लेकर भी बुद्धि से नफरत नही करते। उनका 'नारी' उपन्यास पढ मैंने उन्हे अनेक बातों के साथ लिखा था—मुझे लगता है कि चिट्ठी वाली बात कुछ उलझन मे फँस गयी है।

उन्होंने उत्तर दिया—"यह हो सकता है, पर पाठक उलझन में फँसे यह तो तुम चाहोगे ही। उलझन में फँसे बिना वह लेखक को जान ही कैसे सकेगा?" यानी उलझन को सुलझाने के प्रयत्न में ही पाठक लेखक को पहचानेगा, यह उनका तर्क था। मैंने सोचा—यह आदमी कुछ भी हो, बाहर का नही है, अन्दर का है।

× × ×

तो ऐसे है सियारामशरणजी, जिन्हे काल-पुरुष ने पीड़ा के पालने मे डालकर खूब झुलाया है। वे शरीर से जर्जरित और आत्मा से व्यथित है, पर फिर भी क्रोध से अछूते है। वे अखण्ड विद्रोही है, पर दाहकता से रिक्त है। रुक-रुककर निकलने वाली साँस के कारण उनकी वाणी गम्भीर है। वे देखने मे ज़रूरत से ज्यादा ग्रामीण मालूम होते है, पर उनका हृदय सौजन्य और सौहार्द्र से परिपूर्ण है। उनके नेत्र पीले पड़ गये है, पर अनुभूति और अनुराग उनसे बराबर छलकते रहते है।

और इसी कारण वे स्वयं एक कुशल कवि, एक कर्मठ कलाकार तथा दूसरों के लिए साकार प्रेरणा बन गये हैं।

बापू[1] सियारामशरणजी

[राय आनन्दकृष्ण]

'और तुम्हे कपालकुण्डला भी पढनी चाहिए और ·····।' सियारामशरणजी ने एक किशोर को दस-बीस पुस्तको की एक सूची बना दी, सभी चुने हुए उपन्यास वा कहानी-सग्रह।

दूसरे दिन उन्होने पूर्ण लगन के साथ छान-बीन शुरू कर दी—कौन-सी पुस्तक प्रारम्भ की गयी, कौन समाप्त। इतना ही नही, कौन-सी पुस्तक अच्छी लगी और क्यों? सभी प्रश्न एक से एक विकट थे, पर समाधान और विश्लेषण उतना ही तात्त्विक होता। घर के प्रत्येक बच्चे का अपने बापू—सियारामशरणजी—का यही अनुभव होगा!

यद्यपि शाल-वृक्ष की भाँति अनायास धरती फोडकर, बिना किंचित् देख-रेख के वे सीधे उठते चले जा रहे है पर दूसरी पीढी को वे अपने दाय से वचित नही रखते। नयी पीढ़ी को आदर्श मे दीक्षित करने के लिए अस्वास्थ्य के कारण वे कोई आश्रम या शाला न स्थापित कर सके हो, पर उनके संसर्ग मे आने वाले प्रत्येक युवक ने यह अवश्य सुना होगा—'······जिस दिन तुम अपने इस महाराष्ट्र के राष्ट्रपति होगे······।'

जिस व्यक्ति में नयी पीढ़ी की प्रत्येक इकाई को राष्ट्रपति या उसके समान योग्यता वाला देखने और बनाने की साध हो वह पुस्तक पढ़ाकर सन्तोष नही प्राप्त कर सकता, क्योंकि यह तो उसकी बेबसी है।

× × ×

सियारामशरणजी के जीवन और पुस्तक का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके सभी अभावो की पूर्ति इन पुस्तको से होती है। 'जहाँ पुस्तके रहती है वहाँ स्वर्ग बन जाता है।' और, इस स्वर्ग के अधिराज के रूप में सियारामशरणजी बहुत ही शोभित होते है। कोई पुस्तक बृहस्पति है और कोई जयंत।

सियारामशरणजी ने रोग-शय्या पर पडे-पडे जो कई भाषाओ पर अधिकार प्राप्त कर लिया वह पुस्तकों से अपनी आत्मीयता के कारण। इसके अतिरिक्त कई शास्त्रों पर वे अधिकार रखते है और उससे कही अधिक रखना चाहते है;

---

१. कवि के सभी वात्सल्य-भाजन उन्हें 'बापू' कहते है।

परन्तु धर्म-साधन मे रोग-जर्जर शरीर कितना बाधक है। फिर भी, हिन्दी, बगला, गुजराती, अग्रेजी किसी मे कोई सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हुई कि सियारामशरणजी के पुस्तकालय की शोभा बढाने लगी। प्रसिद्ध अमरीकी पत्र, 'रीडर्स डाईजेस्ट' मे एक नोबेल पुरस्कार प्राप्त पुस्तक का साराश था जो इस सदी की उक्त विषय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी गयी थी। विपय था सृष्टि-क्रम-विकास। बिलकुल नया विपय होने पर भी उक्त पुस्तक मँगा ली गयी। यदि शरीर ने गवारा किया होगा, तो पढी गयी होगी और सम्भवत. कवि ने उस विषय पर भी इस प्रकार अधिकार कर लिया होगा।

× × ×

सौन्दर्य-प्रेम और गांधीवाद

कवि का सौन्दर्य-प्रेम दार्शनिक सत्य की कसौटी पर कसा गया है और इस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित हुआ है। इस युग के सभी चेतनशील समाज पर गाधीवाद का जो उचित प्रभाव पडा है, कवि उसमे किसी से पीछे नही। चर्खा चला पाने की साध श्वास-जैसे कठिन रोग में पूरी नही हो पाती, तब अनुज वा अग्रज के चर्खे की मधुर-मधुर ध्वनि पर ही सतोष करना पड़ता है। फिर भी अपने हाथों अपने बस्त्र धो लेने का प्रयोग वे प्राय· करते है और कभी-कभी इसी कारण बीमार पडते है। वे निश्चय ही जानते है कि रोगी सत्याग्रहियों को गाधीजी कर्म-मार्ग से विरत कर ज्ञान-मार्ग तक ही सीमित रखते थे परन्तु कवि का हृदय अपनी कमी को भी नही मानता।

इस प्रकार सियारामशरणजी का कवि-जैसा स्वरूप मोटी खादी के धोती-कुरते में और भी अधिक दीप्त हो उठता है। जन्म-भर की साहित्य-साधना और उच्च दार्शनिकतापूर्ण जीवन ने उनके मुख पर एक अलौकिक कान्ति ला दी है और वे प्रथम दर्शन मे गांधीवादी सन्त ही जान पडते है।

पर इन सबके भीतर एक बहुत बडा कवि बैठा है, जिसने अपने चारों ओर के और उससे भी अधिक कल्पना-लोक के सौन्दर्य का कितना प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है! बालकों के जीवन मे कवि ने विशेष सौन्दर्य पाया है और उसकी अभिव्यक्ति अपनी सभी प्रतिनिधि रचनाओं मे की है।

सियारामशरणजी वार्तालाप में बहुत ही रोचक है। काव्य की भाँति उनके वार्तालाप मे भी सुन्दर भावो के साथ-साथ सुन्दर अभिव्यक्ति दीखती है। कुछ दिन पूर्व माननीय सम्पूर्णानन्दजी चिरगाँव आये थे। गणेशशंकर हृदय-तीर्थ के अधूरे भवन की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिए सियारामशरणजी ने किसी प्रसंग में कहा, "हमें अभी बहुत काम करना बाक़ी है, अपनी स्वतन्त्रता

को तो मैं इस अधूरे भवन-जैसा मानता हूँ।" सियारामशरणजी बातचीत मे प्राय. अनोखी उपमाओ का प्रयोग करते है।

उन दिनो महाकवि 'निराला' शोचनीय मानसिक अवस्था मे काशी के कुछ उत्साही हिन्दी-सेवियो की सुश्रूषा मे थे। सियारामशरणजी उनसे मिलने गये। 'निरालाजी' की वह अवस्था देख उन्हे बडी पीडा हुई। फिर भी सियारामशरणजी ने उन्हे शान्त करने का प्रयत्न किया। जब 'निरालाजी' बहुत अधिक उत्तेजित हो जाते तब सियारामशरणजी कहते, "आप यदि बहुत बडे पहलवान, क्रान्ति-कारी या राजनीतिक नेता न हो सके तो कोई चिन्ता नही, आप अपने-आप मे ही एक विभूति है।" 'निरालाजी' पर इसका यथेष्ट प्रभाव पडता। उस समय, 'निरालाजी' की एक पुस्तक प्रेस में थी। जिसकी भूमिका लिखने के लिए उन्होने सियारामशरणजी से बहुत आग्रह किया। बहुत बडे धर्म-सकट मे पडकर सियारामशरणजी को अपनी स्वीकृति देनी पडी, और घर लौटकर उन्होने उक्त भूमिका के लिए जो प्रारूप सोचा था वह सचमुच चमत्कारपूर्ण था। परन्तु, इसी बीच किसी पागल ने राष्ट्र-पिता की हत्या कर डाली और सबके मन पर एक बडा गहरा काला पर्दा पड गया। इसी स्थिति मे भूमिका लिखने की बात रह गयी।

कितनी चोट पहुँची उस समय इस कवि के हृदय को! जो राष्ट्र-पिता को अपना युग-पुरुष, आराध्य देव और बापू मानता था! इसका इतना बुरा असर पड़ा कि उन पर श्वास का भारी आक्रमण हुआ और काशी आकर उन्होने थोड़ा-बहुत जो कुछ स्वास्थ्य-लाभ किया था वह दो दिनों के आँसुओ के साथ निकल गया।

× × ×

रोग-जर्जर शरीर और साधना

रोग से लड़ते-जूझते उन्हें इतना कुछ करते देख सचमुच आश्चर्य होता है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है, इसकी सबसे बडी चुनौती सियारामशरणजी है। उन्होंने सारी उम्र खाट पर बितायी, फिर भी प्रत्येक दिशा मे अनुपम प्रगति की है। चारों ओर न जाने कितनी दवाइयो से घिरे हुए, जिनके विष को झेलना उनके जैसे महाप्राण व्यक्ति के लिए ही सम्भव है—इसी प्रकार सिगरेट के नाम पर एस्प्रोमोनियम के दर्जनो पैकेट खतम करते उन्हे देखा जा सकता है। मोटी गादी के चारों ओर इन्ही सबका साम्राज्य है। किसी-किसी ओषधि के बाद, और कभी-कभी भोजन के बाद पान की आवश्यकता पडती है। पुकारने के कष्ट से बचने के लिए कभी-कभी घण्टी भी मिलेगी, पानदान पास ही धरा है। हाँ, उससे लाभ उठाने के लिए सभी को छूट है। बगल में कुछ

पुस्तकें रखी है, जो दद्दा (राष्ट्रकवि) के पास वाली बैठक और इस गादी के बीच सीमा का काम करती है। बेत की एक रकाबी में एकाध कलम-पेंसिल साहित्य-सदन का नाम सार्थक करती है। सियारामशरणजी—जिन्हे घर के हम सब बच्चे बापू कहते हैं—की जेब मे जो एक घडी है वह समय पर दवा खाने के लिए अथवा रेडियो पर समाचार सुनने के लिए है। किसी ने श्वास-रोग के लिए चाय की सिफारिश की। तब से चाय का क्रम चल गया। लाभ तो हुआ नही, दोनो समय चाय बनने लगी।

अखबारो का ढेर आ पहुँचा। प्रत्येक अखबार की छान-बीन की गयी। प्राय. दद्दा महत्त्व की खबरो को पढकर सुनाने मे आनन्द पाते है। कभी-कभी उन खबरो को लेकर बहस भी हो जाती है, कभी-कभी एक पक्ष की हार। क्योंकि कवि-युगल की धारणाओं और विचारो मे पर्याप्त मतभेद की गुंजाइश है, बहुत-सी बातो मे अपना-अपना दृष्टिकोण है।

सहसा, बापू अंग्रेज़ी अखबार मे कोई नयी खबर देख बोल उठते है जिसे हिन्दी के सम्पादको ने अनावश्यक समझा हो। परन्तु यह सारा क्रम डाक आते-आते अवश्य समाप्त हो जाता है, बापू अपने पत्रो का उत्तर अपने व्यक्तित्व-जैसे सुन्दर अक्षरों मे देने लग जाते है।

समय भार होने लगता है, अथवा रात को नीद नही आती तब ताश के पत्तों[1] का सहारा लेना पडता है। उसमे भी किसी साथी की आवश्यकता नहीं; पेशेन्स का यान्त्रिक खेल मन को फँसाये रखने में समर्थ है। बगल में दद्दा अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति और सूझ के बल पर मिनटों मे बाजी मार लेते है, उनकी बगल में उनके भी अग्रज अपने काँपते हाथो से—पर सियारामशरणजी को पत्रो के जुटाने मे ही काफी समय और श्रम लगता है। एकाध बाजी में ही वे थककर चूर हो लेट जाते है। घर का कोई बच्चा कभी बदन दबाने लगता है, कभी दुखते सिर को।

दुपहरिया में रात की नीद पूरी करना आवश्यक होता है। इसलिए एक मात्र वह ऐसा समय है जो सुखपूर्वक कट सके। अथवा कभी कल्पनालोक में विचरण करते समय इस अनुभवगम्य लोक की व्यथाएँ भुलायी जा सके।

आज, इस सन्त की ओर असंख्य हाथ जुड़े हुए है, मानो किसी देवता पर राष्ट्र ने असंख्य-असख्य कुड्मल न्यौछावर कर दिये है, उन्ही के बीच इस वात्सल्य-भाजन का भी शत-शत प्रणाम है—

अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।

---

१. बापूजी के महा-निर्वाण के दुःखद प्रसंग पर उन्होंने इस दुर्भाग्य से छुटकारा पा लिया है।

कवि श्री सियारामशरण गुप्त का मनोदर्शन

[डॉ० रणवीर रांग्रा]

साहित्यकार का जीबन साधना का जीवन है। दीये की भाँति जलकर भी वह दूसरो को प्रकाश देता है। जीवन भर व्यथा मे तपकर वह जो पाता है, उसे जगती को कविता मे गाकर सुनाता है। जीवन और जगत के समस्त विष को वह अपनी साधना के बल से अमृत कर लेता है। इसीलिए तो गीता में साहित्य-साधना को 'वाङ्मय तप' माना गया है। पर आज ऐसे कितने साहित्यकार है जो सृजन को साधना या तप के रूप मे लेते है, जिनके निकट साहित्य व्यवसाय न होकर आत्म-दर्शन की सीढी है और जो साहित्यकार ही नही, सन्त भी हैं ?

भारतीय मनीषियो की इस लुप्तप्राय परम्परा के उज्ज्वल प्रतीक हैं कविवर सियारामशरण गुप्त। उनकी जीवन-व्यापी साधना से यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि अपने भीतर साधुवृत्ति जगाए बिना कोई साहित्यकार बनने की सोच कैसे सकता है। अपने काव्य 'नकुल' मे तो उन्होने निर्भ्रान्त स्वर से इस मूल सत्य को व्यक्त किया है

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें।
देंगे कैसे अमृत बुझे स्वयमपि जो विष में॥

इस सन्त-कवि का व्यक्तित्व पीडा से बना है, फिर भी उसमें मधुरता की कमी नहीं। उनका जीवनसाथी श्वास रोग बडा ही कठिन रोग है, शरीर अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है, फिर भी, मन में कही तिक्तता नही, व्यवहार मे कही कटुता नही, स्वभाव में कही कठोरता नही। घोर व्यथा के बीच से छनकर आयी अद्भुत धैर्य-निष्ठा का ही तो यह प्रसाद है कि अस्वास्थ्य से लगातार जूझते हुए भी वे 'मृण्मयी', 'बापू', 'उन्मुक्त' आदि अमर काव्यो, 'गोद', 'अन्तिम आकाक्षा' और 'नारी' जैसे मर्मस्पर्शी उपन्यासो, 'झूठ-सच', 'मनुष्य की आयु सौ वर्ष', 'अन्य भाषा का मोह', 'घूंघट' सरीखे तीखे व्यग्य भरे निबन्धों और अनेक कहानियों के प्रणयन द्वारा निरन्तर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। उनकी प्रत्येक रचना में शान्तिदायिनी सात्विकता और सच्चे आस्तिक की स्थिरता मिलती है, जो सहज ही पाठक के मन को छू लेती है।

इस तपस्वी साहित्यकार से मिलकर उसके साहित्य पर चर्चा करने की मेरी बहुत पुरानी साध थी। आखिर, पिछले दिनो सुयोग मिल ही गया। जब मैं सियारामशरणजी के यहाँ गया तो दद्दा (राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त) के दर्शनलाभ का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। दोनों भाइयो के व्यवहार मे इतनी आत्मीयता थी कि थोडी देर मे ही मुझे लगने लगा कि मैं उनके ही परिवार का अग हो गया हूँ। फिर, सियारामशरणजी मुझे अपने कमरे मे ले गये। इस विशाल कमरे मे दीवार से सटकर बिछी एक छोटी-सी दरी थी जिस पर एक तकिया रख हुआ था। दरी पर एक ओर पुस्तके बिखरी थी और दूसरी ओर दवाई की शीशियाँ-डिबियाँ रखी थी। बस यही है इस सन्त की साधना-स्थली—नई दिल्ली की फीरोजशाह रोड पर स्थित ससद-सदस्यों के भव्य बगले के एक कमरे मे सिमटी सी।

पिछले वर्ष आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र से 'मेरी रचना-प्रक्रिया' शीर्षक से गुप्तजी की एक वार्ता प्रसारित हुई थी। उसी में से उनका एक वाक्य लेकर चर्चा आरम्भ करते हुए मैंने पूछा—"आपने एक स्थान पर कहा है, 'लोग जन्मजात कवि होते है, पर मै जन्मजात रुग्ण हूँ। इस कारण भी मैं वह नही लिख पाता जो लिखना चाहता हूँ।' शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पीडा के पालने मे आपको इतना अधिक झूलना पड़ा है कि उसके प्रति आपका आक्रोश स्वाभाविक है। पर आपकी रचनाओं मे अनुभूति की जो गहन तीव्रता और एक सच्चे आस्तिक की स्थितप्रज्ञा के दर्शन होते हैं उसका श्रेय क्या इस जीवनव्यापी व्यथा को नही है?"

प्रश्न तीखा था, पर तनिक भी विचलित हुए बिना गुप्तजी शान्त और संयत स्वर मे बोले—"आपसे अपना वाक्य सुनकर लगता है कि जन्मजात कवि के साथ अपने जन्मजात रुग्ण को एक आसन पर बैठाकर कही मैंने उसे कवि की प्रतिष्ठा स्वय ही न दे डाली हो। आपने ध्यान नही दिया, यह आपकी अनुकम्पा है। रुग्ण को न मिलेगी तो अनुकम्पा मिलेगी किसे? जीवन के अन्य क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्य मे भी उसे क्षमा मिलती है। यह मेरा अपना अनुभव है। इसलिए, कृपा के लिए और कुछ कहने से पहले धन्यवाद तो क्या दूँ, अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करता हूँ।

"हाँ, मैने अपनी रुग्णता को हमेशा अपने लिए वरदान ही माना है। एक बार मेरे एक उपन्यास के बारे मे मुझसे प्रश्न किया गया—'यह उपन्यास आपने क्यों लिखा?' मेरा उत्तर था—'मैं रुग्ण था, इसलिए सरल कार्य ही करना चाहता था।' मेरे इस उत्तर की 'रुग्णता' का उल्लेख एक ख्यातिलब्ध

औपन्यासिक ने इन शब्दो मे किया—'देखिए, अपने सम्बन्ध मे वह स्वय ऐसा कह रहे है।' परन्तु, वास्तव मे, मैं जो कुछ लिख सका हूँ, मै मानता हूँ, वह लिखा न जाता यदि मैं शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ न होता।

"एक बार विख्यात उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिरला ने मुझसे आग्रह किया कि मैं उनकी एक हिन्दी-सम्बन्धी योजना मे कुछ काम करूँ। जब मैने उनसे कहा कि शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण मै उस कार्य को करने मे असमर्थ हूँ तो वह कहने लगे—'आपकी रचनाओ से यह नही जान पडता कि आप अस्वस्थ है।' उनका यह कथन मुझे अपने साहित्य-कार्य के लिए सर्वाधिक प्रशसात्मक जान पडा और उसे मै भूल नही सका। हो सकता है अपने अस्वस्थ जीवन से 'पलायन' करके स्वास्थ्य के लिए ही मै साहित्य के क्षेत्र मे पहुँच जाता होऊँ। पलायनवादी होने का आरोप मुझ पर हुआ है, किन्तु वह इसलिए भी मुझे रुचता है कि पलायन की शक्ति भी नगण्य नही होती।"

निरन्तर एक ही प्रकार से सोचते रहने से कई बार साहित्यकार की विचारधारा स्थिर और बद्धमूल हो जाती है और साहित्य के माध्यम से वह अपना जीवन-दर्शन दूसरो पर लादने लगता है। साहित्य-सृजन मे गुप्तजी की मूल प्रेरणा क्या है, यह जानने की दृष्टि से मैने प्रश्न किया—"लिखने की प्रेरणा आपको जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से?" प्रश्न सुनकर सियारामशरणजी कुछ देर मौन रहे, मानो अपने भीतर की गहराइयाँ नापने लगे हो। फिर सहसा उनके होंठ हिले और वे धीरे-धीरे कहने लगे—"मेरे जीवन का दृष्टिकोण कब और कैसे बन गया, इस बात का पता लगाना मेरे लिए भी अनुसन्धेय है। कहा जाता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में ही बन जाता है। ऐसे ही अपने किसी सतयुग में मैं पूरा बन चुका था। उसके बाद दूसरे युग आते हैं और मैं चाहूँ भी तो अपने को बदल नही सकता। बदलने की मुझे इच्छा भी नही होती। अपने उसी सतयुग के पुरुष के साथ साक्षात्कार करना ही मेरी साहित्यिक साधना है।" प्रश्न करते समय मैंने सोचा था, उत्तर काफी लम्बा होगा। पर गुप्तजी तो घुमाव-फिराव मे न पडकर सीधी बात करने वालो में हैं। उन्होंने एक स्थान पर कहा भी है—"हृदय को समझने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहाँ तर्क का प्रवेश निषिद्ध है।"

सत्यनिष्ठ साहित्यकार अपने को जीवन और जगत के प्रति खुला छोड़कर तो जीता ही है, पर भीतर के प्रति भी बन्द नहीं होने देता। रचना करते समय वह सामान्य धरातल से इतना ऊपर उठ जाता है कि धर्म के पाप-पुण्य,

समाज के विधि-निषेध और शासन के भय-प्रलोभन उसके लिए ढीले पड जाते है। शिक्षा और संस्कारो द्वारा जनित पूर्वग्रहों की लौह-शृंखलाएँ भी टूटती जाती है। तब उसकी चेतना मे बाहर और भीतर के यथार्थों के नये रूप उभरते आते है और वह उनमे सन्तुलन बैठाता हुआ सत्य के निकट पहुँचता जाता है। रचना उसके लिए आत्मबोध का साधन बन जाती है और यह आत्मबोध उसके भीतर असीम परितृप्ति भर देता है। रचना-प्रक्रिया की इस आनन्दमयी अवस्था की ओर सकेत करते हुए मैंने पूछा—"किसी कृति को रचते समय आपको कभी ऐसा भी महसूस हुआ कि उसे रचते समय आप स्वयं भी रचे जा रहे है, आपके सामने बाहरी और भीतरी सत्यो के नये अर्थ खुल रहे है और अपने भीतर घटित हो रहे रूपान्तर से आपको असीम आत्म-तुष्टि का अनुभव हो रहा है ?"

अपने भीतर गोता लगाते हुए गुप्तजी बोले—" 'बापू' लिखते समय मैंने स्पष्टत' अनुभव किया 'कि किसी परम सत्य की उपलब्धि मुझे हो रही है। जिस दिन मैंने बापू की अतिम पंक्तियाँ लिखी, उस दिन मैंने अपने भीतर सम्भवत: उस आनन्दमयी परितृप्ति की अनुभूति की जो बड़े से बडे साहित्यकार को यदा-कदा ही उपलब्ध होती है। वैसी स्थिति मेरी कई दिन तक रही।

" 'नारी' लिखते समय मुझे दूसरा अनुभव हुआ। उसे प्रारम्भ करते समय मेरे सामने उसका रूप कुछ भी स्पष्ट नही था। उसकी एक बहुत दूर की झाँकी ही मुझे मिली थी। पर मैं उसे लिखता गया और उसके नये-नये रूप मेरे समक्ष स्पष्ट होते गये। अगले अनुच्छेद में मुझे कहाँ पहुँचना है, इसका पता भी प्राय: नहीं रहता था। पुस्तक का अतिम अश लिख रहा था, पर तब तक भी उसका नाम मुझे नही सूझा था। अन्तिम वाक्य में अचानक आ गये 'नारी' शब्द ने ही मुझे यह नामकरण सुझाया। आप चाहें तो इसे मेरा बो[illegible] लाभ कह सकते है—जमुना को तो उसकी उपलब्धि हुई ही थी।" बोलते समय उनकी आँखों मे चमक आ गयी थी और मुख पर कान्ति छा गयी थी, मानो अतीत की अनुभूतियाँ उभर आयी हों।

चर्चा को उपन्यासो की ओर मोड़ते हुए मैंने प्रश्न किया—"नारी की चिरोपेक्षिता जमुना जब अजीत को आत्मसमर्पण करके हल्की होने की सोचती है तो लेखक उन दोनो के बीच आ जाता है, जबकि जमुना जिस जाति की स्त्री है उसमे पति के जीवनकाल में भी उसके साथ न निभ सकने के कारण दूसरा घर कर लेना वर्जित अथवा निन्दनीय नही समझा जाता और हम यह भी जानते है कि जमुना की यह माँग मासल की अपेक्षा मानसिक अधिक है।

कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि लेखक यहाँ जमुना पर व्यक्तिगत सस्कारों का आरोप कर रहा है। इस विषय मे आपकी क्या राय है ?"

गुप्तजी गम्भीर होते हुए बोले—"जमुना ने जो कुछ किया उसके बीच में मैं आ कैसे सकता था ? उसमें जो 'मासल' है, उसी को देखने की मेरी प्रवृत्ति न थी। जहाँ वह सचेतन और सप्राण है, वही वह अपनी यथार्थ सत्ता मे प्रकट होती है। अपने व्यक्तिगत सस्कार मैंने उस पर नही लादे। वह अपने संस्कार अपनी छोटी-सी जाति और अल्पकालिक जीवन मे न जाने कहाँ से ले आयी है। हम जो जीवन जीते है, वह समूचा हमारा अपना ही है, यह कैसे माना जा सकता है। हमारे अनजाने मे ही सीता, सावित्री, द्रौपदी और न जाने किन-किन के स्वर हमारे कानो मे पडते रहते है। वे स्वर दूर से, अतीत मे से, हम पा रहे है, केवल इसीलिए मैं उन्हे अनिष्टकर नही मान सकता। अतीत नही, मै तो मानता हूँ अनागत भविष्य का कण्ठ भी उसके साथ मिला हुआ है।"

गुप्तजी के साहित्य मे व्यक्त करुणा और आत्मपीडन पर चर्चा चलाने के लिए मैने पूछा—"कुछ लोगो को आपके साहित्य मे आत्मपीडन का स्वर अन्य सभी स्वरो से ऊँचा लगता है और वे बरबस पूछ बैठते है—'आत्मपीडन क्या परपीडन का ही रूपान्तर नही है' ?" प्रश्न बहुत तीखा था, सो वैसी ही प्रतिक्रिया हुई। वे बोले—"यह 'आत्मपीडन' मुझे तो कल्पित और आरोपित जान पडता है। आत्मा को पीड़ा कहाँ ? आत्मानन्द की बात तो हम सुनते रहे हैं, पर आत्मपीड़न की कल्पना उन लोगो ने की है जो वास्तव में आत्मा को ही नहीं मानते। उनका जीवन-दर्शन मेरे से भिन्न है।"

साहित्य के क्षेत्र मे गुप्तजी ने बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी विधाओ मे उन्होंने समान अधिकार से लिखा है। पर वे मूलत. क्या है, यह जानने के लिए मैंने प्रश्न किया—"आपने साहित्य की सभी विधाओं मे लिखा है, और बहुत अच्छा लिखा है। फिर भी, कौन सी विधा आपको सर्वाधिक सहज और मनोनुकूल लगती है ?"

वे बोले—"मुझे कविता ही सर्वाधिक तृप्ति देती है। यह दूसरी बात है कि जिसे मैं कविता मानता हूँ, वह किसी दूसरे की दृष्टि में कविता न हो। 'आज की कविता' ने अपने नामकरण के साथ ही उसे पुरातन और जीर्ण घोषित कर दिया है। परन्तु मैं अपने स्थान पर अपने को स्थिर और निरापद ही पाता हूँ। कविता के अतिरिक्त मैंने जो और कुछ लिखा है उसे आप

औद्योगिक भाषा में मेरे कार्य का उपजात (बाइ-प्रॉडक्ट) कह सकते है। वह यदि कही अच्छा बन पड़ा है तो वही, जहाँ मेरी कविता किसी न किसी बहाने आकर मुझे थपथपा गयी है।"

चर्चा में तो रस आ ही रहा था, पर सियारामशरणजी के तप पूत व्यक्तित्व से जो शान्ति बरस रही थी, वह भी आत्मविभोर किये जा रही थी। हमे बैठे अढ़ाई घण्टे होने को थे, पर किसी को समय का ध्यान ही न था। चर्चा ज्यो-ज्यो जोर पकडती और गुप्तजी की साँस फूलने लगती, वे पास रखी दवाई की डिबिया को दियासलाई दिखा, नाक से धूनी लेने लगते। इससे साँस अनवरुद्ध चलने लगती और चर्चा आगे बढ लेती। इस बार, जो उन्होने डिबिया उठायी, मुझे लगा कि मै उनके साथ ज्यादती कर रहा हूँ। स्वयं कष्ट उठाकर भी वे मेरे प्रश्नो का उत्तर दिये चले जा रहे है, यही क्या कम अनुकम्पा है। इसलिए, चर्चा को समेटते हुए मैंने आज की प्रमुख समस्या की ओर उनका ध्यान आकृष्ट कराते हुए अन्तिम प्रश्न किया—"आज का साहित्यकार जो किसी न किसी रूप में राज्याश्रय पाने की सोचने लगा है, आपके विचार मे यह कहाँ तक साहित्य के हित मे है ?"

वे बोले, "राज्याश्रय ही क्या, किसी प्रकार का भी आश्रय—स्वाश्रय को छोडकर—मैं साहित्यकार के लिए हानिकारक मानता हूँ। नये-नये रूपों में साहित्यकार जो अपने 'ट्रेड यूनियन' बना रहा है, उन्हें भी मैं पसन्द नहीं करता। साहित्यकार जब अपनी रक्षा के लिए गुहार करने लगता है तो उससे बढ़कर अशोभन और कुछ नही होता।"

कवि सियारामशरण गुप्त के अन्तिम दिन

[डॉ० नगेन्द्र]

कल की-सी बात है। अब से ठीक बारह वर्ष पहले सन् १९५२ की गर्मियों मे—शायद अप्रैल या मई के महीने मे, जब मै एक दिन आकाशवाणी भवन से १॥ बजे का बुलेटिन समाप्त कर लौट रहा था, तो अचानक ही सिकन्दरा रोड के मोड़ पर एक ताँगे मे मुझे श्री सियारामशरण गुप्त दिखायी दिये। मैंने गाडी मोडी और ताँगे के पास जाकर देखा कि दद्दा—श्री मैथिली-शरण गुप्त और रायसाहब—श्रीयुत रायकृष्णदास भी उसमे बैठे है। एक स्वजन को ताँगे मे सामान के साथ छोड दद्दा, रायसाहब और सियारामजी मेरे साथ मोटर मे आकर बैठ गये। रास्ते मे मालूम हुआ कि दद्दा राज्यसभा के ग्रीष्म अधिवेशन मे भाग लेने के लिए आये हुए है और नॉर्थ एवेन्यू मे १७९ नम्बर का मकान उनके लिए नियत किया गया है। १९५२ से १९६४ तक पूरे बारह वर्ष तक दद्दा दिल्ली मे रहे—उनका यह दिल्ली-प्रवास राजधानी के सारस्वत इतिहास का अत्यन्त मधुर परिच्छेद है।

दद्दा के साथ कोई-न-कोई स्वजन सदा दिल्ली मे रहता था। सियारामजी भी वर्ष में एक-दो बार आकर अवश्य रहते। उन दिनों दद्दा के निवास का वातावरण और भी अधिक साहित्यिक बन जाता था। बाद में स्वास्थ्य गिर जाने से उनका आना कुछ कम हो गया और उन्हे बुलाने के लिए हम लोगों को आग्रह करना पड़ता था। १९६३ के बजट अधिवेशन में मेरे और दद्दा के बार-बार आग्रह करने पर वे २५ फरवरी को दिल्ली आये। इस बार उनका स्वास्थ्य अधिक गिरा हुआ था। बाहर से देखने पर भी रोग बढ़ा हुआ लगता था—चेहरे पर और हाथ-पैरों पर शोथ था, किन्तु भीतर से उनका मन और भी अधिक उद्विग्न था। चिरगाँव से चलते समय उन्होने चि० सुमित्रानन्दन से कहा था कि देखो लौटकर आते है या नही। दिल्ली में वे प्राय. मित्रो से यही कहते थे कि इस बार हम अपने को अत्यन्त रुग्ण अनुभव करते है। बात साफ़ थी—जल्दी ही उनके विश्वस्त चिकित्सक डाक्टर विजयकुमार दीवान से सम्पर्क स्थापित कर सिटी क्लिनिक में विधिवत् परीक्षण कराया गया।

डाक्टर ने विशेष चिन्ता का कोई कारण नहीं बताया—कहा कि दमा के निरन्तर आक्रमण से इस आयु मे हृदय पर असर पडना स्वाभाविक ही है, शोथ उसी के कारण है। निदान के उपरान्त ओषधि दी गयी और उससे लाभ हुआ—सूजन बहुत कम हो गयी; हृदय की आन्तरिक स्थिति में भी सुधार हुआ। फिर भी न जाने क्यो वे बार-बार कहते थे कि मेरी तबियत बडी खराब है। रोग उनके लिए नया नही था—लगभग ५० वर्ष से वे रोग से लडते आ रहे थे। इस लडाई मे दोनो ही जर्जर हो चुके थे—रोग ने तो रोगी के शरीर को तोड़ ही दिया था परन्तु रोगी के आत्मबल ने भी रोग के आतक पर विजय प्राप्त कर ली थी। ऐसी स्थिति मे उनके स्वर की निराशा से मुझे कुछ निराशा होने लगी। डॉ० दीवान के साथ मैं बराबर सम्पर्क बनाये हुए था और जहाँ तक मै समझ सका, चिन्ता का कोई कारण नही था। फिर भी बापू आश्वस्त नहीं थे और कई बार एकान्त मे मुझसे कह चुके थे कि आपसे कुछ आवश्यक बात करनी है। यद्यपि उन्होने मुझे यह नही बताया कि बात क्या है, परन्तु सन्दर्भ से मुझे यह अनुमान होने लगा था कि शायद वे अपना अन्त निकट समझते है। यह कल्पना मेरे लिए अत्यन्त अप्रिय थी और मेरे मत से इसके लिए पर्याप्त कारण भी नही था। इसलिए मै कुछ दिनों तक तो बराबर टालता रहा और फिर एकान्त में बात करना सम्भव ही नही हुआ।

एक दिन शाम को ३५ मीनाबाग जाकर मुझे पता चला कि बापू की तबियत अचानक गिर गयी और उन्हें डॉ० दीवान के परामर्श के अनुसार सर गंगाराम नर्सिंग होम, पूर्वी मार्ग में दाखिल कर दिया गया है। तुरन्त ही मैं वहाँ पहुँचा। वे होश में थे। डॉक्टर से बातचीत करने पर मालूम हुआ कि उन्हे दिल का दौरा हुआ है; सामान्यत. हालत अच्छी थी, उपचार से लाभ हो रहा था परन्तु डॉक्टर ने व्यावसायिक सावधानी के स्वर में कहा कि ७२ घण्टे से पहले हृद्‌रोग में किसी को खतरे से बाहर घोषित करना सही नहीं है। ७२ घण्टे भी बीत गये। दद्दा को एक आवश्यक कार्य से झाँसी जाना था—किन्तु उन्होने अपना कार्यक्रम स्थगित कर दिया। तीसरे दिन उनकी तबियत इतनी सँभल गयी कि डॉक्टर दीवान ने दद्दा से कह दिया कि आप बेशक चले जाएँ--और दद्दा चले गये। बापू काफी स्वस्थ दीखते थे—पेट जो शुरू में फूल गया था, अब साफ हो चुका था; साँस की गति स्थिर हो चुकी थी और नर्सिंग होम के उस कमरे में अन्तर्बाह्य शान्ति का प्रसार था। पर यह दशा शायद एक-डेढ़ दिन तक ही रही। उनके दो पुराने रोगों—हर्निया और दमा के उभर आने से एकदम बेचैनी बढ़ गयी; आँतों में गुज्झर पड़ जाने से

उनकी क्रिया मे अवरोध उत्पन्न हो गया और श्वास का कष्ट भी बहुत था। ऑक्सीजन की व्यवस्था हुई और आन्त्रिक अवरोध को भी दूर करने के लिए ओषधियाँ दी गयी। किन्तु उनसे लाभ नही हुआ और वे बेहोश हो गये। बेहोशी की हालत मे भी या बीच मे सज्ञा प्राप्त करने पर उन्होने दो बार कहा—डॉक्टर नगेन्द्र को बुलाओ। मुझे फोन किया गया और मै कोई आध घण्टे मे पहुँच गया, लेकिन तब तक वे फिर बेहोश हो गये थे। यह मूर्छा फिर नही टूटी; हृदय की स्थिति अब भी बुरी नही थी—नाड़ी की गति अच्छी थी, किन्तु आन्त्रिक अवरोध और श्वास-कष्ट बढ़ता जा रहा था। डॉक्टर दीवान अब विचलित प्रतीत होते थे। यद्यपि अपने निदान और उपचार के विषय में उन्हें किसी प्रकार का सशय नही था, फिर भी हम लोगो के आश्वासन के लिए उन्होने दिल्ली के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० मोहनलाल शर्मा को परामर्श के लिए बुला लिया। डॉ० शर्मा आये; पूरी परीक्षा करने के उपरान्त वे भी उसी परिणाम पर पहुँचे और मेरे प्रश्न के उत्तर मे उन्होने भी डॉ० दीवान के ही उत्तर की प्राय. पुनरावृत्ति कर दी। दवाइयॉ कारगर नही हुईं; रोग बढता ही गया और रात को डॉक्टर ने जवाब दे दिया।

बापू की बीमारी का समाचार नगर मे फैल चुका था; उनके मित्र और श्रद्धालु निरन्तर आते रहते थे। उस रात को मै काफी देर से लौटा था—आकर मैने कुछ ऐसे मित्रो को, जिनका उनके प्रति विशेष अनुराग था, फ़ोन किया कि बापू जा रहे है; रात शायद न काट पाये। वही हुआ २९ मार्च को प्रातः ५ बजे के लगभग भाई श्रीनिवास का फोन आया कि बापू नही रहे। यद्यपि बुद्धि इस दुस्सवाद के लिए तैयार हो चुकी थी, फिर भी मन एक साथ चीत्कार कर उठा। तैयार होने मे मुझे थोडी देर लगती है, पर चि० सुमित्रानन्दन ने मुझसे कह दिया था कि कक्का (आदरणीय श्री चारुशीलाशरण) मेरे पहुँचने के बाद ही बापू को लेकर दिल्ली से रवाना होंगे। अतः मैं अपनी तरफ़ से जल्दी-से-जल्दी तैयार होकर कुछ सहयोगियो के साथ सर गंगाराम अस्पताल पहुँचा। किन्तु वे लोग तब तक दद्दा के दिल्ली-आवास ३५ मीनाबाग़ जा चुके थे। हम लोग भी पन्द्रह मिनट मे वहाँ पहुँच गये। देखा कि वे केवल मेरे लिए ही रुके हुए है। बापू का शव गाड़ी मे रखा जा चुका था—पीछे की सीट पर अपने भैया के सिर को गोद मे लेकर कक्का बैठे थे—पैर कक्की ने अपने हाथ मे लिये हुए थे। आगे की सीट पर चि० सुमित्रानन्दन और चि० श्रीकण्ठ थे—व्हील पर थे चि० उर्मिलाचरण। मुझे देखकर कक्का बोले—डॉक्टर साहब, हम आपके ही लिए रुके हुए थे। मैं

पूरी शक्ति लगाकर स्थिति को सँभालने का प्रयत्न कर रहा था—वे लोग तो सभी जैसे हतज्ञान हो चुके थे। कक्का के लिए 'भैया' अग्रज, अभिभावक, गुरु और मित्र सब कुछ थे। ऐसा लगता था मानो अपनी सम्पूर्ण भावना के साथ-साथ विचारणा भी वे भैया को समर्पित कर चुके थे। जीवन मे चिररुग्ण भैया के लिए कर्म का पूरा दायित्व उन्होने अपने ऊपर ले लिया था और बदले मे विचार का सम्पूर्ण दायित्व उन्हे सौपकर वे निश्चिन्त हो गये थे। इसलिए भैया के न रहने पर वे एकदम असहाय से हो रहे थे और उस समुदाय मे सबसे बडे होने पर भी अपने स्वभाव और अभ्यास के कारण वे व्यवस्था आदि के लिए आदेश देने की अपेक्षा आदेश पाने की प्रतीक्षा करते रहते थे। अन्त में उन्होने कह दिया कि जैसा डॉ० नगेन्द्र कहे वैसा ही किया जाए। करना ही क्या था—करने को रह ही क्या गया था ? घर की मरकरी फ़ोर्ड गाडी जो शायद एक-डेढ़ वर्ष पूर्व बापू के ही प्रस्ताव पर खरीदी गयी थी, शव-यात्रा की शिविका बनी—साथ मे एक टैक्सी कर दी गयी जिसमें शेष परिवार जन—भाई रघुवीरशरण, भाई श्रीनिवास—परिवारभुक्त वैद्य मुशी देशराज आदि बैठ गये। प्रस्थान का दृश्य अत्यन्त कारुणिक था—गाडियाँ चलते ही सभी लोग जोर-ज़ोर से रोने लगे। अपने जीवन मे इतने असंयत भाव से मैं कभी नही रोया। मेरे मन मे यह भावना रहती है कि प्रत्येक मनुष्य के राग-द्वेष और हर्ष-विषाद उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ है—सार्वजनिक रूप मे उनकी अभिव्यक्ति प्रदर्शन बन जाती है जो किसी भी रूप मे वाछनीय नही हो सकती। इसीलिए अपने राग की अप्रच्छन्न अभिव्यक्ति में भी मुझे उतनी ही लज्जा और संकोच का अनुभव होता है जितना कि द्वेष और मत्सर की मुक्त अभिव्यक्ति मे। न जाने क्यों मेरे मन से यह सामन्तीय संस्कार अब भी नही निकल पाता है कि पुरुष को नहीं रोना चाहिए। इसलिए मैं ऐसे अवसरों को, जबकि भावना का नियन्त्रण करने की सम्भावना नही होती, बचाने का प्रयत्न करता हूँ और जहाँ यह नहीं हो पाता वहाँ मुझे बाद मे मन ही मन लज्जा का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ये सभी मनोवैज्ञानिक प्रतिबन्ध टूट गये—मीनाबाग़ का प्रागण अनेक प्रौढ़जनो और वयस्को के क्रन्दन से भर गया। श्रीनिवास, ऊर्मिल और मैं ज़ोर-ज़ोर से रो उठे—कक्का, सुमित्रा आदि का रुदन नीरव था। बापू को लेकर गाडी चल दी; तभी मुझे याद आया कि राजघाट के दर्शन कर उनकी आत्मा को विश्रान्ति मिलेगी। इसीलिए मैंने भागते-भागते ऊर्मिलजी से कह दिया कि गाड़ी को राजघाट के सामने से होकर ले जाना।

मरकरी फोर्ड भरभराकर चली गयी। ६०-६५ मील की रफ़्तार से चल कर २ बजे तक बापू का शवयान चिरगाँव पहुँच गया और उसके एक घण्टे पीछे टैक्सी भी शेष परिजनो को लेकर पहुँच गयी। २९ मार्च, १९६३ को सन्ध्या के ७ बजे चिरगाँव मे ही कनकनेवश की परम्परागत श्मशान भूमि मे बापू के पार्थिव अवशेष अग्नि को समर्पित कर दिये गये और २ अप्रैल को श्री चारुशीलाशरण एव चि० सुमित्रानन्दन गुप्त, चि० ऊर्मिलजी तथा कण्ठजी उनके फूलो को श्री अयोध्याजी एव प्रयाग जाकर विर्सजित कर आये। बापू की सौम्य मुखाकृति और उसमे से झाँकती हुई स्नेह-सिक्त आँखे मेरे सामने निरन्तर घूमती रही। कई बार इच्छा हुई कि चिरगाँव जाकर अन्तिम सस्कारो मे भाग लूँ पर चेतना इतनी शिथिल हो गयी थी कि कुछ करने का साहस ही नही हुआ।

चित्त बडा उदास रहा। बार-बार मन मे आता था कि बापू न जाने क्या कहना चाहते थे। कभी-कभी यह ग्लानि होती थी कि मैं उनकी अन्तिम आज्ञा नही सुन सका। उस उदासी मे अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क मेरे मन मे उठते रहते थे। धीरे-धीरे समय बीता। शुद्धि के बाद बापू का रिक्थ पत्र खोला गया तो मालूम हुआ कि उसमे २०,०००) रुपये की राशि एक पुरस्कार के लिए नियोजित की गयी है; पुरस्कार का नामकरण दद्दा के नाम पर किया गया है और उसके चार न्यासियो मे मेरा भी नाम है। इस दूसरे तथ्य के उद्‌घाटन से मेरी कल्पना को विराम मिला; कदाचित् इसी संदर्भ मे वे मुझे बार-बार याद कर रहे थे।

× × ×

सियारामशरणजी चले गये। जिसका जाना निश्चित हो उसे कौन रोक सकता है? फिर भी मनुष्य अपनी आदत से मजबूर है। मृत्यु के बाद भी मानव-मन वैचारिक पोस्टमार्टम करता रहता है। तर्क-वितर्क का वह क्रम अभी टूटा नही है। अभी कुछ दिन पहले हम लोग झाँसी में ही थे। वैद्य देशराजजी और कक्का हमे छोड़ने स्टेशन आये हुए थे। स्वभावतः बापू के निधन का प्रसंग छिड गया।

मैंने कहा—मेरे मन मे बार-बार यह आता है कि डॉक्टर ने पूरे ओषधि-बल से हृदय-रोग पर आक्रमण कर उसे तो वश मे कर लिया, किन्तु जिस शरीर पर वे उन तीव्र ओषधियो का प्रयोग कर रहे थे वह अनेक रोगो के निरन्तर प्रहार से पहले ही जर्जर हो चुका था। परिणाम यह हुआ कि नया रोग तो काबू में आ गया पर पुराने रोग पूरे वेग से उभर आये और अन्त में

आन्त्रिक अवरोध ही उनकी मृत्यु का कारण बना। मेरा यह विश्लेषण एक सामान्य जन का विश्लेषण मात्र है। शायद एकदम गलत भी है, क्योकि सम्भावना यही थी कि हृद्‌रोग पर तुरन्त ही काबू किये बिना उनकी मृत्यु उसी के कारण हो जाती। हम सबकी ही डॉक्टर की योग्यता और सद्‌भाव मे पूर्ण आस्था रही है और आज भी है, फिर भी मेरे मन से यह बात नही जाती—अतिस्नेह पापशंकी। उस दिन भी मैने यही बात कही।

यद्यपि वैद्यजी ने मेरे विचार के साथ कुछ सहमति प्रकट की, पर कक्का ने कहा—कुछ भी हो भैया आगे जी नही सकते थे। और फिर, अलग ले जाकर बोले—'मृत्यु के कुछ समय पूर्व भैया ने मुझसे पूछा था कि तुम्हारी भाभी किस दिन गयी थी। ऐसा प्रश्न उन्होने जीवन मे पहली बार किया था और मेरा मन एक अतर्क्य विषाद से भर गया था। इसके अतिरिक्त एक कारण मेरे इस विश्वास का और भी है—जिन दिनो भैया 'गोपिका' के अन्तिम अंश लिख रहे थे, उनकी मनःस्थिति कभी-कभी ऐसी हो जाती थी कि मुझे अनायास ही यह भान होने लगता था मानो 'गोपिका' पूरी करने के बाद वे नही रहेगे—और मन यही चाहता था कि किसी-न-किसी बहाने से 'गोपिका' समाप्त न हो।'

ये दोनों ही कारण तर्क-सम्मत नही थे और सामान्यत. मेरा विवेक उन्हे स्वीकार न करता; परन्तु मेरी अन्तरात्मा उनका प्रतिवाद न कर सकी—मन, वचन से भैया के साथ पूर्ण ऐकात्म्य स्थापित कर लेने वाले अनुज की प्रतीति को झुठलाने का साहस मुझे नहीं हुआ।

मौत की परिधि में

[रामकिशोर द्विवेदी]

२६ मार्च, १९६३, आज सुबह से ही मन न जाने कैसा हो रहा है। जैसे किसी आत्मीय के न रहने पर उदासी और विरसता के बादल दिमाग में छा जाएँ और उन बादलो के बीच एक अजीब-सी टीस रह-रहकर बिजली की चमक की तरह लगे। दूर भूत मे लटका हुआ विस्मृति का झीना-सा पर्दा हिलता दिखता है और उस पर्दे के पीछे दिखता है एक धुँधला-सा दृश्य।

दरियागज (दिल्ली) स्थित 'पूर्वोदय प्रकाशन'। समय, १९६१ की कोई एक ढलती दुपहरी। पहली मजिल पर बने प्रकाशन-कार्यालय की बालकनी पर एक मूँज की अन-बिछायी खाट पडी हुई है। उसमे बैठे हुए है प्रकाशन के मालिक सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार। चारपाई पर बहुत से सन्तरे पडे हुए है। चारपाई के सिरहाने रखी कुर्सी पर आसीन है एक दूसरे वयोवृद्ध सज्जन। कद छोटा, रग साँवला तथा बदन पर खद्दर की धोती और कुर्ता। चेहरे की झुर्रियो के भीतर से झाँकती हुई एक बच्चे की-सी सरलता सहसा अपनी ओर आकर्षित करती है। श्री मोहनसिंह सेंगर ने परिचय कराया है—'आप है सियारामशरणजी और आप है डॉक्टर······ पास ही के आँख के अस्पताल मे काम करते है।' और···और फिर क्षणों का परिचय मानो बरसों पुराना हो गया हो। बातचीत जारी है। सहसा उनके चेहरे पर एक अजीब-से विवशताजन्य दर्द की छाया जरा देर के लिए दृष्टिगत होती है। 'भैया, मुझे तो बहुत पुराना दमा है। मै तो होमीराड पास ही रखता हूँ। जब कभी जरूरत हुई, तो चुरुट बनाकर पी लेता हूँ। एक बार तो इस रोग ने मरणासन्न कर दिया था, और जैनेन्द्रजी की शुश्रूषा का ही फल है कि मैं आज यहाँ बैठा हूँ।' अक्सर दर्द-कथाएँ डॉक्टरो पर विशेष प्रभाव नही डालती, क्योंकि ऐसे किस्से सुनना उनके लिए रोजमर्रा का काम हो जाता है। किन्तु यह कथा कुछ ऐसी निश्छलता और आत्मीयता के साथ सुनायी गयी है कि प्रभावित किये बगैर नहीं रहती। गुप्तजी पूर्ण वैष्णव तथा सात्विक वृत्ति वाले कवि हैं। वे केवल लेखन मे ही नही, बल्कि जीवन में,

व्यवहार मे भी पूर्णत गाधीवादी है। ठीक-ठीक याद तो नही, लेकिन इसी बीच सेंगरजी, जैसा कि उनकी आदत है, कोई फुलझडी दाग देते है। सब लोग हँस पडते है और साथ ही गुप्तजी भी। एक सहज और निश्छल हँसी, भीतर-बाहर को मिलाती हुई हँसी।

विस्मृति का झीना पर्दा और करीब आता है और एक दृश्य स्पष्टत: नजर आता है। २५ फरवरी, १९६३, दोपहर ढले तीन का समय। नई दिल्ली स्थित नेशनल म्यूजियम तथा विज्ञान भवन के बीच का फासला। विज्ञान भवन की ओर से आते हुए दीखते है श्री सियारामशरणजी। वे पूर्ण स्वस्थ दिखते है। खादी की पोशाक, सहज, सरल चाल और निरभिमान व्यक्तित्व। 'नमस्कार गुप्तजी!' एक करबद्ध नमस्कार का एक करबद्ध विनम्र उत्तर—'नमस्ते भय्या।' और उनकी आँखे सहजभाव से पूर्व-परिचित चेहरे पर कुछ खोजने-सा लगती हैं। 'पहचाना आपने मुझे ?' 'हाँ, आप डॉक्टर··· ?' हाँ, मै डॉक्टर द्विवेदी हूँ। जैनेन्द्रजी के यहाँ एक बार आपसे मिला था। आजकल आप यही है ? दद्दा के साथ ठहरे होगे।' 'हाँ भय्या, मैं यहीं हूँ।' 'अच्छा आज मैं आज्ञा लूँगा, तीन बजे विज्ञान भवन पहुँचना था, लेट हो गया हूँ। फिर दर्शन करूँगा। अच्छा, नमस्कार!' और इतना कहकर मै विज्ञान भवन की ओर सरपट बढ जाता हूँ और सोचता जाता हूँ। इतना विनम्र और सौम्य व्यक्तित्व ! मानो मूर्तिमान सौम्यता हो।

क्या करेगा वैद्य अब आकर भला ?

विस्मृति का पर्दा हट जाता है। २८ मार्च, रात के ८ बजे है। सर गगाराम नर्सिंग होम का ८ नम्बर का कमरा है। कमरे के भीतर श्री सियारामशरणजी अचेत पड़े हुए जल्दी-जल्दी साँस ले रहे हैं। दायें हाथ में इण्ट्रावेनस ग्लूकोज की ड्रिप लगी हुई है। नाक मे लगी नली के द्वारा ऑक्सीजन दी जा रही है। पेट कुछ फूला हुआ-सा जिसमें चौडी पट्टी बँधी हुई है। कुछ लोग शय्या की बगल मे बैठे तथा कुछ लोग कमरे मे खडे है। बगल मे रखी डॉली के ऊपर पोटेसियम क्लोराइड, माइकोरन, डिजाक्सिन, हाईड्रोकॉर्टिजोन आदि के इन्जेक्शन तथा कुछ और दवाइयाँ पड़ी हुई है। कमरे मे मौत का-सा सन्नाटा है। बीच-बीच मे कुछ लोग आपस मे बातें करने लगते है। मैने डरते हुए उनके पेट पर हाथ रखा है जो कि सख्त हो रहा है। आदतवश मेरा हाथ दाये हाथ की नाडी तक पहुँचता है। उनका हाथ ठण्डा हो रहा है। नाड़ी कुछ कमजोर और गति में तेज है और एक अजीब से विषाद का एहसास कराती है जो कि अक्सर मृत्यु के पहले होता है। मुझे अपनी हरकत खुद को कुछ अजीब व

नाटकीय-सी लगती है। मैने वहाँ खडे सज्जन से उनकी बीमारी के बारे मे कुछ पूछ-ताछ की है और पुनः व्याधि-जर्जर कवि के चेहरे पर एक निगाह डाली है। सारे वातावरण मे असहायता का भाव है। शायद ठीक वैसा ही एहसास जो कि कभी 'प्रयाणोन्मुखी' कविता लिखने के पूर्व कवि को हुआ था, वहाँ मौजूद सभी लोगो को हो रहा है

क्या करेगा वैद्य अब आकर भला,
मृत्यु ने जब आ दबाया है गला।

किन्तु मरणोन्मुख कवि के चेहरे पर एक निश्चिन्तता का भाव है क्योंकि शायद वह जानता है कि उसका अन्त कभी नही होने वाला। मानो वह अव्यक्त रूप से काल को चुनौती दे रहा हो :

अमर हूँ मै ओ काल कराल,
कर सकेगा तू क्या मेरा,
रहूँगा जीवित मैं चिरकाल,
व्यर्थ यह भ्रू-कुंचन तेरा ?

[पाथेय मे सकलित 'अमर' शीर्षिका कविता से]

ज्यादा देर कमरे में ठहरना न जाने क्यों मेरे लिए असम्भव-सा हो गया है और मैं बाहर निकल आया हूँ। कमरे के बाहर बहुत-से लोग खड़े है जिनमें कुछ हिन्दी के कवि व प्रकाशक तथा गुप्त परिवार के सदस्य है। श्री यशोधर मोदी, रामावतार त्यागी, श्याममोहन श्रीवास्तव, द्वारकादास व अन्य कई परिचित घेरकर पूछते है—भाई डॉक्टर, क्या हालत है ? शायद सबका अन्तर्मन कुछ शुभ सुनना चाहता है। और मैंने न चाहकर भी प्रोफेशनल अन्दाज मे कहा है : 'प्रोग्नोसिस इज वेरी ग्रेव' (स्थिति बडी गम्भीर है) उफ ! हम कितने असहाय है। मृत्यु के आगे हमारा कोई वश नही ! असख्य प्रियजनों की मगल कामनाएँ, सारे वैज्ञानिक उपकरण एक आदर्श सर्वप्रिय व्यक्ति को सुरक्षित रखने में असमर्थ है।

रात गये हम सब अपने-अपने घर लौट आते हैं।

और २६ मार्च आज प्रातः ही एक प्रत्याशित किन्तु हृदय-द्रावक समाचार सुनने को मिला है। स्वजन दुखी है—राजधानी के लोग दुखी हैं—सारा हिन्दी-जगत दुखी है। साहित्यकार श्री सियारामशरण गुप्त नही रहे। गांधी-दर्शन का एक अनूठा भावात्मक व्याख्याता संसार से उठ गया है। आज सारे वातावरण में उदासी और विरसता छायी हुई है।

और विलिंगडन अस्पताल की वह रात

स्व० सियारामशरणजी बचपन से ही दमे के शिकार थे और ६७ वर्ष की अवस्था तक इस पूर्णरूप से असाध्य रोग को ढोते आये। दमा के दौरे की तीव्रता एव तज्जन्य मानवी वेदना का एहसास वही कर सकता है जो उसे भोगता है। दीर्घकालिक श्वास रोग से ग्रस्त होने के कारण आहिस्ता-आहिस्ता उनके फुफ्फुसो तथा उनसे सम्बन्धित रक्तवाहिनियो मे कुछ ऐसे परिवर्तन हुए, जिनके कारण उन्हे पुराना फुफ्फुसजन्य हृद्रोग अर्थात् क्रॉनिक कॉरपल्मोनेल हो गया। कॉरपल्मोनेल मे हृदय की दाहिनी मेण्ट्रीकल मूलत प्रभावित होती है। करीब ६ साल पूर्व उन्होने प्रोस्टेट का आपरेशन करवाया था। आपरेशन पेट के निचले हिस्से के बीचो-बीच चीरा लगाकर हुआ था। बाद मे चीरे की जगह पर उन्हें हर्निया हो गया। इस रोग को भी वे ढोते चल रहे थे। दिल्ली मे उनके चिकित्सक थे सिटी क्लिनिक वाले डॉ० दीवान। और वे बरसों से उनका इलाज करते आ रहे थे। क्रॉनिक कॉरपल्मोनेल तथा दमे का इलाज, जो कि शायद जीवन के अन्त तक चलता रहता है। दमे के दौरे के लिए गुप्तजी होमोराड (?) नामक किसी चीज का चुरुट बनाकर पिया करते थे। गोकि यह चीज उनके लिए हानिकारक थी पर डॉ० दीवान उन्हे इसके लिए कभी रोक नहीं सके। क्योकि इस पर उनका विश्वास था। और डॉक्टर उनके विश्वास पर किसी प्रकार भी आघात नही करना चाहता था, क्योकि वे (बकौल डॉ० दीवान) साधारण आदमी नहीं थे। डॉ० दीवान की उनके प्रति श्रद्धा थी और डॉ० दीवान पर उनकी प्रगाढ़ आस्था और विश्वास।

इलाज की पहली शर्त है मरीज का डॉक्टर पर पूर्ण विश्वास व आस्था। डॉक्टरो की अर्थलोलुपता और कर्तव्यहीनता पर 'डॉक्टर' जैसी व्यंग्यात्मक कविता के द्वारा प्रहार करने वाला स्वाभिमानी कवि किसी एक डॉक्टर पर अटूट विश्वास रखे यह जरा भी आश्चर्य की बात नही है। क्योकि वे कवि के साथ-साथ एक आदर्श पुरुष, आदर्श मरीज थे। डॉक्टर दीवान पर उनके अटूट विश्वास का कारण एक कहानी है और वह कहानी डॉ० दीवान की जुबानी कुछ यूँ है :

सन् ५८ की बात है। दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त) 'यूरीमिया' तथा 'कॉरोनरी' के शिकार होकर विलिंगडन अस्पताल मे भरती हुए थे। डॉ० दीवान उन दिनों सरकारी नौकरी पर वही थे। दद्दा के बचने की कोई उम्मीद नहीं थी, किन्तु डॉ० दीवान का भाग्य कि वे वहाँ से चलकर आये। तभी से सारा गुप्त परिवार डॉक्टर दीवान का हो गया। मृत कवि का विश्वास भी डॉ० दीवान का हो गया।

मृत्यु के दस दिन पूर्व उन्हे हृत्शूल शुरू हुआ। डॉ० दीवान ने उचित इलाज के लिए उन्हे गगाराम अस्पताल मे भर्ती कर लिया। इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम लिया गया। उसमे कॉरपल्मोनेल के अतिरिक्त मामूली से हृत्पेशी-रक्ताल्पता के लक्षण दिखे। इनका इलाज किया जाता रहा। डिजॉक्सिन, मूत्रवर्द्धक दवा, ऑक्सीजन आदि दी जाती रही, किन्तु हालत और बिगडती ही गयी। डॉ० दीवान ने उनसे कहा कि दूसरे डॉक्टर को मशविरे के लिए बुला ले। उत्तर मिला · "हमें आपके इलाज की पूर्णता और योग्यता पर पूरा विश्वास है।" आखिर हालत बदतर होती गयी। एक दिन सारे बदन मे ऐठन शुरू हुई, कई बार कै हुई और वे बेहोश हो गये। डॉ० दीवान ने अपनी ओर से डॉ० शर्मा को बुलाया। दुबारा इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम लिया गया। उसमे पोटेसियम की कमी के लक्षण दिखे। उन्हे ड्रिप के द्वारा पोटेसियम दिया जाने लगा। शायद पोटेसियम की कमी के कारण ही उनकी आँते क्रियाहीन हो गयीं और पेट फूल आया। पोटेसियम की कमी तो नियंत्रण मे आ गयी, किन्तु मौत किसके नियन्त्रण मे आ सकती है। इसी बीच गुर्दा-दोष पैदा हो गया। और इतना ही नही, मृत्यु के दो दिन पूर्व बेहोशी की हालत मे ही दमे का आखिरी भयंकरतम दौरा शुरू हुआ। ऐसा दौरा जो कि हर सम्भव इलाज के बावजूद नही रुका। डॉ० दीवान का केस बहुत ही जटिल था। वे किसी तरह भी अपने प्यारे मरीज को नही बचा सके। उन्हे यह मरीज खोकर जितना दुख हुआ शायद और कभी नही हुआ!

स्वार्थों की कुर्बानी : विषमताओं का हलाहल

सियारामशरणजी आज मरकर भी अमर है। वे हिन्दी साहित्य में गाधीवादी विचारधारा के अग्रणी कवि, कहानीकार व लेखक थे। गाधीवादी होने के नाते सत्य, अहिंसा और शान्ति के पुजारी थे, किन्तु वे ऐसी शान्ति को कभी बर्दाश्त नही कर सकते थे, जो किसी दुर्दम सत्ता के आगे घुटने टेककर माँगी जाए। कायर बनने से बेहतर है शस्त्र उठाया जाए और शान्ति हासिल की जाए। 'पाथेय' मे सकलित 'शंखनाद' नामक कविता मे वे कहते है :

> 'यह मृत-शान्ति असह्य हो उठी,
> छिन्न इसे कर दे तू आज,
> मृत्युंजय इस घट में अपना
> कालकूट भर दे तू आज,
> ओ कठोर, तेरी कठोरता
> कर दे हमको कुलिश-कठोर,
> विचलित कर न सके कोई भी
> झंझा की दारुण झकझोर।'

देश की वर्तमान सकटकालीन स्थिति मे गाधी-दर्शन के अमर गायक का यह उद्घोष प्रेरणादायक है और मार्गदर्शक भी ।

गुप्तजी आदर्शवादी थे, केवल लेखन मे ही नही, बल्कि व्यक्तिगत जीवन मे भी । वे बाहर-भीतर से एक जैसे थे । आज के कुछ हिन्दी साहित्यकारो के निकट सम्पर्क में जो साधारण व्यक्ति आता है वह यह महसूस करता है कि ये ईर्ष्या, द्वेष, सकुलता, बहुरूपियापन आदि दुर्गुणो से मुक्त नही है । आखिर ऐसा क्यो है ? समाज के नेतृत्व का भार ढोने वाले इन साहित्यकारो का पारा मानवीय मूल्यो के बैरोमीटर मे इस हद तक तलस्पर्शी क्यो है ? कारण कुछ भी हो सत्य-शिव सुन्दरम् की सर्जना के लिए हमे व्यक्तिगत जीवन में इस स्थिति से ऊपर उठना होगा । मानवीय मान्यताओ के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करनी होगी । क्षुद्र स्वार्थों की कुर्बानी देनी होगी । विषमताओ का हलाहल पीना होगा । साहित्यकार का पथ काँटो का पथ है, आदर्श का पथ है । सियारामशरणजी के आदर्श जीवन से हमें सीख लेनी चाहिए । शायद साहित्य के अखाडे के नवागन्तुको को ही इगित करके यशलब्ध कवि ने कहा है :

'आ सकेगा नर वही मेरे निकट
क्रूस जो अपना उठाकर चल सके ।'

['अमृत पुत्र' से]

अन्तिम दर्शन

[डॉ० सावित्री सिन्हा]

लगभग दस वर्ष पूर्व, नार्थ एवेन्यू में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के निवास-स्थान पर मै धडकते हृदय और सकोच के साथ खडी थी। 'साकेत और यशोधरा' के कवि मैथिलीशरणजी के दर्शन की कामना से मै पहली बार उनके यहाँ गयी थी। दरवाजा थपथपाकर मै उसके खुलने की प्रतीक्षा कर रही थी कि दूसरी ओर का कमरा खुला। सामने के सोफे पर बैठे हुए दद्दा कुछ पढ रहे थे और बापू उन्ही के पास की कुर्सी पर मौन बैठे हुए थे। मैं उनकी आश्चर्यजनक सहजता और सादगी की भव्यता से अभिभूत निर्निमेष खडी रह गयी। अभिवादन के लिए मेरे हाथ उठे उसके पहले ही बापू हाथ जोडकर खडे हो गये। मेरी समझ में नही आया इस विनम्र गरिमा को अपनी तुच्छता से कैसे सँभालूं। मैं सहसा ही राम और गाधी के इन उपासको के चरणों पर झुक गयी।

अवहेलना किये जाने पर भी शान्त

पहली ही बार दद्दा और बापू के स्नेह और वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से मुझे इतना प्रोत्साहन मिला कि अपनी तुच्छता को उनके घर के महत वातावरण के अनुपयुक्त समझते हुए भी मैं उनके दर्शन का लोभ संवरण नही कर पाती थी और प्राय. हर तीसरे दिन उनके यहाँ पहुँच जाती थी। एक घटना से मैं बापू के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे आयी। उनके अनुज श्री चारुशीलाशरण की पुत्रवधू भारती कुछ अस्वस्थ थी, उन्हे अपनी चिकित्सा और परीक्षण के लिए प्राय: नित्य ही एक स्थानीय अस्पताल में जाना होता था। दद्दा ने कृपापूर्वक यह कार्य मुझे सौपा। 'बापू' भी उनके साथ आते थे। मैं भारती को लेकर अन्दर जाती और बापू बाहर गाडी मे बैठे प्रतीक्षा करते रहते। एक दिन बापू और भारती वहाँ मुझसे पहले पहुँच गये। मैं पहुँची तो देखा बापू की साँस फूल रही है और वह अटक-अटककर, हाँफ-हाँफकर ड्यूटी-नर्स से कुछ बात कर रहे हैं। मेरे तो प्राण सूख गये। सार्वजनिक अस्पताल की नर्सों के लिए उच्चता का मापदण्ड व्यक्ति की वेशभूषा और अंग्रेजियत होती है; कही बापू

की सरलता और भारतीयता के कारण वह उनके साथ कोई गलत व्यवहार न कर दे, इस भय से भागती हुई उनके पास पहुँची; नर्स को बताया कि वह कौन है। अग्रेजी मे बातचीत कर अपना प्रभाव डाला। बापू ने जेब से निकालकर सुशीला नय्यर का पत्र दिखाया, जो उन्होने अस्पताल की सरक्षिका के नाम लिखा था। मेरी अग्रेजी बोलने की सामर्थ्य और डॉ० सुशीला नय्यर के पत्र को देखकर नर्स की भौहो के बल कुछ कम हुए। मेरी जान मे जान आयी और मैने सोचा कि न जाने कब तक भारत के मनीषी, साहित्य-कार, दार्शनिक और कवि को राजनीतिक नेताओ की पकडाई हुई लकडी के सहारे चलना पडेगा, न जाने कब तक केवल हिन्दी बोलने का अपराध करने वाले महान् साहित्यकारों के अपमान की आशंका बनी रहेगी ! पर बापू पर इस घटना का कुछ प्रभाव नही पडा, उनकी सहज मुस्कान मे कही वक्रता नही आयी। सतत शारीरिक पीडा से धुँधले नेत्रों की चमक और स्निग्धता वैसी ही बनी रही।

प्रशंसा करते थे तो किये जाते थे

बापू दूसरो की प्रशसा करते हुए तिल का ताड बना देते थे। कभी-कभी उनके मुँह से अपनी प्रशसा सुनने वालो को बडे संकोच मे पड जाना पडता था। एक ही घटना को वह अनेक व्यक्तियो से अनेक बार दुहराते थे। मुझे यह सौभाग्य अनधिकार ही प्राप्त हो गया। एक दिन भारती डाक्टर के कमरे में थी, मैं भी, और बापू बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होने मुझसे पूछा—"आप कौन-सी कक्षाओं को पढाती है ?"

मैंने उत्तर दिया—"एम० ए० और बी० ए० को।"

बापू आश्चर्य मे आकर सहजता से बोले—"मैं तो समझता था, आप अध्यापिका है, प्राइमरी और मिडिल कक्षाओ को पढ़ाती होगी।"

उनकी सरलता से मै गद्‌गद हो गयी। किसी भी इन्टरव्यू बोर्ड का यह रिमार्क मुझे विश्वविद्यालय तो क्या किसी कालेज की नौकरी के उपयुक्त भी न ठहराता, लेकिन बापू के मुँह से अपने व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन से मैं अपनी ही दृष्टि में कुछ ऊँची हो गयी। गलत या सही, यह नही कह सकती।

कुछ ही दिनो बाद उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा—"आप डॉक्टर भी हैं ?" मैंने संकोच से सिर हिलाकर उत्तर दिया—"हाँ।"

"आपने मुझे उस दिन क्यों नहीं बताया था ?"

"आपने मुझसे पूछा कहाँ था, बापू !" मैंने कहा।

और उस दिन से मेरी 'आत्मगोपन शक्ति' की जो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा

बापू करते, उससे उनकी महानता, सरलता और ऋजुता के अनुभव से मैं मन-ही-मन विभोर हो उठती। आज भी उनके शब्द आँखो में आँसू बनकर बिखर जाते है।

एक दिन की बात है, बापू अपने किसी मित्र की गाडी मे विश्वविद्यालय आये हुए थे। ड्राइवर को गाडी लौटाकर ले जाना था। बापू गाडी से उतरे, हाथ जोडकर ड्राइवर से बोले—"अच्छा, नमस्ते ड्राइवरजी! आपको बडा कष्ट हुआ।" मै उनका मुँह देखती रह गयी। सलामी देने का आदी ड्राइवर आश्चर्यचकित उनकी ओर देखता ही रह गया। उसे भी कदाचित् यह पता नही होगा कि उसके प्रति इतनी कृतज्ञता व्यक्त करने वाला यह व्यक्ति सरस्वती का वरद् पुत्र है, हिन्दी का मूर्धन्य साहित्यकार है, मानवतावाद को अपने व्यक्तित्व मे उतार लेने वाला साधक और द्रष्टा है। उसका समाधान तो शायद बापू के गले मे पड़ी हुई तुलसी की माला, खद्दर के मोटे कुरते, सूखे बिखरे सफेद बालो और मोटे चमडे के जूतो ने किया होगा।

दूसरे ही क्षण यह सन्त मानव अपने वात्सल्य से बापू नाम को सार्थक कर रहा था। विश्वविद्यालय से लौटते हुए वह डॉ० नगेन्द्र के घर पर थोडी देर के लिए रुके। उनकी लड़की प्रतिमा को बुलाकर उन्होने कहा—"आज यमद्वितीया है, मुझे टीका नही लगाओगी?" सहज सकोचशील प्रतिमा बोली—"टीका तो भाई को करते है, आप तो बापू है!" परन्तु बापू टीका लगवाकर और मिठाई के रुपये देकर ही माने।

'गोपिका' पूरी हो गयी किन्तु···

इस बार जब बापू दिल्ली आये, उनका स्वास्थ्य आरम्भ से ही ठीक नही था। वह प्रायः नित्य ही अपने अस्वस्थ होने की बात कहा करते थे। एक दिन वह कुछ स्वस्थ थे। उन्होंने मुझसे कहा—"'गोपिका' पूरी हो गयी है, आप इसकी पाण्डुलिपि ले जाइए और पढ़कर बताइए इसमें कुछ दोष तो नही है?"

"बापू! आप क्या कहते है! मैं आपकी कृति मे दोष निकालने योग्य हूँ?"

"नही, नही, मेरा मतलब है पढ़ो और बताओ तुम्हे कैसी लगी। और क्यों? उन्मुक्त की अहिंसा तो आपको पसन्द नही है न, हो सकता है इसमे भी कुछ ऐसी ही बात हो, जिससे आप सहमत न हो।"

मैं 'गोपिका' की पाण्डुलिपि ले आयी, परन्तु उसके विषय मे बापू से कह सकूँ कि उनकी रचना हिन्दी के लिए एक नयी घटना है, ऐसा अवसर नही आ पाया। तीसरे ही दिन बापू अस्पताल चले गये। तीन दिन तक उनकी अवस्था बड़ी चिन्ताजनक रही। वह ऑक्सीजन के सहारे साँस ले रहे थे, परन्तु थे

चेतनावस्था मे। उनकी पीडा और वेदना देखी नही जाती थी। इन तीन दिनो मे दद्दा की चिन्ताग्रस्त मुद्रा देखकर बडी चिन्ता होती थी, ऐसा लगता था कही वह भी बीमार न पड जाएँ। उनके गम्भीर धैर्य के आवरण मे आवेष्टित व्यथा को समझकर जान पडता था, लक्ष्मण के शक्तिबाण लगने पर राम की भी यही दशा रही होगी। चौथे दिन बापू के मुख पर असाधारण शान्ति और प्रसन्नता थी। जैसे ही मै उनके पास गयी, अपने नेत्रो मे सहज स्नेह भरकर उन्होने पूछा—"गोपिका पढ़ी।" लेकिन मैंने जो उत्तर दिया उसे न वह समझ सके, न सुन सके। मैं कुछ और बोलती, वह कुछ और सुनते। मुझे बडी निराशा हुई। तब तक सबका यही विश्वास था कि तेज दवाओ के कारण बापू की श्रवण-शक्ति अस्थायी रूप से समाप्त हो गयी है। डाक्टर भी पूर्ण रूप से आश्वस्त थे कि उनकी हालत सुधर रही है, उन्होने दद्दा को चिरगाँव जाने की अनुमति दे दी। मैं लौटकर दरवाजे तक आयी कि उन्होंने मुझे पुकारा और पूछा—"दद्दा गये?" मैने कहा—"नही तो, वह कल शाम तक जायेंगे। आपकी तबियत तो अब अच्छी है?" उन्होने दो बार कुछ अनर्गल प्रलाप किया, मै चौकी। कही उनके मस्तिष्क में विकार तो नही आ गया है! उनकी आवाज मे भी काफी तेजी थी। कक्का और मै दोनो ही एक साथ बोल उठे—"बापू आप क्या कह रहे है?"

उन्होंने शान्त होकर बुन्देलखण्डी मे उत्तर दिया—"पता नही, मेरी समझ में नही आता मै क्या बोलता हूँ।"

मृत्यु का वह हृदयद्रावक रूप

उसके बाद वह विकार कान और मस्तिष्क ही नहीं, समस्त शरीर पर छा गया। कई बार बापू उठकर कमरे से निकलने लगते थे। २७ मार्च के अपराह्न में उन्होंने कहा—"डॉ० नगेन्द्र को फोन करके बुला दो।" लेकिन डॉ० नगेन्द्र के पहुँचने तक वह अन्तिम तन्द्रा मे अचेतन पडे थे, कुछ कहने-सुनने की शक्ति उनमें नहीं रह गयी थी, कभी-कभी 'श्री राम' और 'दद्दा' उनके मुँह से मुश्किल से निकलता था। 'बापू' पुकारने पर उनकी पथरायी हुई आँखें थोडी खुलती और फिर बन्द हो जातीं। २८ मार्च को मैं कई घण्टे उनके पास रही। नाक में ऑक्सीजन की नली सतत रूप से लगी थी, फलो का रस और ग्लूकोज नलियो से चढ़ाया जा रहा था—डाक्टर अन्तिम क्षण तक आशावान थे। बापू ने एक बार आँख खोली। मैं और गिरधारी (उनका पुराना सेवक) सामने खड़े थे, उन्होंने गिरधारी को ऐसे नेत्रो से देखा जैसे कोई विदा लेता हुआ पिता पुत्र को देख रहा हो, उनकी साँस ऊर्ध्वगति से

चल रही थी। मैं मृत्यु का यही रूप एक बार पहले देख चुकी थी, इसलिए मेरे मन की शका बराबर बढती ही जा रही थी। बापू की साँस धीरे-धीरे कम होती गयी, आँखो की चेतना लुप्त होती गयी, पर कोई यह विश्वास करने को तैयार न था कि बापू जा रहे है, हमारी आशाओ के विपरीत, और डाक्टरो के आश्वासन के विपरीत जा रहे है।

दद्दा के घर मे बापू की गीता का नियमित रूप से पारायण होता है। स्वजन, परिजन, मित्र, नौकर-चाकर सब एक साथ बैठे उसका पाठ करते है। आज भी चिरगाँव मे दद्दा का घर, बापू की दिवगत आत्मा की शान्ति के लिए, बापू की ही गीता के स्वर से गूँज रहा होगा—

सर्व काम परित्यागी विचरे नर निःस्पृह,
अहंता-ममता मुक्त, पाता परम शान्ति सो !
ब्राह्मीस्थिति यही पार्थ, इसे पाके न मोह है,
टिकती अन्त में भी है ब्रह्मनिर्वाण दायिनी।

काश ! मैं भी वहाँ पहुँच पाती।

भाग २

आलोचना

सियारामशरण के ग्रन्थ

[श्री विद्याभूषण अग्रवाल, एम० ए०, साहित्य-रत्न]

गुप्त-बन्धुओ ने हिन्दी-संसार की जो सेवा की है वह अनेक दृष्टियो से विशेष महत्त्व रखती है। मैथिलीशरण की ही भाँति सियारामशरणजी की प्रतिभा भी बहुमुखी और उर्वर रही है। अनेक सुन्दर ग्रन्थो की रचना करके उन्होने हिन्दी-साहित्य की वृद्धि की है।

सियारामशरण ने अनेक ग्रन्थ लिखे है, परन्तु ऐसे हिन्दी-पाठक अधिक नहीं होगे, जिन्होंने उनके प्राय सभी ग्रन्थो का अध्ययन किया हो। उनके ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि है, किन्तु कुछ पाठक उनमे सरसता तथा प्रासादिकता का अभाव पाते है। कदाचित् यही कारण है कि उनके ग्रन्थो का पठन-पाठन क्षेत्र थोड़ा सीमित हो जाता है। हल्की मर्मस्पर्शिता के सहारे 'पापुलर' होने का लोभ सियारामजी पूरी तरह सवरण कर चुके है। उनके समस्त ग्रन्थों का सुचारु रूप से अध्ययन करने के लिए पर्याप्त अवकाश ही नही, जीवन की गहराइयो मे जाने का धैर्य और अभ्यास भी अपेक्षित है। अधुनातम हिन्दी-साहित्य की थोथी भावुकता और सरसता पर पले हुए पाठक को आपकी रचनाओं का पाठ करने में कुछ न कुछ कष्ट प्रतीत होता है।

सियारामशरणजी ने विशेष ख्याति अपने उपन्यास 'नारी' के कारण पायी। फिर भी, कविता के क्षेत्र में जो कार्य आपने किया वह अमर और स्थायी है। यहाँ हम आपके प्राय: सभी ग्रन्थों की संक्षिप्त झाँकी पाठको को देना चाहते हैं। हम क्रमशः आपके काव्य-ग्रन्थ, उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा नाटकादि का परिचय देंगे।

काव्य-ग्रन्थ

मौर्य-विजय (सं०१९७१)—सियारामशरणजी ने अपनी प्रारम्भिक प्रेरणा भारत के प्राचीन गौरव से ग्रहण की। राष्ट्र के निर्माण-कार्य मे अतीत का गौरव-गान हमारे स्वतन्त्रता-युद्ध की परम्परा रही है। 'मौर्य-विजय' मे कवि ने सिल्यूकस के भारत-आक्रमण की कथा को लिया है। कवि का ध्येय पाठक के हृदय मे स्वदेशानुराग का उदय कर उसे अतीत गौरव से परिचित कराना

ही है। वह समझता है कि आत्म-विस्मृति ही देश की अवनति का मूल कारण है। इस काव्य की रचना तीन सर्गों मे समाप्त हुई है।

यह द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य का सुन्दर उदाहरण है। कथा छप्पय छन्दो मे कही गयी है जिससे प्रवाह मे गति कुछ मन्द अवश्य हो उठती है। ग्रन्थ रामवन्दना से प्रारम्भ होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के ऐश्वर्यपूर्ण राज्य के वर्णन के पश्चात् कवि ने सिल्यूकस के आक्रमण को छन्द-बद्ध किया है। चाणक्य मन्त्री के आप्त वचन सुन्दर बन पडे है। ग्रीक और हिन्दू-सेनाओ के भयकर युद्ध का सुन्दर ओजस्वी वर्णन किया गया है। निम्नलिखित गीत मे कवि ने तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण को ध्वनित किया है ˙

जय जय भारतवासी कृती
जय जय जय भारत मही !

अन्त मे सिल्यूकस की एथेना से चन्द्रगुप्त के विवाह का वर्णन है। 'मौर्य-विजय' राष्ट्रीय गौरव की भावना से ओत-प्रोत है। सुन्दर कथात्मक शैली में लिखे गये काव्य की दृष्टि से यह कवि की एक अमर कृति है।

अनाथ (स० १९७४)—कवि का हृदय इस देश की घोर दरिद्रता और सामाजिक कुरीतियो से सदा प्रभावित रहा है। उसी प्रभाव का परिणाम है कि स्थान-स्थान पर सियारामशरणजी ने ग्रामीण-जीवन तथा उसके नारकीय जीवन के इतने मर्मस्पर्शी चित्र हिन्दी-साहित्य को दिये है। 'अनाथ' में कवि के सुकोमल हृदय का मार्मिक चित्र प्राप्त होता है। इसमें ग्रामीण-जीवन का एक करुण चित्र है, जिसमें जमीदारी-प्रथा, बेगारी तथा शोषण और पुलिस के हृदयहीन अत्याचारों की कहानी है। मोहन और उसकी स्त्री यमुना साधारण ग्रामीण हैं। उनका पुत्र मुरलीधर मृत्यु-शय्या पर निःसहाय अवस्था में पड़ा है। इस पृष्ठभूमि पर जमीदार के अत्याचार और पुलिस के हृदयहीन व्यापार मुखर हो उठते है। इस काव्य मे उस समय की राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य है।

दूर्वादल (सं० १९७२–८१ की रचनाओं का सकलन)—यह काव्य-ग्रन्थ कवि के साहित्यिक विकास और प्रगति का परिचायक है। इसमे विभिन्न-विषयक रचनाओं का संग्रह है, जो कवि ने समय-समय पर अपने तथा देश के जीवन से प्रभावित होकर लिखी थी। कवि का आत्म-पीड़न तथा अपने जीवन को सोद्देश्य और महत्त्वपूर्ण बनाने की सदभिलाषा अनेक रचनाओं मे व्यक्त हुई है। सियारामशरण की उदात्त वृत्तियो से अभिभूत व्यक्तित्व भली प्रकार से इन रचनाओं में निखर आया है। जन्मभूमि की प्रशस्ति मे भी कई कविताएँ

लिखी गयी है। इस संकलन की इन तीन रचनाओ ने काफी ख्याति प्राप्त की है : तुलसीदास; घट, वर्ष-प्रयाण।

'दूर्वादल' की कविताओ से स्पष्ट है कि इन वर्षो मे कवि की शैली अधिक परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी है। देश के राष्ट्रीय और सास्कृतिक नव-जागरण (Renaissance) का सबल स्वर इनमे विद्यमान है; साथ ही युगीन छायावादी और रहस्यवादी शैली की कविता का भी गुप्तजी पर प्रभाव पड रहा था। 'घट', 'वीणा', 'पथ' तथा 'कब' शीर्षक कविताएँ इसका उदाहरण है। सुकोमल भावो की सूक्ष्म व्यजना करने वाले लघु-गीतो की जो शैली उस दशक मे चल पडी थी उसका भी बहुत कुछ प्रभाव इस सकलन की कविताओं मे परिलक्षित है। एक उदाहरण लीजिए :

किस दिन माया जाल तोड़ के
गेह निज छोड़ के,
बाहर हुए थे इस अक्षय भ्रमण को ?
—विश्व महासिन्धु सन्तर को ?
हे सर्वत्रगामी चर
विचर-विचर कर
ढूँढ़ते किसे हो तुम,—
कौन प्रेयसी है वह, चाहते जिसे हो तुम ?

[पथ]

कई कविताओं मे 'सम्बोधन' शैली (Ode) का अनुकरण किया गया है। इन सभी तथ्यो से यह स्पष्ट है कि कवि इस समय अपने चारो ओर होने वाली काव्य-प्रगति से पूर्णरूपेण परिचित था और उसे सहानुभूति के साथ ग्रहण कर अपनी प्रतिभा के सहारे हिन्दी-कविता को एक नवीन दिशा और नये विषय प्रदान करने के प्रयत्न मे सलग्न था। अन्य रचनाओ में कवि का आत्म-निवेदन, राष्ट्रीय-प्रेम तथा ईश्वर-भक्ति की अभिव्यक्ति है। सियारामशरण के काव्य को समझने के लिए 'दूर्वादल' एक महत्त्वपूर्ण सकलन माना जायगा।

विषाद (सं० १९८२)—इस पुस्तक मे पन्द्रह विषादमयी रचनाएँ सकलित हैं, जिनकी प्रेरणा कदाचित् धर्मपत्नी की मृत्यु से कवि को प्राप्त हुई है।

इन कविताओ की घनीभूत पीड़ा बरबस मर्म को स्पर्श करती है। यों तो कवि अपनी पीड़ा को नियन्त्रित कर उसे सक्रिय शक्ति के रूप मे देखने की चेष्टा कर रहा है, किन्तु सफलता अभी दूर है। यथा .

हृदय का ऐसा दाहक दाह
मर्म का इतना गहरा घाव
साधनों का यह बृहदाभाव
वेदना का यह चिर चीत्कार।

कवि की व्यथा बड़ी गहरी परन्तु सयत है।

वह नही जानता कहाँ से और क्यो मृत पत्नी की स्मृति पुरवाई हवा की भाँति आती है और उसे झकझोर जाती है ·

वह भूला भटका मनस्ताप
कर उठा अचानक है विलाप !

कवि का रोम-रोम चीत्कार कर उठता है और धैर्य का बाँध टूट जाता है।

हाय ! देकर वह दिव्य प्रकाश
किया है तूने तमोविकास,
मेघ ! मत तू ये आँसू डाल
हृदय से ही निष्ठुर है काल !

कवि अपनी वैयक्तिक वेदना का साधारणीकरण करना चाहता है। उसके लिए वह प्राण-पण से प्रयत्नशील है। अपनी वेदना की स्वीकृति भी वह नही करना चाहता है; किन्तु दुःख इतना तीव्र है कि उस स्नेह की याद बरबस आ जाती है .

तन में, मन में, रोम-रोम में, नख से शिख पर्यन्त
लिखकर तू रख गयी स्नेहमयि ! अपना स्नेह अनन्त !

× × ×

बार-बार मन में लाता है तेरा स्मरण विषाद
क्षण-भर को ही वहाँ तुझे क्या आती है कुछ याद ?
कभी कल्पना पहुँचाती है क्या तुझ तक यह बात
मैं इस समय कर रहा हूँगा नीरव अश्रु-निपात ?

कवि के जीवन की करुण झाँकी देने वाला यह काव्य-ग्रन्थ काव्य-प्रेमियों की रुचिकर वस्तु है। गुप्तजी के जीवन-मोह का एकमात्र स्रोत जब चुक गया तो उनकी आत्म-पीड़ा क्रन्दन कर उठी। 'विषाद' करुण रस की अमर रचना है।

आर्द्रा (स० १९८४)—इस संग्रह में कुल तेरह कविताएँ सग्रहीत है। कथात्मक शैली में गार्हस्थिक और सामाजिक जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र हमें इसमें मिलते हैं। 'हूक' कविता में बेटी रमा की हृद्गति के कारण होने वाली मृत्यु का

वर्णन है और मानव की अतृप्त आकाक्षा का भी साथ ही मार्मिक चित्रण हुआ है। समाज की अनेक कुरीतियों पर कवि ने दृष्टि-निक्षेप किया है और सरल प्रसादमयी भाषा मे कथाओ के सहारे देश की दरिद्रता, अशिक्षा, नृशसता आदि पर सुन्दर कटूक्तियाँ की है। इन रचनाओ मे कवि के भग्न-हृदय की हूक है और समाज के अन्याय और क्रूरता के प्रति उसका प्रबल आह्वान-स्वर है। सियारामशरणजी अपने काव्य मे सामाजिक पक्ष को सदा सामने रखते है। इस संग्रह की प्रत्येक कविता मे करुणासिक्त कथा है। जो बरबस पाठक के हृदय को आन्दोलित कर उठती है। 'खादी की चादर' मे चम्पा का कारुणिक चित्र है, 'नृशस' शीर्षक कविता मे दहेज प्रथा की पृष्ठभूमि मे समाज को 'घातक समाज-कस' की सज्ञा दी गयी है; 'एक फूल की चाह' कविता तो अस्पृश्य जाति के प्रति किये गये सवर्णों के अत्याचार की हृदय-स्पर्शी कहानी है। निम्न पक्तियाँ देखिए .

हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी !
अन्तिम बार गोद में बेटी
तुमको ले न सका मै हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी
तुझको दे न सका मै हा !

'अग्नि-परीक्षा' मे हिन्दू-मुसलिम दगो की भूमिका पर 'सुभद्रा' नाम की हिन्दू-नारी के सतीत्व के ओजमय दर्शन होते है, जिसने सीता की भाँति 'सलिल-परीक्षा' देकर अपने प्राण त्याग दिये।

इसी प्रकार की कहानियो द्वारा कवि ने हिन्दू-समाज तथा भारतीय राष्ट्र के करुणार्द्र चित्र 'आर्द्रा' में प्रस्तुत किये है। कथात्मक पद्य, प्रवाहमयी शैली, चित्रमय भाषा और प्रसाद गुण के लिए यह सग्रह हिन्दी-साहित्य में अनूठा है। कहीं-कहीं गद्यात्मकता का अधिक समावेश है, अतएव पाठक के लिए रस क्षीण हो जाता है। काव्य-सौष्ठव इन कविताओ मे किंचित् न्यून है। 'प्रयाणोन्मुखी' कविता इसका अपवाद है, और वह शायद इस कारण कि इसकी प्रेरणा कवि के वैयक्तिक आत्म-पीडन से सम्बन्धित है।

आत्मोत्सर्ग (सं० १९८८)—अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान के अवसर पर यह राष्ट्रीय कथा-काव्य लिखा गया था। सियारामशरणजी के निकट विद्यार्थीजी का बहुत मूल्य था, साथ ही यह घटना भी राष्ट्र की भावनाओ को झकझोर देने वाली थी। कवि की लेखनी कानपुर के

साम्प्रदायिक दंगे के कारण क्षत-विक्षत मानवता के दर्शन कर चीत्कार कर उठी। विद्यार्थीजी के आत्म-बलिदान की यह करुण कथा इस खण्ड-काव्य मे अकित है। प्रारम्भ में पूज्य बापू के दो शब्द है और मैथिलीशरण गुप्त की श्रद्धाजलि है। कानपुर के विषाक्त वातावरण का चित्राकन सुन्दर बन पडा है। विद्यार्थीजी का साहस और देश के लिए निर्भीकता से किये हुए बलिदान की कथा पढ़कर आज भी रोमाच हो जाता है। वास्तव मे यह एक बडा सरल तथा सजीव काव्य है। विद्यार्थीजी उत्तेजित भीड को सम्बोधित करते हुए कहते है ·

हाज़िर मेरा खून, तुम्हारा
फूले-फले अगर इस्लाम !

× × ×

अब मत भोगो, अपने हाथों
अरे बहुत तुमने भोगा
हिन्दू - मुसलमान दोनों का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा !

× × ×

कवि विद्यार्थीजी की नृशस हत्या पर उक्ति करता है :

अरे दीन के दीवानो, हा !
यह तुमने क्या कर डाला ?
अपने हाथ खून से रँगकर
किया स्वयं निज मुँह काला ?

इस काव्य के अन्तिम पृष्ठो में बड़ी व्यथा है जो मन को कचोट डालती है। राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास में ऐसे ज्वलन्त पृष्ठ कम ही है। कवि केवल यह कहकर आत्म-सन्तोष पाने की चेष्टा करता है :

अपने तनु की खाद बनाकर
अमर बीज तुमने बोया।
नहीं बुझेगी चिता तुम्हारी
उसकी यह ज्वलन्त ज्वाला
निज प्रकाश से मातृभूमि का
मुख उसने है धो डाला।

पाथेय (स० १९९०)—तीन-चार वर्षों के बीच लिखी गयी विचारात्मक 'कविताओ का सग्रह इस पुस्तक मे किया गया है। कवि की मनोदशा को एक नये रूप में प्रदर्शित करने वाली ये कविताएँ भावुक पाठको को अधिक रुचिकर नही होगी—ऐसी हमारी आशंका है। परन्तु कवि के मानसिक विकास की प्रगति अध्ययन करने वाले साहित्यिक पाठक इस सग्रह मे कवि का अधिक सक्षम एव जागृत रूप देखेंगे, जो पत्नी की मृत्यु के कारण कुछ दब-सा गया था। वही कवि अब एक नवाशा लेकर जीवन-मार्ग की ओर चल पडा है और मानवीय तत्त्वो के सहारे नव-निर्माण का शिलान्यास करने की चेष्टा कर रहा है। समस्त पुस्तक मे यात्रा के प्रतीक बिखरे पड़े है, 'नूतन यात्री' ने इस 'पाथेय' का सम्बल ग्रहण किया है। आज क्षणिक आनन्द भी कवि को रस प्रदान करता है :

आज चराचर के प्राणों में
जीवन है छलका-छलका

× × ×

चल नित नया प्रकाश लायगा
सुप्रभात आल्हाद-स्वरूप !

कवि मे, सहसा जीवन के भौतिक पक्ष के प्रति हर्षातिरेक उद्गीत हो चुका है और वह इस स्फूर्ति और उन्मेष का गीत गा उठता है

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझमें नवजीवन आया।
आया हाँ आया आया।
तरल-तरंगों में उठ इसने
तन को, मन को लहराया,
लहराया हाँ लहराया।

इस सग्रह की एक रचना काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुकी है जिसका शीर्षक है शखनाद।

मृत्युंजय ! इस घट में अपना
काल-कूट भर दे तू आज !

छोटी-छोटी नगण्य घटनाओं से असीम और विराट की झाँकी इस संग्रह की रचनाओ की एक खास विशेषता है। कही-कही भावनाएँ अस्वाभाविक भी हो उठती हैं। कवि ने विचार के सहारे जीवन का मूल्याकन करने

की चेष्टा (Conscious effect) की है। इसलिए कविताओं मे एक प्रकार की सात्विकता तो मिलती है; पर काव्यानन्द क्षीण होता चलता है। हर्ष और पुलक के क्षण भी निरे बुद्धिवाद के बोझ से दबे जा रहे है और ऐसे स्थल इन रचनाओ मे बहुत कम मिलेगे जहाँ कवि ने पाठक को रस-निमग्न कर दिया हो !

मृण्मयी (स० १९९३)—सियारामशरण के लगभग सभी काव्य-ग्रन्थों मे एक प्रकार की शान्तिदायिनी सात्विकता मिलती है। स्थान-स्थान पर वे अपनी सरल किन्तु प्राजल भाषा मे जीवन की मौलिक भावनाओ के गीत गाते है। प्रस्तुत सग्रह उनकी इन वृत्तियो का सुन्दर परिचायक है। इसमें कुल ग्यारह कविताएँ है और एक-दो को छोडकर सभी काफी लम्बी है। कथात्मकता इनका मुख्य लक्षण है। लघु-कथा के सहारे अतीव सरल प्रवाहमान शैली मे जीवन तथा समाज की गुरुतम समस्याओ को लिया गया है और एक सुनिश्चित दार्शनिक विचार-धारा की स्पष्ट व्यजना की गयी है। 'मृण्मयी' के गीत—जैसा कि इस शीर्षक से स्पष्ट है—वास्तव मे धरती के गीत हैं। बुन्देलखण्ड के उन्मुक्त जीवन का प्रभाव कवि पर सदा रहा है और उसी धरती का हृदय-स्पन्दन इन रचनाओ मे उभर आया है। प्रारम्भिक समर्पण में (जो 'सावन तीज' के प्रति हुआ है) कवि की इस उक्ति को देखिए :

दूर-दूर तक शस्यावलि में
वसुधा का पुलकोद्भव है;
हे मंगलमयि, तेरे कर में
पुण्य पुरातन नव-नव है।
हे सुवत्सले, तेरे उर में
वत्सलता है क्षेमकरी;
मेरी शुष्क मृण्मयी भी यह
मानस में है हरी-हरी।

धरित्री के शस्य-श्यामल जीवन की यही सजग आह्लादकारी प्रेरणा इस पुस्तक का मूल है; और इस दृष्टि से हिन्दी की यह अनूठी चीज है। 'रजकण' 'लाभालाभ' 'अमृत' 'मजुघोष' शीर्षक कविताएँ इसी मूल विचार की व्याख्या करती हैं। 'छल' कविता में बाल-क्रीडा की पृष्ठभूमि पर सागर और मानव के भ्रम अथवा आत्म-वंचना के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये है। शब्द-चित्रो की छटा इन रचनाओं में अनेक स्थान पर मिलती है। सागर-तट पर लहरों का यह वर्णन देखिए :

अद्भुत अपूर्व किसी मेला में,
जीवन की खेला में,
एक-दूसरे से टकराती हैं;
आपस में फिर भी घुली-मिली
गिरती हुई भी एक-सी ही खिलीं
एक-लय एक गान गाती हैं
आती हैं रिलती हुई तट पर।
तट यह दूर तक निद्रालस फैला पड़ा
सिकता के मंजुल महीन शुभ्र पट पर;
ऊर्मियाँ ये छप-छप करके छपाका बड़ा
मानो इसे क्रीड़ा से खिझाती हैं,
टीका फेन-चंदन का लगा-लगा जाती हैं। [छल]

'ग्वालिने' मे कवि का वैष्णव-हृदयनाद सौन्दर्य के साथ मुखरित हुआ है। 'सम्मिलित' शीर्षक कविता में माता वसुधा और प्रकृति का वरद रूप व्यक्त हुआ है। 'अमृत' मे कवि ने पौराणिक अमृत-मथन की कथा वर्णित करते हुए हलाहल-अमृत के समान तत्त्व की विवेचना की है ·

छले गये हा! छले गये हम
पा न सके निज भाग।
सुर-दल ही है जयी यहाँ भी
मिला उसी को तथ्य ;
जिसे हलाहल समझा हमने
अमृत वही था सत्य !

प्रकृति को कवि वरदायिनी और क्षमामयी रूप मे ग्रहण करता है और मनुष्य की क्रूरता के अनेक चित्र प्रस्तुत करता जाता है ·

पशु से बच भी जायँ, बचा है कौन मनुज से ?
आह! मनुज के लिए मनुज है क्रूर दनुज से!

मिट्टी और स्वर्ण का यह भेद मनुष्य का अपना भ्रम है, आत्म-वंचना है। धरती से प्रेरणा लेकर यह कवि मनुष्य-मात्र में 'समदृष्टि' और समन्वयात्मक बुद्धि का संचार करना चाहता है। महान् उद्देश्य को लेकर की गयी 'मृण्मयी' की ये रचनाएँ परिणामत. बहुत गद्यात्मक हो गयी है। छन्दो के प्रयोग में गुप्तजी विशेष पटु है। कविताओं में कथा-भाग सुन्दर है और भाषा बहुत निखरी हुई है।

पूर्ण प्रतीक्षा का बहुत सुन्दर चित्रांकन है। मन और आत्मा तक कवि की पहुँच है और अन्तर्मन की भावनाओ को सरल भाषा मे व्यक्त करने की उसकी क्षमता बडी प्रखर है। गांधी-दर्शन की कितनी सूक्ष्म अभिव्यंजना इस पद मे है :

आई अहा ! मूर्ति वह हँसती;—
जैसे एक पुण्य-रश्मि स्वर्ग से उतर के
अन्ध तमःपुंज छिन्न करके
दीख पड़ी अन्तस् के अन्तस् में धँसती !
आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता !

कवि ने गांधी को सर्वत्र इसी रूप में देखा है। मानव की सात्विक वृत्तियो को जागृत करने मे उनका सबसे बडा योग रहा है। वे श्रद्धा की मूर्ति थे; उन्होने युग को कर्म का मत्र दिया, भौतिक जगत् के अन्धकार मे वे आध्यात्मिक प्रकाश-पुज थे, 'सत्य-अहिंसा' को उन्होने साधन ही नही साध्य-रूप मे ग्रहण करके मानव को भावी-निर्माण की नयी दिशा प्रदान की। ज्ञान की नित्य शुद्ध-बुद्ध शक्ति के वे प्रतीक थे :

हे मनस्वि, श्रद्धा में अखण्डित हो ।
दूरगत आशा-मध्य सुप्रतिष्ठ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि ! नित्य एकनिष्ठ ?

उनके सत्याग्रही निर्भय रूप की झाँकी भी गुप्तजी ने दी है। 'कारागार' के सम्बन्ध मे उनकी उक्तियाँ बड़ी मार्मिक है। 'कारागार' के हिंस्र रूप का निषेध करते हुए कवि प्रश्न करता है :

घृण्य वह कारागार ?
वह तो अबन्धन का मुक्ति द्वार !
× × ×
मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु !

अन्तिम कविताओ मे मानवता के ह्रास पर कवि का क्षोभ भी व्यक्त हुआ है। जीवन की विडम्बना, रक्तपात तथा हिंसा से ग्रसित यह पृथ्वी क्या आज विनाश के पथ पर जा रही है ? क्या 'मानव है नाश के कगार पर ?' कवि को पीड़ितो से भी पूरी सहानुभूति है :

पीड़ितों के क्रन्दन का पारावार
क्षुब्ध है धरा की मर्म-वेला में

किन्तु सब-कुछ होते हुए भी कवि निराश नही है। उसे प्रकृति और मानव दोनों मे विश्वास है। वह मानव के भविष्य के प्रति आश्वस्त है और इस सृजन-शील आस्था का प्रतीक है गाधी का अहिसा-दर्शन। निम्न पक्तियाँ किसी भी प्रगतिशील काव्य की शोभा-वृद्धि कर सकती है :

श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का—

अथवा :

जीवन विमुक्त है, तुम्हारे मर्त्य स्वर में
काल के अनन्त समादर में,
साधित कहाँ से यह स्वर्ग का अमर राग ?
आरोहावरोह में समानोदार
सत्य का विशुद्धोच्चार।

इस काव्य का अन्त इसी आशा-ध्वनि के साथ होता है। कवि ने युग को यही सदेश दिया है और उसकी आशा का यही मूलाधार है। इस पुस्तक मे शैली प्रखर है; शब्द-चयन सिद्ध करता है कि श्री सियारामशरण हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक सिद्धहस्त शब्द-शिल्पी है। नवीन छन्दो के सुन्दर प्रयोग किये गये है, जो विचारात्मक तथा मननशील काव्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है।

उन्मुक्त (सं० १९९७)—सियारामशरणजी के प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथों मे 'उन्मुक्त' की भी गणना की जाती है। यह एक सजीव गीत-नाट्य है, जिसकी प्रेरणा कवि को गाधीजी के अहिंसावाद से मिली। विश्व-युद्ध में जब वायुयान-वर्षा से चहुँ ओर निरीह निशस्त्र जनता पर पाशविकता का नग्न नृत्य हो रहा था, तब रुग्ण कवि की दृष्टि सहसा हिंसा-ग्रस्त मानव के विश्लेषण की ओर गयी और गाधीवाद के अहिंसात्मक युद्ध के रूप को स्पष्ट करने के लिए इस काव्य की रचना हुई। मैथिलीशरण ने अपनी भूमिका मे कहा है कि रोग के कारण कवि का शरीर शिथिल होता जा रहा था किन्तु मन सक्रिय। जागरूक चेतना के सभी लक्षण इस गीत-नाट्य में विद्यमान है। युद्ध की भूमिका मे मानव के मूलभूत सिद्धान्त और नव-समाज-व्यवस्था के निर्माण की ओर सुन्दर संकेत किया गया है।

इसमें द्वीपो की सुन्दर कल्पना की गयी है। यथा—लौहद्वीप, रौप्यद्वीप, स्वर्णद्वीप और कुसुमद्वीप। कोमल और कठोर दोनों पक्षो के सुन्दर चित्रण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कवि की वर्णन-शक्ति और कथोपकथन की शैली का भी सुन्दर परिचय मिलता है। किन्तु विषय-वस्तु के प्रसार में शिल्पाभाव पाठक

को खटकता है। कवि जिस उद्देश्य को स्थापित करने चला था, उसमे वह पूर्ण सफल नही हुआ है। समस्त ग्रन्थ पढकर पाठक को लगता है कि हिसा का ही पक्ष प्रबल अथवा कर्मण्य है। अहिंसा मे शक्ति तो अवश्य है, और कदाचित् हिसा की शक्ति से अधिक है, किन्तु यथार्थ जीवन-क्षेत्र मे मानो उस अहिंसा का कोई परिणाम पाठक के समक्ष नही उपस्थित होता! पाठक एक प्रकार से अतृप्त-सा रहता है और यवनिका-पात हो जाता है।

यत्र-युग के अभिशापो का सजीव वर्णन जगह-जगह मिलता है। ससार मे पशु-बल का ताण्डव हो रहा है, मानव अपना देवत्व तो खो ही चुका है, वह मनुष्यत्व भूलकर 'पिशाच' भी बनता जा रहा है। उसकी सारी शक्ति सैन्य-बल अर्जन मे समाप्त होती जा रही है। विनाश और सहार के स्वर धरित्री को कँपा रहे है। ऐसे वातावरण मे कवि ने 'लौहद्वीप' रूपी हिंस्र विश्व को 'कुसुमद्वीप' में परिणत करने का मोहक स्वप्न देखा है। किन्तु पुस्तक में वर्णित कथा-भाग इसे व्यावहारिक रूप नही देता। अहिसक द्वीप हिंसा द्वारा पराजित है। हाँ, कुसुमद्वीप के मानव ने अपनी आत्मा को इस कष्ट के बीच पा लिया है। 'आत्मान विद्धि' सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जब अपने को पा ले तभी वह 'उन्मुक्त' है। अन्त मे, पुष्पदन्त अपनी भूल इन शब्दो मे स्वीकार करता है :

इस अविजय में बात आज यह हमने जानी—
प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हममें बैठा था;
जो बैरी में, वही हमारे में पैठा था।

अपनी पराजय मे उसने यह पाया :

आज की इस अविजय में
अनुभव मैने किया अटल अभिनव प्रत्यय में—
पौरुष है अविजेय !

कवि के निष्कर्ष को इन शब्दों मे देखिये :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी मंगल है।
मिला हमें चिरसत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर !

इन पक्तियो मे कवि ने गाधीवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। गुणधर, पुष्पदन्त और मृदुला के चरित्र-चित्रण मे कवि ने अपने को आत्मसात् किया है। जीवन के कोमल क्षणों का सुन्दर दिग्दर्शन है। अनेक स्थल मर्मस्पर्शी है

और युद्धोत्तर विध्वंस के चित्र सजीव और यथार्थ है। अपने पुत्र की मृत्यु पर मृदुला माँ का ममतामय चित्र पाठक के हृदय मे गहरी करुणा का सचार कर देता है। सुश्रूषालय मे गुणधर के सामने युद्धभूमि का नृशस चित्र नाच उठता है। 'एकान्त' सर्ग मे गुणधर का हिंसा पर स्वगत-कथन मर्मस्पर्शी है। सक्षेप मे यह कह सकते है कि यह एक सुन्दर गीत-नाट्य है, परन्तु कवि अपने उद्देश्य मे पूरा सफल नही हो सका है।

दैनिकी (स० १६६६)—सन् १६४२ के आसपास विश्व-व्यापी युद्ध का पूरा प्रभाव इस देश के जीवन पर पड़ चुका था। दैनिक जीवन की अनेक कठिनाइयो के बीच मनुष्य अपना निर्वाह कर रहा था। ऐसे समय नगण्य वस्तु भी महत्त्वपूर्ण हो उठी थी। कदाचित् ऐसे ही वातावरण मे कवि का ध्यान जीवन की नित्य-प्रति होने वाली नगण्य घटनाओ की गम्भीरता की ओर गया और ऐसी अनोखी कविताओ का जन्म हुआ जो इस पुस्तक मे गुप्तजी ने सग्रहीत की है। दैनिक जीवन के कष्टो की गाथा गाकर अनेक कवियो ने नीरस कविताओ के सहारे अपने को 'प्रगतिशील' कोटि मे रखकर आत्म-सन्तोष-लाभ किया है। उस दृष्टि से गुप्तजी 'दैनिकी' मे प्रगतिशील काव्य-क्षेत्र मे गिने जा सकते है। साठ-सत्तर कविताओ का यह संग्रह गुप्तजी के अन्य काव्य-ग्रन्थो की अपेक्षा अनोखापन लिये हुए है। प्राय· सभी कविताएँ बहुत छोटी है और वे एक खास घटना को लेकर विचार-विशेष पाठक के मन में जागृत करती है। इसमे कवि की बीमारी के दिनो का भी आभास मिलता है। 'रुद्ध-कक्ष' शीर्षक कविता मे रुग्ण-शय्या पर पड़े हुए प्राणी की वाणी मुखर हुई है। 'सजग द्वन्द्व' एक बहुत सुन्दर रचना है, जिसमे रात्रि के व्याकुल क्षणों का सुन्दर चित्र खीचा गया है, रोगी की आशा-निराशा का द्वन्द्व इसमे अच्छी प्रकार वर्णित है। 'मजूर', 'आज का पन्ना' तथा 'अण्डमान' जैसे विषयो पर कविताएँ रोचक बन पड़ी है। 'अण्डमान' से देश-निष्कासन के स्थान पर मानवीय संकीर्णता का ज़िक्र किया गया है। यथा :

राष्ट्र-राष्ट्र का निष्कासन है, निज के छोटेपन में,
अण्डमान हो रहे प्रतिष्ठित, देश-देश, जन-जन में।

युद्ध-त्रस्त विश्व तथा रोग-ग्रसित अपने जीवन की पृष्ठभूमि पर भी कवि की आत्मा मे किसी प्रकार की कुण्ठा नही है। वह जीवन के असंख्य क्षेत्रो तक अपनी सहानुभूति का जल पहुँचाता है। आकाश, पृथ्वी, पशु-जगत् और मानव सभी उसकी करुणा का भाग प्राप्त करते हैं, और जीवन-मृत्यु के संघर्ष के बीच भी 'आशान्वित' होकर कवि कह उठता है :

इस वसुधा को मैं प्यार करूँगा; तब भी,
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है !

और :

छोड़ूँगा अंचल नहीं धरा का तब भी
इसकी माटी निर्ज्वलन सिन्धु—सुस्नाता !

उषा, सध्या, रात्रि, अन्धकार, प्रकाश, पृथ्वी, आकाश इत्यादि के सुन्दर चित्र इसमे मिलते है। 'उद्गम' शीर्षक कविता मे करुण-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है, और इसकी कई पक्तियाँ हृदय पर गहरी चोट करती है। सक्षेप मे, यह सग्रह युद्ध-जनित दैनिक घटनाओ की प्रतिक्रियाओ की एक प्रकार की डायरी है।

नकुल (स० २००३)—यह एक खण्ड-काव्य है और इसका आधार महाभारत का वन-पर्व है। महाभारत गुप्त-बन्धुओ का प्रिय ग्रन्थ है। उसी मे से अमृतहृद का कथा-भाग लेकर इस काव्य की रचना की गयी है। मूल वस्तु का उपयोग करने मे कवि ने स्वतन्त्र दृष्टि से काम लिया है। समस्त काव्य मे एक प्रकार का उन्मुक्त वातावरण है; वन, उपत्यका, गगा-तट, अमृत, पर्वत तथा अमृतहृद इसकी क्रीडा-भूमि है। विशाल प्रकृति की भूमिका मे मानव के ईर्ष्या-द्वेष तथा पारस्परिक स्पर्द्धा का उत्पीड़न आत्मा को झकझोर देता है।

इस काव्य का काल उस समय से सम्बन्धित है, जिस समय पाँचो पाण्डव द्रौपदी के साथ बारह बरस का वनवास पूरा कर रहे थे। उसी अवधि के अन्तिम दिन से इसकी कथा प्रारम्भ होती है, जब इस वन को छोड़ उन्हे पूरे एक बरस के लिए अज्ञातवास के लिए कही चले जाना था। उसी समय एक साधारण-सी घटना घटी जो आज लोक में प्रचलित है : यज्ञ की अरणि और मथनिका कोई मृग अकस्मात् ले गया। उन्हे तपस्वी के हेतु पास लाने के लिए युधिष्ठिर धनुष-बाण लेकर मृग के अनुसन्धान मे चल पडे। शेष पाण्डव द्रौपदी-सहित इसके पूर्व ही भ्रमणार्थ अमृतहृद की ओर निकल चुके थे। दुर्जय और वज्रबाहु—जो दुर्योधन-दल के दो व्यक्ति थे—अमृतहृद को विषाक्त बना ही चुके थे, जिससे पाँचो पाण्डवों की जीवन-लीला समाप्त हो। इस काव्य मे पात्र थोडे-से ही है और कथा-प्रवाह अबाध रूप से चलता है। पात्र लगभग सभी महाभारत के अनुरूप ही चलते है। मणिभद्र के माध्यम से ही युधिष्ठिर तथा नकुल के चरित्र-विकास में सहायता मिलती है। यह अलकापुरी से निर्वासित एक यक्ष है, जो अमृताचल पर कुछ समय से रह रहा है। इसके पास सजीवनी बूटी का एक ही कण है, जिसके प्रयोग से वह केवल एक मृतक प्राणी को जिला सकता है। मणिभद्र युधिष्ठिर से पूछता है कि किसको जिलाया जाय ?

"था जब मै कैलासपुरी में गरल-विदारण
मुझे मिला था वहाँ एक लघु संजीवन कण;
कहें किसे दूँ उसे यहाँ इस कठिन समय में,
मुझे रंच आपत्ति न होगी उस निर्णय में।"

तो युधिष्ठिर उत्तर देते है :

"नकुल !"—उसी क्षण अनायास कह गये युधिष्ठिर
उत्तर उनका वहाँ प्रथम ही हो ज्यों सुस्थिर।"

इस उत्तर मे ही मानो गुप्तजी ने अपने काव्य की समस्त विषय-वस्तु केन्द्रित कर दी है। प्राचीन कथा मे इस विशेषता को रखकर गुप्तजी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का ही परिचय नही दिया है, अपितु उन्होने अनजाने मे अपने पारिवारिक जीवन की किसी अवचेतन ग्रन्थि की ओर भी सहसा संकेत कर दिया है। लघु-ज्येष्ठ की इस मनोवैज्ञानिक समस्या अथवा भाव-ग्रन्थि का ऊहापोह करना हमारा लक्ष्य नही है, किन्तु आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के ज्ञाता पाठक कदाचित् उस काव्य मे गुप्तजी के वैयक्तिक जीवन की इसी झलक की ओर अप्रिय सकेत कर सकते है। कवि का तात्पर्यार्थ उसी के शब्दों मे सुनिए .

"छोटे के भी लिए बड़े-से-बड़ा समर्पण
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण।
× × ×
करना होगा बड़ा त्याग निज सुख जीवी को
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को।"

आगे धर्मराज मणिभद्र को स्पष्ट करते हुए सान्त्वना देते है .

लेना होगा निखिल-क्षेम-व्रत निर्भय हमको,
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।
लघु से लघुतम कौन,—नहीं यदि हों हम खोटे,
वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे।
जितना आगे उदित हुआ है जो जन हममें,
उतना आगे चला गया वह जीवन-क्रम में।

द्रौपदी के चरित्र-चित्रण मे भी कवि ने विशेष श्रम किया है और गंगा-तट के बीच पांचाली की मनमोहक झाँकी पाठक को रुचिकर प्रतीत होती है। उसके ममतामय और रौद्र दोनों प्रकार के रूप इसमे मिलते है। सात्विक वृत्ति वाले पात्रों के चित्रण मे कवि पूर्णरूपेण सफल हुआ है, किन्तु तामसी

प्रकृति के अकन में कवि अपने हृदय से नही, मात्र काव्य-कौशल से काम लेता प्रतीत होता है। कथा-भाग मे सवादों की अधिकता है और यह उचित ही है कि कथोपकथन के माध्यम से ही चरित्र विकसित होते है। एकाध स्थल पर शब्द-चित्र और वर्णन भी सुन्दर बन पड़े है। प्रभात का यह वर्णन देखिए:

चित्रण-निरत प्रभात मात्र रेखाएँ देकर,
आँक रहा है विपिन कुंज निशि से मसि लेकर!
प्राची के सीमान्त देश में झकमक-झकमक,
झलक रहा है एक शिरोमणि-शोभन तारक
उसका रश्मि-निकाय गगन में कल कम्पित है,
यहाँ कुटी में हृदय द्रौपदी का स्पन्दित है।

तुकान्त छन्दो मे लिखा गया यह काव्य अपने कथा-प्रवाह तथा परिष्कृत भाषा के कारण पठन-पाठन की रुचिकर वस्तु रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

नोआखाली में (स० २००३)—राजनीति के घात-प्रतिघातो की सात्विक प्रतिक्रिया का अंकन करने वाली ये कुछ कविताएँ सिद्ध करती है कि सियारामशरण का हृदय देश के स्पन्दन को ध्वनित करने की क्षमता रखता है। रुग्ण-शय्या से इतनी सजीव और स्वस्थ रचनाओ का निर्माण कवि की उर-ज्योति का परिचायक है। 'नोआखाली' मे जो अनैतिक बवण्डर उठा था उसकी पीडा समस्त देश को हुई थी। गाधीजी के लिए तो वह अहिसा के सिद्धान्त का प्रयोग-स्थल ही बन चुका था। देश-विभाजन के रक्तिम इतिहास मे नोआखाली मानवता का प्रकाश-तीर्थ बन चुका था। उसी अध्याय का अंकन इस लघु पुस्तक मे किया गया है। कुछ रचनाएँ 'सर्वोदय' में प्रकाशित हुई थी। कई रचनाओ में देश की जातीय तथा सास्कृतिक एकता पर ज़ोर दिया गया है और कवि की लोकप्रिय कविता 'एक हमारा देश' इसके अन्त मे सम्मिलित है। 'अखण्डित' और 'मातृभूमि के प्रति' शीर्षक कविताएँ इसी प्रकार की है। 'रमजानी' और 'पाक-कलाम' कविताएँ तत्कालीन वातावरण को सुन्दर रूप से व्यक्त करती है। इस संग्रह की कविताओं का मूल्य सामयिक ही है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य मे कवि की जो दृढ़ आस्था है उसका इसमे परिचय मिलता है।

जयहिन्द (सं० २००५)—यह १५ अगस्त, सन् १९४७ के स्वतन्त्रता-दिवस के पुण्य अवसर पर लिखी गयी भारत-वन्दना है। लगभग ढाई सौ पंक्तियों की इस ओजपूर्ण कविता में कवि ने स्वाधीन भारत को सम्बोधित करते हुए पाठक के हृदय में उसके अतीत गौरव, वर्तमान हर्षोल्लास तथा

भावी आशा को व्यक्त किया है। छन्द प्रवाहमयी विषय-वस्तु के अनुरूप ही है। कवि नवयुग के नये प्रभात का इन शब्दो मे आह्वान करता है :

आज के स्वतंत्र अरुणोदय में
उद्धृत धरित्री से अभय में
कोटि-कोटि सन्तति का कोटि-कोटि नमस्कार !
आज आत्म-गौरव की हानि नहीं
अन्तस् में दासता की ग्लानि नहीं···

राष्ट्रीय-ध्वजा, महात्मा गांधी तथा जनता-जनार्दन का अभिनन्दन करते हुए कवि कितने सुन्दर शब्दों मे कवि के दायित्व का वर्णन करता है

कवि के स्वतंत्र देश
तेरे लिए कौन नया गीत आज गाऊँ मै ?

× × ×

मेरे घट में हो आज गंगा-यमुना का नीर,
भावित हो संगम का तीर्थ-तीर;
छन्द में समुद्वेलित हो उठें प्रमोद भरी
रेवा, शोण, वेत्रवती, पंचनद, गोदावरी
उल्लसित प्रेम-प्रेरी
शिप्रा, सिन्धु, सरयू, पवित्र कृष्णा, कावेरी
सबके पुनीत अभिमज्जन से
नव-अभिषेक करूँ आज के सुदिन का;
लाऊँ मातृभूमि के चिरन्तन से
एक रस आ रही अखण्ड निर्मलिनता।

गीता-संवाद (सं० २००५)—हिन्दी के कम ही पाठक यह जानते है कि कविवर सियारामशरणजी ने गीता का समश्लोकी अनुवाद भी किया है। गुप्त-बन्धुओं मे गीता सदा से ही प्रिय रही है। उनकी वैष्णव-भावना और गांधीवादी अहिंसा की तुष्टि गीता-पाठ से ही होती रही है। गाधीजी की सदा यह इच्छा रही थी कि श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद अनेक लोक-भाषाओं में हो, जिससे अनासक्ति-योग सर्व-सुलभ हो और लोक-कल्याण का उद्देश्य सफल हो। बापूजी ने एक बार विनोबाजी को इसी प्रकार का एक पत्र लिखा था। इस अनुवाद की प्रेरणा उसी पत्र से कवि को प्राप्त हुई है। कवि को अपनी ज्ञान-सीमा का ज्ञान है। वह समझता है कि संस्कृत के इस गेय ग्रन्थ का समश्लोकी अनुवाद ठीक रूप में प्रस्तुत करने के लिए जो ज्ञान

और प्रतिभा आवश्यक है, वह शायद उसमे नही है। फिर भी हृदय की श्रद्धा और आस्था का सम्बल लेकर उन्होने यह अनुवाद प्रस्तुत किया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक स्थल पर यथार्थ ही कहा है कि भारतवर्ष का हृदय अनुष्टुप छन्द मे स्पन्दित हुआ है। गीता भी इसी छन्द मे है और हिन्दी मे किन्ही कारणो से इस छन्द का प्रयोग नही हुआ। अनुवादक की कठिनाई इस बात से और भी बढ़ गयी है, यद्यपि उसने कुछ आवश्यक परिवर्तन कर इस असुविधा से मुक्ति प्राप्त करने की कोशिश की है। उन्ही के शब्दो में यदि कहे तो :

"अनुष्टुप आदि मे पादान्त के लघु को दीर्घ करने की क्रिया हमारे लिए अस्वाभाविक हो सकती है।"

सस्कृत-साहित्य का रसास्वादन करने वाले पाठको को अनुवाद में उक्त परिवर्तन नही रुचेगा। उनकी सम्मति मे यह समश्लोकी अनुवाद दुरूह है, और प्रासादिकता तो नाम को नही। हिन्दी के पाठको को इसकी अव्यवस्थित तथा अप्रचलित भाषा-मुहावरे खटकेगे। समश्लोकी होने के कारण भाषा मे विचित्रता आ गयी है और अनेक अव्यवहार्य प्रयोग इस अनुवाद मे मिलते है। यथा :

१—मेरो ने पाण्डवों ने भी कहो संजय क्या किया ?
२—प्रसाद सब दुःखों को अविलम्ब निवारता।
३—धर्म की ग्लानि वा हानि होती है जब भारत
होती अधर्म की वृद्धि लेता हूँ तब जन्म मैं।
४—जहाँ योगेश श्रीकृष्ण जहाँ पार्थ धनुर्धर
मेरी मति वहीं नित्य जय-श्री निधि नीति है।

इस प्रकार छन्द-निर्वाह के कारण अनेक अप्रचलित प्रयोग इस अनुवाद मे आये है। कही-कही शब्दो का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उनके अर्थ और भाव-ग्रहण में बाधा पडती है।

फिर भी गीता के समश्लोकी अनुवाद के श्रद्धापूर्ण प्रयास के रूप मे हिन्दी-जगत् 'गीता-सवाद' को याद रखेगा।

बुद्ध-वचन (धम्मपद)—पालि भाषा के सुविख्यात धर्मग्रन्थ 'धम्मपद' का यह समश्लोकी हिन्दी अनुवाद है जिसे कवि ने तथागत की २५वी परि-निर्वाण शताब्दि के पवित्र अवसर पर प्रस्तुत किया था। इसकी प्रकाशन-तिथि है सं० २०१३ वि०। कवि ने श्रद्धा-भावना से इसे आधुनिक युग के त्रिरत्न—सर्वश्री डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य विनोबा एवं श्री जवाहरलाल नेहरू—को

समर्पित किया है। यो तो 'धम्मपद' के कतिपय हिन्दी अनुवाद इससे पूर्व भी धर्मनिष्ठ पाठक को उपलब्ध थे, पर श्री सियारामशरणजी के इस अनुवाद का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इस अनुवाद मे धर्म एवं काव्य का अपूर्व सम्मिलन है।

'धम्मपद' के प्रथम व्याख्याकार बुद्धघोष का मत था कि इसमे भगवान् बुद्ध की स्वय-कथित वाणी है। इसमें २६ वग्ग (वर्ग) और ४२३ श्लोक है। ये श्लोक सुत्त-पिटक के निकायों मे तथा अन्य थेरगाथा-ग्रन्थो मे पाये जाते है। कुछ श्लोको मे मनुस्मृति एवं महाभारत का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तथागत ने अपने उपदेश लोकभाषा मागधी मे दिये थे। उसी मागधी का परिष्कृत एवं सुसस्कृत रूप पालि भाषा थी।

मूलरूप मे धम्मपद मे अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। समश्लोकी अनुवाद मे इसी छन्द की छटा मूल-भाव के साथ सुरक्षित हुई है। इस विषय पर कवि ने अपना वक्तव्य इस प्रकार दिया है :

> **"छन्द भी मूल के ही लिये गये हैं। आज जब हिन्दी में छन्द सम्बन्धी औदार्य की कमी नहीं है, तब प्राचीन होने के कारण ही अनुष्टुप आदि के प्रति संकोच उचित नही जान पड़ता। हमारे बड़े से बड़े कवियों के द्वारा व्यवहृत इन छन्दों में भारतवर्ष के हृदय का स्पन्दन ध्वनित है। इस प्रकार अनुवाद में 'धम्मपद' के अन्तर्बाह्य दोनों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी है। ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद में मूल के निकट रहना ही श्रेयस्कर होता है।"**

इस अनुवाद मे मूल पालि श्लोक नहीं दिये गये है। यह अभाव खटकता है। मूल श्लोक देकर यदि उनका समश्लोकी अनुवाद दिया जाता तो पुस्तक का महत्त्व बढ़ जाता। 'धम्मपद' अपनी उपमाओं के लिए विख्यात है। सियारामजी ने मूल श्लोक की शब्दावलि के निकट रहकर भी अनूदित छन्द को स्वतन्त्र रूप से रसदायी बनाया है। 'जरा वर्ग' से निम्न उदाहरण देखिए·

(मूल) परिजीर्ण मिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम्।
भिद्यते पूति-सन्दोहो, मरणान्तं हि जीवितम्॥

इसका समश्लोकी अनुवाद इस प्रकार किया गया है :

जीर्ण रूप रुजा काया जर्जरा क्षणभंगुरा
गलेगी यह दुर्गन्धा, जीवनान्तक मृत्यु है।

एक अन्य श्लोक मे मानव-देह की नाशवान् गति का चित्रण मूल में इस प्रकार है :

पश्य चित्रांकित बिम्बमुरुकायं समुतश्रितम्
आतुरं बहुसंकल्पं, यस्य नास्ति ध्रुवा स्थितिः ।

अनुवाद मे कवि ने इसकी चित्रात्मक सुन्दरता इस प्रकार बढा दी है :

चित्रिता सव्रणा काया खड़ी जो अस्थि-चर्म से
देखो बहुल संकल्पा आतुरा और अस्थिरा !

कवि को समश्लोकी अनुवाद मे कही-कही अप्रचलित दुरूह शब्दों को स्वीकार करना ही पड़ा है । इससे 'धम्मपद' की व्यजना-शक्ति मे वृद्धि हुई है किन्तु साधारण पाठक को यत्र-तत्र प्रसाद-गुण का अभाव खटकेगा और किन्ही स्थलो पर अर्थ ग्रहण करने मे कठिनाई होगी ।

अमृत-पुत्र (प्रभु ईसा)—इस काव्य-पुस्तक का प्रकाशन सं० २०१६ मे हुआ यद्यपि इसकी रचना स० २०१० के लगभग हुई थी । इसमे ईसू का सक्षिप्त चरित् उनके समय के दो व्यक्तियो के द्वारा उपस्थित हुआ है । हिन्दी मे उग्र जी का 'महात्मा ईसा' नाटक विख्यात है, किन्तु ईसू पर सम्भवतः यह प्रथम काव्य-कृति है । किशोरीलाल मश्रूवाला की 'ईसू-ख्रिस्त' से इस काव्य-सृजन मे सहायता ली गयी है । विनोबा भावे की चिरगाँव पद-यात्रा के अवसर पर कवि का शिशु-सुलभ हृदय श्रद्धा-भार से झुक गया था । उसी घटना से प्रभावित होकर उन्होने इस काव्य का सृजन किया था । वास्तव मे 'अमृत-पुत्र' कवि की दीर्घ कविता 'अचला' का एक स्वतन्त्र अंश ही है । हृदय की श्रद्धा से इसकी रचना हुई है—कदाचित् इसीलिए इसमें काव्य-रस क्षीण है ।

'अमृत-पुत्र' काव्य में दो आख्यान हैं—(१) सामरी, (२) क्रूसधर । 'सामरी' कविता समारा प्रान्त से सम्बन्धित है । यहूदी लोग इस प्रान्त को अपवित्र समझते थे । प्रभू ईसा ने अपनी यात्रा इसी भू-भाग मे होकर की । उनका यह चित्र देखिए ·

स्फटिक गौर सतेज मुख-मण्डल रुचिर
दीखता है दमकता रवि-ताप में,
आतपालेपन विभूषण है उसे ।

प्रभु ईसा सामरी से प्यास बुझाने के हेतु पानी माँगते है :

—'जल दो मुझे ।'

चकित सामरी सोचती है :

जल अरे इस कलश में मेरे कहाँ ?
आग में फुँकते हुए भी उच्च जन
उबरना तक चाहते हमसे नहीं ।
तृषित हैं, कैसे हरूँ इनकी तृषा ।"

समर्पित किया है। यो तो 'धम्मपद' के कतिपय हिन्दी अनुवाद इससे पूर्व भी धर्मनिष्ठ पाठक को उपलब्ध थे, पर श्री सियारामशरणजी के इस अनुवाद का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इस अनुवाद मे धर्म एव काव्य का अपूर्व सम्मिलन है।

'धम्मपद' के प्रथम व्याख्याकार बुद्धघोष का मत था कि इसमें भगवान् बुद्ध की स्वय-कथित वाणी है। इसमे २६ वग्ग (वर्ग) और ४२३ श्लोक है। ये श्लोक सुत्त-पिटक के निकायों मे तथा अन्य थेरगाथा-ग्रन्थो मे पाये जाते है। कुछ श्लोको में मनुस्मृति एवं महाभारत का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तथागत ने अपने उपदेश लोकभाषा मागधी मे दिये थे। उसी मागधी का परिष्कृत एव सुसस्कृत रूप पालि भाषा थी।

मूलरूप मे धम्मपद मे अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। समश्लोकी अनुवाद मे इसी छन्द की छटा मूल-भाव के साथ सुरक्षित हुई है। इस विषय पर कवि ने अपना वक्तव्य इस प्रकार दिया है·

> **"छन्द भी मूल के ही लिये गये है। आज जब हिन्दी में छन्द सम्बन्धी औदार्य की कमी नही है, तब प्राचीन होने के कारण ही अनुष्टुप आदि के प्रति संकोच उचित नही जान पड़ता। हमारे बड़े से बड़े कवियों के द्वारा व्यवहृत इन छन्दो मे भारतवर्ष के हृदय का स्पन्दन ध्वनित है। इस प्रकार अनुवाद में 'धम्मपद' के अन्तर्बाह्य बोनों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी है। ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद में मूल के निकट रहना ही श्रेयस्कर होता है।"**

इस अनुवाद मे मूल पालि श्लोक नही दिये गये है। यह अभाव खटकता है। मूल श्लोक देकर यदि उनका समश्लोकी अनुवाद दिया जाता तो पुस्तक का महत्त्व बढ़ जाता। 'धम्मपद' अपनी उपमाओ के लिए विख्यात है। सियारामजी ने मूल श्लोक की शब्दावलि के निकट रहकर भी अनूदित छन्द को स्वतन्त्र रूप से रसदायी बनाया है। 'जरा वर्ग' से निम्न उदाहरण देखिए :

(मूल) परिजीर्ण मिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम्।
भिद्यते पूति-सन्दोहो, मरणान्तं हि जीवितेम्॥

इसका समश्लोकी अनुवाद इस प्रकार किया गया है :

जीर्ण रूप रुजा काया जर्जरा क्षणभंगुरा
गलेगी यह दुर्गन्धा, जीवनान्तक मृत्यु है।

एक अन्य श्लोक में मानव-देह की नाशवान् गति का चित्रण मूल में इस प्रकार है :

पश्य चित्रांकित बिम्बमुरुकायं समुतश्रितम्
आतुरं बहुसंकल्पं, यस्य नास्ति ध्रुवा स्थितिः ।

अनुवाद मे कवि ने इसकी चित्रात्मक सुन्दरता इस प्रकार बढा दी है :

चित्रिता सव्रणा काया खड़ी जो अस्थि-चर्म से
देखो बहुल संकल्पा आतुरा और अस्थिरा !

कवि को समश्लोकी अनुवाद मे कही-कही अप्रचलित दुरूह शब्दो को स्वीकार करना ही पडा है । इससे 'धम्मपद' की व्यंजना-शक्ति मे वृद्धि हुई है किन्तु साधारण पाठक को यत्र-तत्र प्रसाद-गुण का अभाव खटकेगा और किन्ही स्थलों पर अर्थ ग्रहण करने मे कठिनाई होगी ।

अमृत-पुत्र (प्रभु ईसा)—इस काव्य-पुस्तक का प्रकाशन सं० २०१६ मे हुआ यद्यपि इसकी रचना स० २०१० के लगभग हुई थी। इसमे ईसू का सक्षिप्त चरित् उनके समय के दो व्यक्तियो के द्वारा उपस्थित हुआ है। हिन्दी में उग्र जी का 'महात्मा ईसा' नाटक विख्यात है, किन्तु ईसू पर सम्भवत. यह प्रथम काव्य-कृति है । किशोरीलाल मश्रूवाला की 'ईसू-खिस्त' से इस काव्य-सृजन में सहायता ली गयी है। विनोबा भावे की चिरगाँव पद-यात्रा के अवसर पर कवि का शिशु-सुलभ हृदय श्रद्धा-भार से झुक गया था । उसी घटना से प्रभावित होकर उन्होने इस काव्य का सृजन किया था। वास्तव मे 'अमृत-पुत्र' कवि की दीर्घ कविता 'अचला' का एक स्वतन्त्र अश ही है । हृदय की श्रद्धा से इसकी रचना हुई है—कदाचित् इसीलिए इसमें काव्य-रस क्षीण है ।

'अमृत-पुत्र' काव्य में दो आख्यान है—(१) सामरी, (२) क्रूसधर। 'सामरी' कविता समारा प्रान्त से सम्बन्धित है । यहूदी लोग इस प्रान्त को अपवित्र समझते थे। प्रभू ईसा ने अपनी यात्रा इसी भू-भाग में होकर की। उनका यह चित्र देखिए :

स्फटिक गौर सतेज मुख-मण्डल रुचिर
दीखता है दमकता रवि-ताप में,
आतपालेपन विभूषण है उसे।

प्रभु ईसा सामरी से प्यास बुझाने के हेतु पानी माँगते है :

—'जल दो मुझे।'

चकित सामरी सोचती है :

जल अरे इस कलश में मेरे कहाँ ?
आग में फुंकते हुए भी उच्च जन
उबरना तक चाहते हमसे नहीं।
तृषित हैं, कैसे हरूँ इनकी तृषा।"

इस पर ईसू बोले

"दान ईश्वर का नहीं तू जानती,
जानती होती कहीं यह कौन है
सामने जो माँग जल तुझसे रहा
माँगती तत्काल तो मुझसे यहाँ
तू स्वयं वह दिव्य जल—पीकर जिसे
सब तृषाएँ सर्वदा को शान्त हैं।।"

यह काव्य-कथा वास्तव मे भारतीय मन के बहुत अनुकूल बैठती है और अनेक पक्तियो में तात्कालिक परिस्थितियों की चेतना अभिव्यक्त हुई है।

'क्रूसधर' ईसा के जीवन की उस घटना से सम्बन्धित है जिसने लक्ष-लक्ष मानवो और कलाकारो को सदा से प्रभावित किया है। कवि ने इसमे सायमन नाम के व्यक्ति की स्वात्म-कथा के माध्यम से ईसा के महान् बलिदान की गौरव-गाथा अंकित की है। अन्याय के प्रतिकार एवं निर्भय आत्म-दान की उदात्त भावनाओ से ओत-प्रोत वर्णन पाठक के मर्म को स्पर्श कर लेते है। 'सर्मन ऑन दि माउण्ट' का सात्विक उपदेश इन शब्दों मे साकार हुआ है

"धन्य वे जो दीन-दुःखी नम्र-नत
भूख-प्यास जिन्हें हृदय में धर्म की
धन्य वे जो सदय हैं संशुद्ध हैं
शान्ति की संस्थापना जो कर रहे
कर रहे धर्मार्थ जो सब कुछ सहन
धन्य उनको, धन्य जीवन धन्य वे
राज्य उनके ही लिए है स्वर्ग का
पायेंगे संसार का साम्राज्य वे
पायेंगे चिर शान्ति निश्चय वे पुरुष
पुत्र बनने योग्य है प्रभु के वही।
जब असत्य अनीति के प्रतिरोध में
क्रूर कटु आघात अत्याचार की
यातनाएँ घोरतर सहनी पड़ें
सज्जनो, तब तुम मनाओ हर्ष ही
सुख तुम्हारा है वही सबसे बड़ा
सज्जनो, तुम इस जगत् की ज्योति हो।"

क्रूस के भार से सम्बन्धित अनेक उक्तियाँ इस काव्य मे मिलेगी। पवित्र क्रूस मानो सिसकती मानवता का प्रतीक है :

लुब्ध हिंस्र मदान्ध मानव मात्र का
पाप पुंजीभूत है इस क्रूस में
वहन का अधिकार केवल ईसु को।

अन्यायी के प्रति भी मानवीय करुणा रखने वाले ईसा की यह अमर उक्ति कितनी प्रेरणादायी है :

"कर क्षमा उनको पिता, तू कर क्षमा
कर रहे क्या, वे नहीं यह जानते"

क्रूसधर की कथा ईसा के Resurrection तक आती है। उस अखण्ड समाधि मे भला वे सुख-शान्ति कैसे झेलते ? इसीलिए : जग गये हो प्रभु पुनः तुम जग गये।

ईसु ईश्वर-पुत्र पावन ख्रीस्ट वे
विचरते हैं भूमि पर फिर पूर्ववत्।

मानव-उद्धार की आस्था के स्वरो से इस काव्य का अन्त होता है।

अतुकान्त छन्दो मे कथा-प्रवाह अविरल रूप से गतिमान रहता है। सात्विक पाठको की अभिरुचि जागृत करने में समर्थ यह काव्य पुस्तिका 'अमृत-पुत्र' हिन्दी मे अनूठी ही है।

नाटक

पुण्य-पर्व (सं० १९८९)—सियारामशरणजी ने अब तक केवल एक ही नाटक लिखा है। विचार-प्रधान नाटक शायद ही कभी पूर्णतया सफल होते है। नाटक के लिए चरित्र-चित्रण और द्वन्द्व की मुख्य आवश्यकता रहती है। 'पुण्य-पर्व' नाटक मे लेखक इस दृष्टि से तो सफल है कि इसमे दो विरोधी पात्र खडे किये गये है, और 'अहिंसा' सिद्धान्त इसका मूलभूत विचार-बिन्दु है; किन्तु नाटकीय कथावस्तु मे जो प्रवाह, गति और बल होता है, उसका इसमे अभाव है। कदाचित् इसीलिए बाद मे गुप्तजी ने नाट्य-रचना करना त्याग दिया होगा।

नाटक मे भगवान् गौतम बुद्ध के जन्म के पूर्व का वातावरण है, जब 'असत्' की विजय में मनुष्य का विश्वास था और यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड आदि की प्रधानता थी। पूर्व बौद्ध-कालीन समय की भूमिका पर आज के समाज की अवस्था का चित्रण कितना स्वाभाविक है! हिंसा-अहिंसा का सघर्ष, जिसे गाधीजी के व्यक्तित्व ने पूरे जोर के साथ इस युग के सामने रखा, इस

नाटक मे प्रदर्शित है। नर-बलि के विरुद्ध आवाज उठाना ही लेखक का लक्ष्य है। इतना ही नही, वह समाज के मूल तत्त्वो की विवेचना कर अहिंसा-सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहता है। अपने प्रायः सभी ग्रन्थो मे गुप्तजी ने इसी विचार-धारा से प्रेरणा ग्रहण की है और इस नाटक की रचना भी इसी भाव-भूमि पर हुई है।

इसके लिए लेखक ने दो विरोधी पात्रो की सृष्टि की है : सुतसोम जो सत् और 'चेतना' का और ब्रह्मदत्त जो 'असत्' और 'हिंसा' का प्रतीक है; दोनो का संघर्ष राजनीति के क्षेत्र में आकर मूर्त हो उठता है। ब्रह्मदत्त और सुतसोम यो तो दोनो तक्षशिला मे आचार्य सुबन्धु के यहाँ सहपाठी रहे है, किन्तु प्रारम्भ से ही दोनो की विचार-धाराओ मे मौलिक अन्तर रहा है। इस समय ब्रह्मदत्त वाराणसी से सिंहासन-च्युत है और प्रतिहिंसा की अग्नि मे जल रहा है। उसने अपने और सुतसोम के जनपदीय क्षेत्रो मे आतक फैला रखा है और सोमवती के पुण्य अवसर पर सौ पुरुषो की बलि देना निश्चय किया है। वह सुतसोम को भी बन्दी कर लेता है और नर-यज्ञ मे हवि देने को तत्पर है। उसी समय सुतसोम अपने वचन-पालन, कर्तव्य-निष्ठा और अहिंसायुक्त सत्य आचरण से ब्रह्मदत्त का हृदय-परिवर्तन कर देता है, और यवनिका-पात के समय वह कह उठता है :

मेरे जीवन की अमावस्या में आज सचमुच ही सोमवती के पुण्यपर्व का उदय हुआ है।

बलि का तात्पर्य समझाते हुए सुतसोम कहते है

बलि का यह अभिप्राय नहीं कि हम अपनी या किसी दूसरे की हत्या कर डालें। हमारे भीतर जो अहंभाव है, भगवान् के चरणो में उसी की बलि देना ही सबसे बड़ी बलि है।

'पुण्य-पर्व' नाटक का सास्कृतिक धरातल बहुत ऊँचा है। उद्देश्य की दृष्टि से यह सास्कृतिक चेतना का नाटक है, और इसमे मानव की उदात्त वृत्तियों की स्थापना की गयी है। आत्मबल द्वारा पशुबल पर विजय पायी गयी है। लेखक का दृढ विश्वास है कि हृदय-परिवर्तन द्वारा ही विश्व सुसंस्कृत हो सकता है। इस नाटक का वातावरण शुद्ध और सात्विक है, जो हमारे मन को छूता है।

पात्रों का चित्रण विभिन्न रेखाओं और रंगो द्वारा किया गया है, किन्तु वे सजीव कम है। पात्र नही, उनमें लेखक अधिक बोलता है। दार्शनिकता के बोझ ने उनकी 'मानवीयता' को दबा दिया है। वे विचारों के मूर्त-रूप प्रतीत

होते है; सजीव सशरीर मानव नही। भाषा भी इसी कारण दुरूह हो गयी है। वातावरण की दृष्टि से नाटक सफल है। द्वन्द्व भावना तीक्ष्ण है, और कलाकार का उद्देश्य सुस्पष्ट है। कुछ निम्न स्तर के पात्रो मे किंचित् हास्य-व्यंग्य का भी समावेश है। स्त्री-पात्र इसमे तीन है जिनमे प्रधान है सुतसोम की पत्नी विशाखा, जो आर्य-सभ्यता की सुन्दर प्रतीक है। उसकी दो दासियाँ पूर्णा और उत्पला है, जिनका कार्य नगण्य ही है। समस्त नाटक की कथा-वस्तु सुतसोम की राजधानी हस्तिनापुर और 'मृगचिरा' नामक ग्राम और उसके पार्श्ववर्ती ग्राम मे केन्द्रित है। रगमंच की दृष्टि से नाटक असफल है; किन्तु पाठक की चेतना और विवेक को जागृत करने वाली सोद्देश्य रचना के विचार से नाटक नगण्य नही।

उपन्यास

सफल कवि के अतिरिक्त सियारामशरणजी हिन्दी के एक प्रमुख उपन्यास-कार भी है, यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। उनकी चेतना नवीन है और अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति के कारण वे एक के बाद दूसरी सुन्दर कलाकृति भेट देते जाते है। गुप्तजी के तीन उपन्यास हैं—(१) 'गोद', (२) 'अन्तिम आकाक्षा', और (३) 'नारी'। इनमे से अन्तिम उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ है। उसकी-सी मार्मिकता कथा-साहित्य में कम ही मिलती है। उपन्यासो में यह कवि सफल हुआ है, यद्यपि यह आश्चर्य का ही विषय है कि भाव-क्षेत्र मे विचरण करने वाला कवि घटनाओ के जाल मे कैसे प्रवेश कर पाता है! सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे तो उपन्यास और काव्य के सृजन में समान निर्माणकारी शक्तियो की आवश्यकता पडती है। कवि केवल भावनाओ का चित्रण करता है। उपन्यासकार को भावना एव घटना दोनो का ही सुन्दर मिश्रण करना पडता है। सियाराम मे यह क्षमता है, और यही कारण है कि कवि होते हुए वे सफल उपन्यासकार भी हो सके। इसी सम्बन्ध मे एक बात और है कि यह कवि अपनी काव्य-कृतियो मे भी विचार-प्रधान रहा है, और अनेक प्रकार के सजीव पात्र खड़े करता रहा है। पात्र-निर्माण और घटनाओं के उचित संयोजन से ही किसी उपन्यास की कथा-वस्तु प्रस्तुत होती है, और इस प्रकार की प्रतिभा इस कवि में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। इतिवृत्तात्मक काव्य के रचयिता उपन्यास मे असफल होते कम ही देखे गये है।

सियारामशरण के प्राय. तीनो उपन्यासो मे ग्राम-जीवन प्रदर्शित हुआ है। उनकी वृत्ति ग्राम-ससार में ही रमती है और ह्रासोन्मुख ग्रामीण-सस्कृति के अनेक सजीव चित्र उनके इन तीनों उपन्यासो में मिलते है। उनके पात्र सीधे

और सच्चे है; उनमे किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक उलझने नही है। मानवता का सात्विक सन्देश वे हमे देते है और अपने सरल, सतोगुणी वातावरण से पाठक पर अमिट प्रभाव छोडते है।

गोद—इस उपन्यास में एक ग्रामीण गृहस्थ की सरल कथा है। दयाराम के भाई शोभाराम का विवाह एक विधवा कौशल्या की पुत्री किशोरी से निश्चित हो जाता है। प्रयाग-सगम-मेले के अवसर पर किशोरी अपनी माँ से बिछुड जाती है। रात भर की खोज के पश्चात् सेवा-समिति के लोग उसे कौशल्या के पास पहुँचा देते है। इसी घटना के कारण अबोध किशोरी समाज के सन्देह का शिकार बनती है। समाज अथवा लोकमत मे शकित पाप का बड़ा महत्त्व है। हिन्दू समाज मे भी यह अक्षम्य अपराध है, अतएव शोभाराम के भाई दयाराम की आज्ञानुसार यह सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। धन-लिप्सा और लोकापवाद की शरण लेकर दयाराम पृथ्वीपुर के जमीदार के यहाँ सम्बन्ध पक्का कर लेते है। विधवा कौशल्या इस अन्याय को सहन न कर सकी। फलस्वरूप वह बीमार हो जाती है। उसकी इस सकटापन्न अवस्था को देखकर शोभाराम का हृदय पिघल जाता है; किन्तु दयाराम अब भी अपनी स्वीकृति नही देते। सामाजिक अत्याचारो का उद्घाटन यहाँ लेखक ने बड़े जोर से किया है। शोभाराम के साहस का सुन्दर उदाहरण भी मिलता है। उसने गुप्त रूप से किशोरी को अपना लिया। जब किशोरी अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर देती है तभी दयाराम का हृदय परिवर्तन होता है। शोभाराम भी अपना विद्रोह समाप्त कर भाई की गोद मे पुन. शरण लेता है। अश्रु-धाराओ के सगम मे हृदयो की सकीर्णता और कठोरता द्रवित हो उठती है, और सुखद पारिवारिक सामजस्य के बाद उपन्यास समाप्त होता है। लेखक के शब्दो में अन्त इस प्रकार है :

आँसुओं की दोनों धाराओं ने एक में मिलकर एक दूसरे संगम-तीर्थ के जल से दयाराम की 'गोद' भर दी।

इस उपन्यास का कथानक सीधा-सरल तो है, किन्तु वैचित्र्यपूर्ण कौतूहल भी इसमे मिलता है। इससे कथा-प्रवाह मे तीव्रता आ गयी है। अन्तर्द्वन्द्व के भी कई स्थल इसमें है जो उपन्यास को आधुनिकता का वातावरण प्रदान करते है। शोभाराम को साहसी दिखाना भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। हिन्दू-समाज मे किंचित् सन्देह के कारण भी नारी को दोषी समझ लिया जाता है; इसी अन्याय के विरुद्ध इस उपन्यास मे स्वर उठाया गया है। गुप्तजी ने हमारी इस दोषपूर्ण धर्म-नीति का विरोध किया है; किन्तु इस विरोध मे विद्रोह-भावना अथवा प्राचीन संस्कारों के उन्मूलन का स्वर नही है।

अन्तिम आकांक्षा—यह गुप्तजी का दूसरा उपन्यास है जो कभी-कभी पाठक को रवीन्द्र की अमर कहानी 'काबुलीवाला' का स्मरण करा देता है। काबुलीवाला जैसे मिनी के प्रति वात्सल्यपूर्ण था उसी प्रकार इस उपन्यास का नायक 'रामलाल' अपने स्वामी की पुत्री के प्रति श्रद्धालु है। यह नौकर रामलाल स्वामिभक्त है और मान-अपमान के प्रति बडे तीव्र रूप से सजग है। उपन्यास एक प्रकार से आत्म-कथात्मक शैली मे लिखा गया है। एक उपेक्षित नौकर को उपन्यास का नायक बनाकर गुप्तजी ने दलित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। इस उपन्यास मे भी हमें मानवता का सन्देश मिलता है और इसको पढने के बाद पाठक के हृदय मे स्नेह, करुणा और सहानुभूति की भावनाएँ जागृत होती है।

इस उपन्यास का कथानक असगठित है। अपने गति-प्रवाह के कारण एक प्रकार की अनिश्चितता इसमे मिलती है, जो जीवन की ही परिचायक है। समस्त घटनाएँ नायक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है और उसी मे उनका पर्यवसान है। नायक रामलाल सत्य-परायण और निर्भीक है। उसका साहस और कार्य-कौशल प्रशसनीय है। उसमे अन्याय के विरुद्ध मोर्चा लेने की बडी भावना है। बदला लेना वह खूब जानता है, किन्तु अपने प्रति वह उदासीन है और ईश्वर मे अपनी आस्था का ही आश्रय लेता है। स्वामी के लिए वह अपने बाहुबल से भी कार्य लेता है। वह अन्याय का विरोध करने के कारण ही जेल जाता है, और वही मर जाता है। मरते समय वह निम्न शब्दो मे अपनी अन्तिम आकाक्षा व्यक्त करता है .

अपने ही गाँव में झट से जन्म लूँ। दूसरे जन्म में मैं फिर तुम्हारी चाकरी में पहुँचूँ।

उपन्यास का भाव-धरातल ऊँचा है। एक-दो स्थल मार्मिक है। शृंगार रस का पूर्णतया अभाव है, फिर भी उपन्यास का वातावरण शीतल और आर्द्र है, जो पाठक के मन को भाता है। हिन्दू-समाज की कई कुरीतियो का इसमें दिग्दर्शन कराया गया है। रामलाल के अतिरिक्त और पात्र नगण्य है। इस उपन्यास से पाठक को गुप्तजी के परिवार के वातावरण की झाँकी मिल जाती है।

नारी—गुप्तजी के तीनो उपन्यासो मे 'नारी' ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की और वही सबसे अधिक लोकप्रिय हो सका। इसके अनेक कारण है। यह उपन्यास कला और भाव उभयपक्षो की दृष्टि से लेखक की सर्वोत्कृष्ट रचना है। 'नारी' में भारतीय नारी के जीवन की करुणा का सजीव चित्रण है जो

अन्यत्र नही मिलता। मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा मे अबला जीवन पर जो उक्ति कही है, वही इस उपन्यास मे चित्रित हुई है। हिन्दू-नारी का अदम्य स्नेह, आत्म-त्याग और करुणा सभी कुछ इसमे कलात्मक रूप से व्यजित हुए है। इसकी नायिका जमुना हिन्दी-उपन्यास की अमर पात्र है।

'नारी' का भी घटना-स्थल भारतीय ग्राम ही है, इसमे केवल एक बार कथाक्रम कलकत्ते तक जाता है, और फिर लौटकर ग्राम मे ही आ जाता है। समस्त पुस्तक भारतीय ग्राम-जीवन के वातावरण से ओत-प्रोत है। कथा भी सीधी-सादी है। जमुना का पति वृन्दावन है, जो अपने दारिद्रय का भार दूर करने कलकत्ता चला जाता है। उसका पुत्र हल्ली है जिसके प्रति वात्सल्य के सहारे जमुना इतने दिन जीवित रही है। वृन्दावन का कोई समाचार नही मिलता है। यह नारी अपने पुत्र का लालन-पालन करती रहती है। अपने पति-आगमन की प्रतीक्षा का सहारा लेकर अपने आँचल के दूध को वात्सल्य-रस मे प्रवाहित करती रहती है। हल्ली का चित्रण गुप्तजी ने बडे स्वाभाविक रूप मे किया है। वह अपनी पाठशाला मे आदर्श विद्यार्थी है। बिना आधुनिक उपन्यासो की शैली की मनोवैज्ञानिक जटिलता का समावेश किये ही कलाकार ने हल्ली के चित्रण मे गहरी स्वाभाविकता ला दी है। अपने पिता की भावना का ही वह अन्यतम उपासक है। जमुना के जीवन की समस्त आकाक्षाएँ हल्ली मे केन्द्रित हो चुकी है, फिर भी उसे अपने पति के वापस आने का विश्वास है।

ऐसे समय ही अजीत इस नन्हे परिवार मे प्रविष्ट होता है। वह एक नि स्वार्थ प्राणी है, जो अपनी पूरी सहृदयता के साथ जमुना के नीरस ऐकान्तिक जीवन मे आकर उसकी सहायता का व्रत लेता है। वृन्दावन की खोज में उसने दिन-रात एक कर दिया, और प्रत्येक प्रकार से जमुना के जीवन मे नवीन ध्येय की प्राण-प्रतिष्ठा करने का यत्न किया। जब सहसा वृन्दावन के जीवित होने का समाचार मिलता है तो जमुना को प्रतीत हुआ कि उसके जीवन की तपस्या फलीभूत होगी, किन्तु मोतीलाल और उसके पुत्र हीरालाल की दुष्टता के फलस्वरूप वह गाँव मे आकर भी जमुना से बिना भेंट किये लौट जाता है, और मौन जमुना पाषाणवत् हो इसे सहन करने को तत्पर हो जाती है। शठता की विजय के कारण पाठक की सहानुभूति जमुना के प्रति और भी बढ जाती है।

जमुना और अजीत के पारस्परिक सम्बन्ध पर हिन्दी-आलोचको मे काफी वाद-विवाद चलता रहा है। मनोवैज्ञानिक युग मे ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अधिक विश्लेषण करने की प्रवृत्ति से यही हानि होती है। कुछ लेखकों ने

जमुना के अजीत के प्रति आकर्षण को ऐन्द्रिक माना है। इसमें वे जमुना का नितान्त पतन देखते है, किन्तु ऐसा निर्णय देना असहानुभूतिपूर्ण तो है ही, अनुचित भी है। अजीत को स्वीकार करने मे जमुना का पतन नही नारी मात्र का उत्थान है—ऐसा हमारा मत है। उस स्वीकृति मे यौवन-आकर्षण नही, कृतज्ञता की मानवीय व्यजना है, और उसमे भी पति और पुत्र के प्रति प्रेम निहित है। अजीत के चित्र को इसी सूक्ष्म दृष्टि से समझने का यत्न करना चाहिए। वह स्वार्थी कहा जा सकता है, किन्तु दुष्ट और नीच नही है। वह नारी की भावनाओ को खूब समझता है, उसके लिए वह बडे से बड़ा भी त्याग कर देता है, समाज की उपेक्षा तक करता है और जमुना का आदर करता है। वह नारी को केवल भोग्य वस्तु नही समझता। उसमे अनेक कमजोरियाँ है, किन्तु वे स्वाभाविक है। सत्यनिष्ठ होकर वह जमुना को उसके पति वृन्दावन से मिलाना चाहता है, और यही उसकी विशेषता है, जो उसकी दुर्बलताओं पर स्वर्णमय आवरण डाल देती है।

गुप्तजी के उपन्यासो मे एक ऐसे प्रकार की मानवीयता है, जो पाठक को अभिभूत कर डालती है। मर्मस्पर्शिता उनका प्रधान गुण है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है, उसमे बनावट अथवा अस्वाभाविकता नही। कथा-प्रवाह अबाध गति से बहता है और चरित्र-चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। आधुनिक उपन्यासकार होते हुए भी उनमे किसी प्रकार की अस्पष्टता तथा जटिलता नही है।

निबन्ध

झूठ-सच (स० १९९६)—श्री सियारामशरणजी से निबन्ध भी अछूता नही रहा है। इस सग्रह मे उनके समय-समय पर लिखे गये लगभग अट्ठाईस निबन्ध सकलित हैं। निबन्धो के रचना-काल मे कई वर्षों का अन्तर है। ये निबन्ध लेखक की रुग्णावस्था मे लिखे गये प्रतीत होते है। अस्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क के ये परिचायक है और कई दृष्टियो से हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे उल्लेखनीय है। अधिकाश निबन्ध आत्म-कथात्मक है, इनमें लेखक के सजग तथा चैतन्य सवेदनशील व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। दैनिक जीवन की नगण्य घटनाओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप इन सुन्दर निबन्धो की रचना हुई है। इनमें कहानी भी है, घटनाओ का चित्रण है, प्राकृतिक वर्णन है, व्यक्तिगत सस्मरण है, जीवन की मार्मिक घटनाओ की अभिव्यंजना करने वाले गद्य-काव्य के अश भी है। यही नही, साहित्य और राजनीति-सम्बन्धी समस्याओ की तार्किक विवेचना भी है, पर सभी रचनाओं में सरल आत्मीयता प्रकट होती है,

जो अपनी सहानुभूति, करुणा और संवेदनशीलता के कारण पाठक के मर्म को स्पर्श करती है। पाठक इन भावनाओ मे अभिभूत होकर आनन्दित हो उठता है।

इस पुस्तक का नामकरण इसके अन्तिम निबन्ध से हुआ है, जिसमें रधिया और काशीराम के चित्रण द्वारा लेखन-व्यवसाय के झूठे-सच्चे प्रयासो पर मृदु व्यग्य करते हुए निम्न-वर्ग की नारी की करुणापूर्ण कथा कही गयी है। इसे निबन्ध न कहकर कहानी ही कहना शायद उचित हो। साहित्य-कर्म मे लीन व्यक्ति मानवता को नही चीन्ह पाता और जगत् निर्मम होकर अपना निर्णय दे देता है। इस निबन्ध मे लेखक का कवि-हृदय स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'हिमालय की झलक' मे लेखक ने अपनी नैनीताल-यात्रा का सरस वर्णन किया है। पर्वत-प्रदेश मे जो एक प्रकार की विराट् भावना उद्भूत होती है, उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हमे इसमे मिलती है। 'कवि की वेश-भूषा' शीर्षक निबन्ध मे लेखक की हास-परिहास की वृत्ति प्रदर्शित है। इन रचनाओ मे लेखक अनेक स्थानो पर अपने पर, और अपने विरुद्ध भी हँसता रहा है। हास्य-व्यग्य का यह मृदु-समावेश पाठक को स्मित हास्य देता है, स्थान-स्थान पर उसे कौतूहल और गुदगुदी भी होती है। यह बात और भी महत्त्वपूर्ण हो उठती है, यदि हम यह स्मरण रखे कि सभी निबन्ध उस समय लिखे गये जिस समय लेखक रुग्ण था। उदाहरणस्वरूप निम्न अश दिया जा सकता है, जिसमें लेखक की विनोद-प्रियता और कौतूहलपूर्ण शैली के दर्शन होते है .

तब दूसरा सुझाव मेरा यह है कि कवि के लिए स्त्री-जैसा कच-कलाप अनिवार्य हो। इस पर अपने पूर्णाधिकार से वंचित होकर स्त्रियाँ इससे रूठेंगी नहीं। 'बढ़त देख निज गोत' की नीति से उनकी अँखियाँ सुखी ही होंगी।

[कवि की वेश-भूषा]

कई निबन्ध विचारात्मक है। उनमे हमे इस लेखक की सूक्ष्म गद्य-रचना की शक्ति का पता चलता है। उलझे हुए दार्शनिक विचारो को हल्की-सुलझी हुई भाषा मे व्यक्त करना इस लेखक के लिए सहज-सुलभ कार्य है। एक उदाहरण देखिए :

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रखी है। पर इसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी ने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रखा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ

दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। [बहस की बात]

राष्ट्र-प्रेम व्यक्त करने वाले दो-एक निबन्ध हमे स्मरण कराते है कि इस लेखक मे रुग्ण-शय्या पर पडे रहने के समय भी जीवन-शक्ति विद्यमान थी। भाषा, साहित्य, वेश-भूषा, संस्कृति इत्यादि पर ऐसे अनेक वाक्य कहे गये है, जो यदि चुनकर प्रसंग से अलग भी कर दिये जायें तो उनका महत्त्व और भी बढ़ जायगा। सूक्तिमय वाक्यो का यह लेखक धनी है। साहित्यिक संस्मरण की दृष्टि से 'मुन्शीजी' शीर्षक निबन्ध बहुत उपयोगी है, और स्वर्गीय मुन्शी अजमेरीजी के जीवन के अज्ञात अंशो को प्रकाश मे लाया गया है। शब्द-चित्र प्रस्तुत करने मे भी यह लेखक सिद्धहस्त है।

इन निबन्धो की गद्य-शैली सरल किन्तु परिष्कृत है, भाषा सीधी-सादी है किन्तु प्रभाव और प्रासादिकता का अभाव नही है। शब्द-चयन विषयानुकूल है और गम्भीर विचारात्मक निबन्धों मे भी विनोदपूर्ण-तार्किक शैली का आश्रय लिया गया है, जो पाठक को प्रिय है। गुप्तजी की एकमात्र निबन्ध-रचना होने के नाते, ही नही अपने प्रकार की अकेली साहित्यिक कृति होने के कारण भी इस पुस्तक का अनेक वर्षों तक आदर होता रहेगा।

कहानी

मानुषी (कहानी-सग्रह)—श्री सियारामशरणजी ने कुछ कहानियाँ भी लिखी है, उनका सग्रह इस सकलन मे हुआ है। इसमे कुल आठ कहानियाँ है। पहली कहानी 'मानुषी' के नाम पर इस पुस्तक का नामकरण हुआ है। काव्य और उपन्यासो के अध्ययन मे हम गुप्तजी की कथा-निर्माण-कला पर दृष्टिपात कर चुके है। पात्र खडे करना और उसके चारो ओर वातावरण का सहज निर्माण करना गुप्तजी की कला है। मानवीय सहानुभूति और संवेदनशीलता की जो सम्पत्ति इस कलाकार में है, उसके कारण इसकी किसी भी रचना मे रस का सचार हो सकता है। रस-क्षीण भी हो तो भी उसमे एक इस प्रकार का सात्विक गुण आ जाता है, जो पाठक को आत्म-तुष्टि प्रदान करता है। वह सोचता है, हिन्दी का यह लेखक चित्त मे उदात्त वृत्तियो का संचालन करता है—ऐसा अन्य लेखको मे नही।

इस दृष्टि से इस संग्रह की कहानियाँ उत्तम है। कथा का टेकनीक इतना सहज और सरल है कि वह नही के बराबर है। सरल रूप में इतिवृत्तात्मक रूप में यह कथानक को आगे बढ़ाते है, और अन्त मे पाठक को मानवीय हृदय के बृहद रूप के वर्शन होते है। प्रस्तुत सभी कहानियों में एक आवश्यक तत्त्व

अनिवार्य रूप से मिलता है, और वह है मानवीयता, शोषित, त्रस्त मानव के प्रति सहज सहानुभूति। प्रगतिवाद के युग मे यह कहना यहाँ आवश्यक है कि गुप्तजी का यह मानवतावाद उस प्रेम, सहानुभूति और करुणा से भिन्न है जो आजकल के वर्गवादी लेखको मे प्राप्त होता है। गुप्तजी की सहानुभूति मे आर्थिक दृष्टिकोण बिलकुल भी नही है। मनुष्य को मात्र प्राणी, मानव मानकर वे चलते है, और इसी मानववाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर इन कथाओ का निर्माण हुआ है।

इस सग्रह की प्रथम कहानी 'मानुषी' सियारामजी की एक ऐसी कहानी है, जो उनके कहानीकार रूप को प्रतिनिधि रूप मे स्पष्ट करती है। इसमे कहानी—पार्वती-शकर के सवाद से प्रारम्भ होती है। इस शैली ने कहानी को पौराणिक रूप दिया है। इससे प्रासादिकता अधिक आ गयी है। ग्रामीण वातावरण मे मनोहरलाल और उसकी धर्मपत्नी श्यामा का चित्रण है जो अपनी गहन करुणा के कारण पाठक पर गम्भीर प्रभाव डालता है। इस चरित्र-चित्रण मे गुप्तजी ने मानव के त्याग का ऐसा विचित्र रूप उपस्थित किया है कि आधुनिक पाठक सहसा विश्वास न कर सकेगा। श्यामा का पति मनोहरलाल जमीदार के अत्याचारो का शिकार होकर भी हिसा-भाव का आश्रय नही लेता और विधवा होने पर श्यामा भी आदर्श हिन्दू-पत्नी का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह अपने उन रत्नो को अब भी रत्न नही समझना चाहती, जिन्हें उसने अपने पति की बीमारी के समय कॉच समझकर त्याग दिया था। अन्त मे वरदान प्राप्त करने के समय भी वह पति-मिलन स्वीकार नही करती, क्योकि वह समझती है

अब इस लोक की मिट्टी में घसीटकर मैं उनका आनन्द क्यों भंग करूँ।

सियारामशरणजी ने इस कहानी मे श्यामा के चित्रण से सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक मनुष्य मे देवत्व समाया होता है जो उसे देवत्व से ऊँचा पद दे सकता है। तभी तो उन्होने श्यामा को 'मानुषी' कहा और उसे देवी पार्वती से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया। देव-लोक से भी अधिक उच्चता मानव-लोक की है। अन्य कहानियों मे भी हमे यही ग्रामीण वातावरण मिलता है। भारतीय ग्रामो की दरिद्रता और उस जीवन की गहन करुणा लेखक को द्रवित करती है, और मनुष्य मे उसकी आस्था गहरी होती जाती है। कई कहानियों मे उन्होंने बालक की सहज बुद्धि को बड़ा बल दिया है, मानो वयस्को को वे विवेक प्रदान करते हैं। 'काकी', 'त्याग' आदि कहानियों मे बालक बड़ों को सुबुद्धि देते हैं। भारतीय राष्ट्रीय-सग्राम की पृष्ठभूमि पर भी कई कहानियो का वातावरण निर्मित हुआ है।

गुप्तजी की कहानियो की सबसे बडी विशेषता है उनकी सादगी और बाल-सुलभ सरलता। ग्रामीण हृदय की सात्विकता उनमे स्पष्ट परिलक्षित होती है। वर्तमान आर्थिक संकट तो हमे इनमे मिलता है, किन्तु उसके प्रति एक प्रकार का मानववादी अहिसा भाव है। कही भी विद्रोह-भावना अथवा तिक्तता नही मिलती। इस दृष्टि से अध्ययन करने वाले पाठक को ये कहानियाँ प्रतिक्रियावादी प्रतीत होगी। इनकी कला को हृदयगम करने के लिए हमे उसी गाधीवादी दृष्टिकोण को अपनाना होगा, जो लेखक की प्रेरणा का केन्द्र है और प्रत्येक रचना मे गगा की पवित्र धारा के समान प्रवाहित है।

कवि सियारामशरण गुप्त

[डॉ० नगेन्द्र]

सियारामशरण गुप्त की कविता का मै लगभग पन्द्रह वर्षो से निरन्तर अध्ययन करता आया हूँ। वे मेरे प्रिय कवि नही है, मेरी और उनकी वृत्ति तथा जीवन-दृष्टि मे इतना अधिक अन्तर है कि मै उनके काव्य मे आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नही कर पाता। फिर भी मेरे मन मे उनके काव्य के प्रति विशेष श्रद्धा रही है, जैसी की एक साधारण रागी व्यक्ति के मन मे किसी सन्त के व्यक्तित्व और उसकी वाणी के प्रति होती है। और चूँकि आज की दुनिया मे मुझ-से व्यक्तियो का ही बहुमत है, सियारामजी जैसे अत्यन्त अल्प सख्या मे है, इसीलिए उनका काव्य अधिक लोकप्रिय नही हो पाया। और, यह उनके साथ अन्याय नही है, यह उनके काव्य की स्वाभाविक परिसीमा है।

सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरान्त मेरे मन मे सियारामशरण की कविता के विषय मे ये धारणाएँ बनी है :

१. उनकी कविता का मूल भाव करुणा है।

२. उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है, दूसरे शब्दो मे उसका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है, जिस पर गाधीजी के सिद्धान्तो की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है।

३. इस कविता का प्रभाव एकान्त सात्विक और शान्तिमय होता है।

४. परन्तु सियारामशरण ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इसलिए इस कविता मे जीवन का स्वाद कम है।

'मौर्य-विजय' से लेकर 'नकुल' तक सियारामशरण के अनेक काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। इनमे 'मौर्य-विजय' और 'नकुल' खण्ड-काव्य है, 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक है, 'बापू' व्यक्ति-काव्य है, 'आत्मोत्सर्ग' चरित्र-काव्य है, 'आर्द्रा' मे काव्य-बद्ध कहानियाँ है और 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'नोआखाली मे' तथा 'दैनिकी' मे स्फुट विचार-प्रधान कविताएँ है। 'मौर्य-विजय' को छोड जो मैथिलीशरणजी के प्रभाव में किया गया कवि का आरम्भिक काव्य-प्रयोग है, इन सभी का प्रधान स्वर करुणा है। यह करुणा 'विषाद' तथा 'आत्मोत्सर्ग' मे व्यक्तिगत होने के

कारण तथा 'आर्द्रा' की कहानियो मे निरावरण होने से अत्यन्त तीव्र हो गयी है। उधर 'उन्मुक्त', 'दैनिकी' और 'नोआखाली मे' मे भी वह युद्ध तथा रक्तपात के वातावरण के कारण सर्वथा व्यक्त है, परन्तु अन्य रचनाओ मे भी उसकी अन्तर्धारा उतनी ही असंदिग्ध है। करुणा की इस सर्वव्याप्ति के व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनो ही कारण है। व्यक्तिगत कारणो मे कवि का चिर रुग्ण जीवन पत्नी तथा अन्य प्रियजनो की मृत्यु, और बहुत कुछ साहित्यिक उपेक्षा भी है। इन तीनो कारणो ने मिलकर उसकी दृष्टि को स्थायी रूप से करुणार्द्र बना दिया है।. सबसे पहले तो श्वास-रोग ही अपने आप मे एक स्थायी व्यथा है, परन्तु रोग की व्यथा को प्रेम—विशेषकर अन्तरग सहचरी का प्रेम—बहुत कुछ हल्का कर देता है। इसी प्रकार मृत्यु, वियोग आदि के शोक को व्यक्ति स्वास्थ्य-सुख के द्वारा भुलाने मे सफल हो जाता है। और प्रेम तथा स्वास्थ्य दोनो के अभाव को साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत कुछ दूर कर सकता है। माना कि स्वीकृति का सुख अपने आप मे कोई विशेष स्पृहणीय सुख नही है, परन्तु वास्तविकता का निषेध करना व्यर्थ है, लेखक का यह बडा सम्बल है, और प्रत्येक देशकाल मे लेखक को इसकी आवश्यकता रही है।

इस प्रकार व्यक्तिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य-प्रेम और लोक-स्वीकृति इन तीनो के अभाव का अनुभव किया। उधर समष्टिगत जीवन मे भी वह युग पराजय का युग था। राजनीतिक जीवन मे काग्रेस बार-बार विफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढियो का सर्प इतनी गहरी कुण्डली मारे बैठा था कि जागरण-सुधार के सभी आन्दोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने मे असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य मे सियारामशरण की कविता का विकास हुआ और स्वभावतः उसमे करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।

यह करुणा क्रमशः व्यष्टि से समष्टि तक व्यापक होती गयी है। 'विषाद' की करुणा का धरातल, जैसा कि मैने अभी सकेत किया, शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गगता पत्नी के वियोग मे कवि ने अत्यन्त मार्मिक किन्तु सयत कविताएँ लिखी है। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है, उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका बुद्धि-वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्यु के पाश से मुक्त कराने मे असमर्थ रहते है। वह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी तो अपने प्रिय को प्राप्त नही कर सकता। विकल कवि दिवा-स्वप्न देखता है .

हो सकती भव बीच नही क्या कोई नूतन बात ?
आजा आज यहाँ फिर से तू सस्मित पुलकित गात ।
मन्द-मन्द गति से आकर तू आँखे सी दे खोल !
फिर से तेरे मंजु मिलन में उठे हर्ष कल्लोल ।
अरे यहाँ कैसे बैठे तुम, करते हो क्या खूब ।
कुछ न सुनूँ जा लिपटूँ तुझसे हर्षोदधि में डूब ।

परन्तु यह सब क्रूर कल्पना है

हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना ! यह छलना है व्यर्थ ।
अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ ।
उनमे से भी तुझ तक कोई पहुँच न सकते आह ।
जाने कितने गिरि-वन-सागर रोक रहे हैं राह ।

[विषाद]

मानव की बेबसी का कितना करुण चित्र है !

जीवन का यह एकाकीपन कठिन रोग की पीडा से मिलकर कवि की वैयक्तिक करुणा को और भी गहरा बनाता हुआ, उसके मन मे कभी-कभी अत्यन्त निराशामय चित्र अकित कर देता है :

गत निशि में सोचा शैया पर मैने लेटे लेटे ।
इसी निशा में मरण आज यदि आकर मुझको भेंटे ।
नहीं रुकेगी तब भी क्षणभर गति संचरित पवन की ।
क्या गणना है रत्नाकर में एक बूँद जल कण की ।

× × ×

फिर भी विकल हो उठेंगे सब मेरे स्वजन स्वहृज्जन,
बहु अज्ञात गुणों की माला मुझे करेंगे अपर्ण ।

[दैनिकी]

यह करुणा व्यक्तिगत धरातल से उठकर समष्टिगत धरातल पर पहुँचकर क्रमशः सामाजिक और विश्वजनीन—मानवीय हो जाती है। 'आर्द्रा' की कहानियों मे 'एक फूल की चाह', 'खादी की चादर' आदि मे उसका सामाजिक रूप निरावरण होकर सामने आता है। हमारे समाज का अन्तर्मन आर्थिक तथा वर्ण-जाति-गत विषमताओ से पीड़ित है। 'एक फूल की चाह' मे अछूत-बालिका सुखिया शीतला की महामारी का शिकार होती है। रुग्णा बालिका के मन मे देवी के प्रसाद के एक फूल की चाह उत्पन्न होती है, और उसका पिता बेटी की इस आकांक्षा को पूरी करने के लिए सामाजिक बाधा-व्यवधान

की उपेक्षा करता हुआ अपने सदुद्देश्य मे विश्वास करके चुपके-चुपके देवी के मन्दिर मे जाता है। परन्तु पण्डे लोग उसे पकड लेते है, उसको खूब मारा-पीटा जाता है और अन्त मे न्यायालय उसे एक सप्ताह का दण्ड देता है। इस बीच मे सुखिया बेचारी तडप-तडपकर प्राण त्याग देती है, और उसका पिता जब कारावास भोगकर आता है तो ज्ञात होता है कि सुखिया को तो कई दिन पूर्व उसके परिचित बन्धु फूंक चुके थे।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी!
अन्तिम बार गोद में बेटी, तुझको ले न सका मै हा!
एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझको दे न सका मै हा!
वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दण्ड न पा सकता था क्या?
बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मै कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मै हर लेता?
यहीं चिता पर धर दूँगा मै कोई अरे, सुनो, वर दो।
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो। [आर्द्रा]

कवि सियाराम का हृदय समाज की इस नृशसता पर चीत्कार कर उठता है और उससे हिन्दू समाज के प्रति एक अत्यन्त तीखा करुण-व्यग निकल जाता है :

कैदी कहते "अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मन्दिर पर ही?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी।"

समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है, और कवि के हृदय मे केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नही वरन् समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्भव हो जाता है :

× × **हाय री मेरी जगती।**
इतनी सुन्दर तदपि घृणित-सी तू क्यो लगती?
× × ×
तेरे में कुछ नहीं तेज बल? अयि कल्याणी,
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुण्ठित वाणी? [उन्मुक्त]

निष्कर्ष यह है कि इस करुणा का धरातल मूलतः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक न होकर मानवीय है। कवि सियाराम के काव्य की करुणा आज की चिर-परिचित भौतिक कुण्ठाओं की करुणा न रहकर भारतीय अध्यात्म की

मानव-करुणा, भगवान् बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। यद्यपि इसमे सन्देह नही कि इसका जन्म भौतिक कुण्ठाओ से ही होता है, परन्तु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे परिष्कृत कर शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। यह तपस्या है आधुनिक मनोविश्लेषण की शब्दावली मे आत्म-पीडन—अर्थात् मन को इस प्रकार वश कर मे कर लेना कि वह दु ख मे ही रस लेने लगे। वास्तव मे मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार आत्म-पीडन कोई स्पृहणीय वृत्ति नही है, परन्तु उसका उचित उपयोग करने से उन्नयन के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाता है। भारतीय साधना-पद्धति में इसका महत्त्व रहा है; पुराचीन सन्तो से लेकर गाधी तक ने इस साधना को अपनाया है।

इस प्रकार सियारामजी की करुणा स्थूल से सूक्ष्म अर्थात् भौतिक से आध्यात्मिक हो जाती है। स्वभावत. ही इस करुणा मे निराशा का अन्धकार अथवा किसी प्रकार की रुग्णता नही है, क्योकि इसका मूल गहरी आस्तिकता मे है। जीवन की करुणा से भीगा होने पर भी यह काव्य आशा और विश्वास के अमर सन्देश मे मुखर है। व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा सार्वजनिक किसी भी धरातल पर कवि की करुणा श्रद्धा और विश्वास-हीन नही होती

× × × **आश्वसित, समाश्वसित हूँ,**
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ!
देख रहा हूँ, जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का।
रूप विकट बीभत्स, जहाँ मूर्छित मानव का।
शतशः खण्डीकरण दलन विदलन कर-कर के;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े है नये-नये अंकुर बे शोभन।

जीवन मे जो घृणा और पाशवता दिखाई देती है, वह जीवन का सत्य नही है, वह तो केवल माया है। जीवन का सत्य है—स्नेह; और सत्य की शक्ति माया की शक्ति से कही प्रबल है, माया भगुर है, सत्य चिरन्तन। घृणा और द्वेष की विभीषिका कुछ समय तक ही रहती है। अन्त मे विजय स्नेह की ही होती है। सियारामशरणजी ने अत्यन्त मार्मिक शब्दो में इस अमर सत्य की व्यंजना की है.

उस सैनिक का रुधिर वहाँ वह हृदय-विमोहन।
नवजीवन के अरुण राग में परिवर्तित है।
जिसे घृणा की गयी उसी के लिए नमित है
धरणी की वह सुमन मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर-उधर सब ओर। [उन्मुक्त]

घृणा के ऊपर स्नेह की यह विजय स्पष्ट शब्दो मे गाधीवाद की घोषणा है; और सियारामशरणजी ने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया है। गांधीवाद वास्तव मे आध्यात्मिक मानववाद ही है। इसके दो मूल आधार है : सत्य और अहिंसा। यह सम्पूर्ण जगत्—चर-अचर—एक सत्य से अनुप्राणित है। यह सत्य अखण्ड और एकरस है। भावना के क्षेत्र मे यही भगवान् या राम है। एक सत्य से अनुप्राणित होने के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। आस्तिक के लिए यही समबुद्धि अनिवार्य है। इस समबुद्धि का व्यक्त रूप है अहिंसा। अहिंसा अभावात्मक वृत्ति नही है, वह अत्यन्त भावात्मक है, अर्थात् उसका मूल तत्त्व घृणा और द्वेष का निषेध मात्र नही है, उसका मूल तत्त्व है प्रेम। घृणा का उत्तर घृणा नही है, प्रेम है। हिंसा के विरुद्ध हम हिसा न करे यह भी पर्याप्त नही है, हमे उसका उत्तर प्रेम से देना चाहिए, तभी यह वृत्त पूरा होता है। क्योकि घृणा या हिंसा का अभाव तो केवल अभावात्मक स्थिति है जो शून्य है; और चिर-तरगायित मानव-मन शून्य अभावात्मक स्थिति मे रह नही सकता। अतएव उसको प्रेम से भरना होगा। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति प्रेम। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर मानव-मानव का भेद—समस्त जाति, वर्ण, गण, राष्ट्र के भेद तो मिट ही जाते है, इतर प्राणियों के प्रति भी समभाव उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस अहिंसा भाव की प्राप्ति कैसे हो ? इसका उपाय है आत्मशुद्धि, और आत्मशुद्धि के लिए तप अर्थात् आत्म-पीडन और भगवद्भक्ति आवश्यक है। पाप का विनाश तप से हो सकता है। केवल अपने पाप—अपनी घृणा और हिंसा का नाश करना पर्याप्त नही है, यह अधूरी साधना है। अहिसक को तो हिंसा के अस्तित्व मात्र से युद्ध करना है, और इसका भी उसके पास केवल एक ही उपाय है—तप। अपने को तपाकर हम अपनी शुद्धि ही नही करते है, दूसरे की भी शुद्धि करते है; यही गाधीजी का हृदय-परिवर्तन सिद्धान्त है। और, तत्त्व-रूप में यही गाधी-दर्शन है। व्यवहार-रूप मे इसके अनेक अंग है : देश-प्रेम, परसेवा, साम्प्रदायिक एकता, आत्म-निर्भरता [जिसके अन्तर्गत मशीन-उद्योग के विरुद्ध ग्राम-उद्योग की प्रतिष्ठा आदि आ जाती है], सदाचारमय जीवन, आदि। व्यापक रूप मे इसके अन्तर्गत विश्वमैत्री की भावना भी अनिवार्यत गर्भित है, परन्तु गाधीजी ने इसको तूल नही दिया।

जैसा मैंने अन्यत्र सकेत किया है, सियारामशरण ने गांधीवाद के तात्त्विक पक्ष को ही अपनाया है, उसके व्यवहार-पक्ष के प्रति उनको अधिक रुचि नही रही, वह उनके अग्रज का क्षेत्र है। इसका कारण दोनों के व्यक्तित्वों का अन्तर

है। मैथिलीशरणजी का जीवन विशिष्ट रागद्वेषमय व्यावहारिक जीवन है, सियारामशरणजी का जीवन चिन्तनमय है, और स्पष्ट शब्दो मे—मैथिली बाबू मे जीवन का प्रबल उपभोग है, सियारामजी मे उसका चिन्तन। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मैथिली बाबू ने जहाँ गाधीवाद का कर्म-रूप ग्रहण किया है, वहाँ सियारामजी ने उसका तत्त्व रूप। इससे अतिरिक्त दोनो में एक और अन्तर है, मैथिली बाबू में भक्ति के सस्कार गहरे और अचल है, सियारामशरण मे सन्तो का आत्मपीडनमय तप है। अतएव सियारामजी गाधीवाद के तात्त्विक रूप को, जो मूलत सन्त-दर्शन का ही विकास है, सहज ग्रहण कर सके। परन्तु मैथिली बाबू के भक्ति-संस्कार इतने प्रबल और गहन थे कि उनके ऊपर गाधीजी के केवल उन्ही सिद्धान्तो का प्रभाव पड़ सका, जिनके साथ कि उनकी संगति बैठती थी। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक जागरूक होने के कारण उन्होने गाधीवाद के ऐसे सभी तत्त्वो को अपनी रामभक्ति मे समाविष्ट कर लिया है, जिनका उससे मौलिक विरोध नही है—गाधीजी के स्वदेश-प्रेम, स्वातन्त्र्य-सघर्ष, जागरण-सुधार, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, परसेवा आदि सिद्धान्तो को मैथिली बाबू ने बडे उत्साह के साथ ग्रहण किया है, परन्तु सत्य और अहिंसा को उन्होने रामभक्ति के अनुरूप ढालकर ही स्वीकार किया है। जहाँ गाधी-नीति और रामभक्ति मे मौलिक भेद है, वहाँ मैथिली बाबू ने गांधी-नीति को स्वीकार नही किया जैसे कि अवतारवाद आदि के सम्बन्ध मे। गाधी निर्गुण भक्तो की परम्परा मे आते है और मैथिली बाबू ने सगुण और साकार उपासना को विधिवत् और पूर्णनिष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

सियारामजी मे आस्तिक सस्कार तो अपने अग्रज की भाँति ही वर्तमान है परन्तु उनकी आस्तिकता का विकास शास्त्र-धर्म के अनुसार न होकर युग-धर्म के अनुसार हुआ है। उन्होने गाधी-दर्शन को समग्रतः ग्रहण कर लिया है। एक-से सस्कार और वातावरण मे पोषित इन गुप्त बन्धुओ के जीवन-दर्शन का यह अन्तर मनोविज्ञान की दृष्टि से सहज ही समझा जा सकता है। सियारामजी की रुग्णता और उनके जीवन की दु.खद घटनाओं ने आत्म-पीडन के सिद्धान्त को उनके लिए सहज ग्राह्य बना दिया। इसके विपरीत मैथिली बाबू के सहज स्फूर्तिमय व्यावहारिक व्यक्तित्व को वश-परम्परागत रामभक्ति मे पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी। वास्तव में, भारतीय चिन्ता परम्परा में वैष्णव-दर्शन पीड़ा का दर्शन है, और शैव-दर्शन आनन्द का। पर वैष्णव-दर्शन मे भी निर्गुण और सगुण धाराओ मे पीड़ा के अनुपात का अन्तर है। सगुणोपासना में आनन्द का यथेष्ट समावेश है, परन्तु निर्गुण भाव का एकान्त दु:ख की

फ़िलासफ़ी है। गाधीवाद भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है, वह भी पीड़ा का दर्शन है, एक परतन्त्र देश की चिर-पराजय से जिसका जन्म हुआ है। अतएव स्वभावतः ही यह मैथिली बाबू की अपेक्षा सियारामजी के व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल पड़ा और इसके द्वारा उन्हे अपनी व्यक्तिगत पीडा के उन्नयन का अवसर मिल सका।

गांधी-दर्शन वास्तव मे सियारामशरण की रचनाओ मे ओत-प्रोत है। उनमें स्थान-स्थान पर गांधीजी की वाणी का काव्यानुवाद मिलता है :

नहीं कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्र-धनुष में
भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष-पुरुष में
बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत।

यह एकता सबमे अनुस्यूत अखण्ड सत्य की एकता है। इसी एक सत्य से अनुप्रेरित होने के कारण मानव स्वभावत. अकलुष है, सारा कलुष परिस्थिति-जन्य आवरण मात्र है, जिसके हट जाने से मनुष्य का शुद्ध-बुद्ध मानव फिर अपने मूल रूप मे आ जाता है

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल।

अतएव पाप वास्तव मे एक प्रकार की भ्रान्ति ही है; इसलिए पापी क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है :

× × ×

आत्म-विस्मृति ने छाकर।
उसका बोध विलोप कर दिया था मै उस पर
रोष करूँ या दया ?

क्योकि रोष तो स्वय हिंसा है, और हिंसा से हिंसा की शुद्धि कैसे हो सकती है। हिसा की शुद्धि के लिए तो अहिसा अपेक्षित है, यही जीवन का चिर सत्य है :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

[उन्मुक्त]

यह गाधीजी के सूत्रो का अविकल अनुवाद है। इतना ही नही, उनके सभी कथा-काव्यो का ध्वन्यार्थ भी यही है। 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त' और 'नोआखाली मे' तो प्रत्यक्ष रूप से गाधीवाद के सिद्धान्तो की स्थापना करते ही है, उनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की काव्यबद्ध कहानियो और 'नकुल' मे भी गाधी-दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदि की विचारात्मक स्फुट कविताओ मे भी है। वास्तव मे हिन्दी मे गाधी-दर्शन की इतनी सहज स्वीकृति किसी भी लेखक मे नही है। यो तो गाधी-दर्शन का प्रभाव इस युग मे एक सर्वव्यापी प्रभाव है, हिन्दी का कदाचित् ही कोई कवि या लेखक इससे अछूता रहा हो—यह वास्तव मे हमारा युग-दर्शन है। अनेक में गाधीवाद का प्रचारघोष भी आवश्यकता से अधिक मिलता है, परन्तु हिन्दी मे मूलत. दो लेखक ऐसे है जिन्होने गाधी-दर्शन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है, उनकी आत्मा गाधी-दर्शन के शम् सात्विक प्रभाव को ग्रहण नही कर सकी है। पन्तजी को गाधी-दर्शन की शान्ति परिष्कृति पूर्णत स्वीकार्य है, किन्तु वे कदाचित् उसमे अभीष्ट कला का अभाव पाते है, इसलिए अरविन्द कै प्रति उन्हे अधिक आकर्षण है। परन्तु सियारामशरण ने हृदय और बुद्धि दोनो का गाधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामजस्य कर लिया है, वह उनकी आत्मा मे रम गया है।

इस प्रकार के तप.पूत और साधनामय जीवन की अभिव्यक्ति निसर्गत: ही अत्यन्त सात्विक एव शान्तिमय होनी चाहिए। और, इस दृष्टि से सियाराम-शरणजी की कविताओ का मबसे पृथक् एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के एक लेखक ने सियारामशरण के निबन्धो के प्रभाव के विषय मे लिखा है कि इनका प्रभाव मन पर ऐसा पडता है जैसा निभृत मन्दिर मे मन्द-मन्द जलते हुए घृत-दीप का। यह उक्ति वास्तव मे सियारामशरण के समस्त साहित्य पर ही, विशेषकर उनके काव्य पर, पूर्णत घटित होती है। उनके काव्य को पढकर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शान्ति का अनुभव करता है। इस काव्य मे उत्तेजना का एकान्त अभाव है। वह न भावो को उत्तेजित करता है और न विचारो को। भयकर संघर्ष और उथल-पुथल के इस युग मे जबकि सर्वत्र ही मूल्यो का कुहराम मचा हुआ है, उत्तेजना का यह शमन अद्भुत सफलता है। वास्तव मे, आज के जीवन मे उत्तेजना सत्य है और शान्ति कल्पना। आज का कवि हृदय को ही नही विचारो को भी झकझोरकर पाठक के मन को प्रभावित करता है, उसका संवेद्य ही यह उत्तेजना है। मूल्यो को अस्त-व्यस्त

करता हुआ, मान्यताओं को चुनौती देता हुआ, विचारो को झकझोरे देकर [और उनके द्वारा हृदय मे भी उथल-पुथल मचती ही है] वह पाठक के साथ बौद्धिक तादात्म्य स्थापित करता है। सियारामशरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरिचित नही है, उनके खण्ड-काव्यो और स्फुट मुक्तको में इसकी स्थिति सर्वत्र है, परन्तु स्वीकृति कही भी नही है। युग के तूफान और आँधी के बीच उनका वह मन्दिर-दीप जिसमे विश्वास अर्थात् सत्य की अग्नि-शिखा है और स्नेह अर्थात् अहिंसा का घृत है, नीरव निष्कम्प जलता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना से मुक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है और उनका यह विश्वास एकान्त मानवीय मूल्यो पर, सत्य और अहिंसा पर आधृत होने के कारण शान्त और नीरव है, दूसरे पर छा जाने वाला नही है। इसलिए इस कविता मे एक अपूर्व शान्ति और सात्विकता मिलती है।

इस शान्ति और सात्विकता का दूसरा रहस्य यह है कि इस कवि की चेतना वासना और ऐन्द्रियता से बहुत कुछ मुक्त है। निखरते साधना-सयम से उसने वासना को अत्यन्त परिष्कृत कर लिया है। फलत उसमे एक ओर क्रोध, घृणा आदि द्वेप-जन्य मनोवेगों का परिमार्जन हो गया है, दूसरी ओर राग का उन्नयन। सियारामजी जैसे व्यक्ति के लिए साधारणत. मनोग्रन्थियो और काम-कुण्ठाओ का शिकार हो जाना स्वाभाविक था, परन्तु उनके आस्तिक सस्कार और निष्ठा ने उनकी रक्षा की है और इतना बल प्रदान किया है कि वे अपनी कुण्ठाओं पर विजय प्राप्त कर सके। वास्तव मे मनोविश्लेपको ने कुण्ठा के पोषण के लिए जिन परिस्थितियो का उल्लेख किया है वे सभी सियारामशरणजी के जीवन में उपस्थित रही है, उदाहरण के लिए, काम की अभिव्यक्ति के साधन का अभाव, कठोर नैतिक वातावरण एवं धार्मिक रूढिग्रस्त जीवन, तथा अस्वस्थ शरीर। परन्तु इस व्यक्ति ने अपनी साधना से जीवन के विष को अमृत कर लिया है। और मै समझता हूँ इसका श्रेय बहुत कुछ अंशो मे आस्तिक सस्कार और पारिवारिक स्नेह को भी देना पड़ेगा।

तीसरा कारण इस सात्विक शान्ति का यह है कि सियारामशरणजी ने अपने अहकार को पूर्णत पीडा में घुला दिया है। भयकर अहम्वाद के इस युग में अहकार का यह उत्सर्ग एक आध्यात्मिक सफलता है, और जैनेन्द्रजी के अनुसार साहित्य का चरम श्रेय यही है। साहित्य का चरम श्रेय यह हो अथवा न हो परन्तु जीवन और साहित्य की यह एक पुण्य साधना अवश्य

है, जिससे चेतना शान्तिमय और निर्मल होती है और इस प्रकार जिस साहित्य की सृष्टि होती है वह निस्सन्देह सात्विक और पुण्य-पूत होता है। पीडा के दर्शन को हृदय से स्वीकार करने वाले के लिए वास्तव मे अहंकार का विलयन करना अनिवार्य हो जाता है, क्योकि पीडा व्यक्तित्व को द्रवीभूत करती है, अहकार उसे पुंजीभूत करता है। दैहिक और दैविक कष्टों के कारण और परिवार मे छोटे होने के कारण सियारामशरण आत्मनिषेध के अभ्यस्त होते गये और उधर अपने आस्तिक संस्कारो द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक विकृतियो को बचाते हुए उसे उदात्त रूप देते गये। परिणामस्वरूप विनय (अहंकार का अभाव) उनकी चेतना का अग बन गया और व्यक्तिगत पीडा का मानव-पीडा के साथ तादात्म्य होता गया, जिसमे रजस् और तमस् बहुत कुछ घुलकर नष्ट हो गया और सत् का प्राधान्य हो गया। सात्विकता की दृष्टि से वास्तव मे सियारामशरण का काव्य आधुनिक हिन्दी-काव्य मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखता। ऐसी सात्विकता और शान्ति प्राप्त करने के लिए हमे महादेवी की कतिपय कविताओ को पार करते हुए बहुत दूर मध्ययुग के भक्तो के आत्म-निवेदन तक जाना होगा। परन्तु उस काव्य की और सियारामशरण के काव्य की आत्मा मे भेद है। सियारामशरण भक्त नही है, भक्त की एकनिष्ठता उनमे नही है, उन्होने अपनी रति को केन्द्रित करने की जगह वितरित किया है। उनमे श्रद्धा है, ममता है, किन्तु एकनिष्ठ रति नही है।

यह अभाव सियारामशरण की कविता के सबसे बडे अभाव के लिए उत्तरदायी है, और वह यह है कि उन्होने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है। इसलिए उनके काव्य में जीवन का स्वाद कम है। नाना-रसमयी सृष्टि मे उनका घनिष्ठ परिचय करुण और शान्त से ही है, करुण माध्यम है और शान्त परिणति। श्रृंगार, वीर आदि भावात्मक रसों का उन्होने बडे सन्देह के साथ डरते-डरते स्पर्श किया है। नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आँखो को मानो गंगाजल से आँज लेता है। यो तो इनके काव्यों मे नारी के विविध रूपो का वर्णन है . नारी के माता, बहन, पुत्री, पत्नी और प्रेयसी सभी रूप मिलते हैं, परन्तु कही भी वे रति की आलम्बन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्घाटन नही कर सके है। नारी के लिए उनके मन मे श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता भर है। जहाँ कही श्रृंगार का प्रसंग आता है सियारामशरणजी के ये दोनों भाव उस पर आरूढ हो जाते है। उदाहरण के लिए :

करती थी वह वहाँ अकेली स्नान-विमज्जन।
अंजलि से जल वक्ष बाहु कच भिगो-भिगोकर,
जलधारा में पसर गयी वह लम्बी होकर।
सैकत में फिर युग मृणाल-भुज स्थापित कर निज,
ऊपर समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज।

[नकुल]

रूप-वर्णन कितना फीका है। इसको पढ़कर स्पष्ट ही यह धारणा होती है कि या तो कवि के पास रमणी के इस रूप का पान करने वाली दृष्टि नही है, या फिर उसने साहस के अभाव के कारण अपनी आँखे दूसरी ओर मोड़ ली है। वास्तव मे यही हुआ है। कवि सचमुच सहमकर आकाश की ओर देखने लगा है .

इसी समय सामने क्षितिज में अरुण सेज पर,
उठा बाल-रवि गगन धरा का अनुरंजन कर।

रमणी की ओर दृष्टि उसने अपने श्रद्धा-भाव को आहूत करने के उपरान्त ही डाली है ·

अर्द्धोत्थित से हुआ न जब तक पूर्णोत्थित वह,
बनी रही साष्टांग नमन-मुद्रा मे स्थित वह।

इस प्रसग मे, अन्तर को स्पष्ट करने के लिए आपको प्राचीनो मे विद्यापति का और नवीनो मे प्रसाद का स्मरण मात्र करा देना पर्याप्त होगा। इसमे सन्देह नही कि विवेक-बल के द्वारा सियारामशरणजी ने भी एकाध स्थान पर सकोच का परित्याग कर प्रकृत चित्र अकित करने का प्रयत्न किया है परन्तु अब उसके लिए बहुत विलम्ब हो गया है, और इन अभिव्यक्तियो मे ऊष्मा की कमी है :

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोड़ी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थ ने उसकी मोड़ी,
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगायी,
अमृत पिलाकर विरह-काल की भीति भगायी,

[नकुल]

यह चित्र बिलकुल ठण्डा है। सारी क्रिया यन्त्रवत् है। तुलना कीजिये :

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे,
पागल प्राण धधक उठता है तृषा-तृप्ति के मिस से।

और, श्रद्धेय सियारामशरणजी क्षमा करे, यह प्रक्रिया भी गलत है।

इसमे सन्देह नही कि नारी के माता, बहन, मित्र आदि अनेक रूप है, और उसे सदा बुभुक्षित नेत्रो से देखना अत्यन्त अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, परन्तु उसका एक प्रकृत नारी-रूप भी है जिसके शरीर और मन मे उपभोग की भूख है, जो स्वय उपभोग्य बनकर भी तृप्ति पाती है। स्वय सियारामशरण के ही काव्य मे एक स्थान पर प्रकृत नारी यही पुकार उठी है·

आकर सहसा किसी भ्रांति की संचारी में,
देवी का आरोप करेंगे यदि नारी में,
तो कैसे वह सहन कर सकेगी उस क्षण को,
जब कल-छलना-रहित समय कर देगा मन को,

[नकुल]

नैतिक आदर्श आदि के आतक से इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिए वह स्पृहणीय नही है। उसका अभाव जीवन की अपूर्णता का द्योतक है।

श्रृंगार के अतिरिक्त उनमे जीवन और काव्य को समृद्ध करने वाली व्यक्तित्व की अन्य प्रकृत अभिव्यक्तियों की भी परिक्षीणता है। उन्होने आत्मपीडन के द्वारा अपने अह को घुलाकर इतना निर्मल करने का प्रयत्न किया है कि उसके रग धुल गये है, और उनकी जीवन-दृष्टि आवश्यकता से अधिक निर्वैयक्तिक एवं एकागी-सी हो गयी है। अहं का सस्कार करते-करते वे उसकी प्राकृतिक-शक्ति को खो बैठे है—अतिशय परिष्कार से वस्तु की प्रकृत शक्ति नष्ट हो जाती है, यह प्रकृति का नियम है। अह के सत्-असत् दोनो रूपो की जीवन मे सार्थकता है। स्नेह, करुणा, श्रद्धा, शान्ति, विनय, सयम, अहिसा आदि तो जीवन के आभूषण है ही, परन्तु घृणा, कठोरता, दर्प, अहकार, वासना आदि की भी सार्थकता मे सन्देह नही किया जा सकता। घृणा मे असमर्थ व्यक्ति का स्नेह फीका होता है। जो व्यक्ति कठोर नहीं हो सकता उसकी करुणा असहाय होती है। दर्पहीन की श्रद्धा दुर्बल होती है और विनय क्लीब। इसी प्रकार अहिसा को भी हिसावृत्ति के अनुपात से ही तेज प्राप्त होता है। जीवन का यह समग्र-ग्रहण सियारामशरणजी मे नहीं है, यह उनके अग्रज में है। सियारामशरण की कविता में अमृत है, पर मनुष्य को रस चाहिए—वह तो रस पर जीता है। सियारामशरणजी की चेतना का मूल गुण है उसकी सवेदनशीलता। पीडा को जीवन-दर्शन मानने वाला व्यक्ति निश्चय ही अतिशय सवेदनशील होगा। संवेदनशीलता के कारण उनकी काव्य-चेतना अत्यन्त सूक्ष्म है, उसमे गहराई भी कम नही है। परन्तु जीवन के

उपभोग के अभाव मे उसमे समृद्धि का अभाव है, और उधर जीवन का समग्र-ग्रहण न होने के कारण उसमें व्यापकता तथा विराटता का भी अभाव है।

कला-शिल्प—उपर्युक्त विश्लेषण की भूमिका मे अब मै यदि यह कहूँ कि सियारामशरणजी अपने कला-शिल्प के प्रति अत्यन्त जागरूक है तो वह असंगति-सी प्रतीत होगी। जिस व्यक्ति के काव्य मे इतनी सात्विकता और शान्ति है, जिसने आत्म-शुद्धि पर इतना बल दिया है, वह कला-शिल्प के प्रति जागरूक क्यो होगा? परन्तु वास्तव मे यह बात नही है, उपर्युक्त गुणो का कला-शिल्प से कोई विरोध नही है; कला-शिल्प से विरोध बहिर्मुखी प्रवृत्ति अथवा अतिशय प्रबल आत्माभिव्यक्ति का तो माना जा सकता है। जिस व्यक्ति को अनुभूति की प्रबल प्रेरणा के कारण चिन्तन का अवकाश ही न हो वह तो कला के प्रति उदासीन होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाहर की ओर ही अधिक देखता है, वह भी कलादृष्टि खो बैठता है। कला के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति आवश्यक है, जिसके दो प्रमुख रूप है—चिन्तन और कल्पना। और सियारामशरण मे इन दोनो का, विशेषकर चिन्तन का प्राचुर्य है। चिन्तन एक प्रकार से उनके काव्य का सामान्य गुण है। निदान उनकी काव्य-चेतना से कला-शिल्प का कोई विरोध नही है। हाँ, यह असदिग्ध है कि इस कला का स्वरूप उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

इस दृष्टि से सियारामशरण की कला की एक प्रत्यक्ष विशिष्टता यह है कि वह गीतिमय न होकर चिन्तनमय है। उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति नही मिलती। वे प्राय एक विचार को लेकर उसके परिवहन के लिए एक छोटी-सी लघु-कथा (फेबिल) का निर्माण करते हैं और उसी के माध्यम से अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते है। यह उनकी प्रिय शैली है और एक प्रकार से अब उनके लिए स्वाभाविक-सी हो गयी है। वे कहते नही है, सकेत करते है। व्यंग्य उनका सबसे प्रबल शस्त्र है और कही-कही वह बडा मार्मिक और तीखा हो जाता है।

दूसरे, यह कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है। इसमें रूप-रग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नही है। इसमे एक निरन्तर स्वच्छता है जिसका मूल आधार है समन्विति। कवि की कल्पना और भाव-कोष पर चिन्तन का स्थिर नियमन है, अतएव प्राचुर्य-जन्य शैथिल्य और सूत्राभाव उसमे कही भी नही मिलता। उसकी अभिव्यक्ति सदैव सार्थक एवं अन्वित होती है। उसके चित्र कही भी असम्बद्ध एवं स्वतन्त्र नही हो पाते। मूल विचार की एकसूत्रता उनमे सदैव रहती है। राग, कल्पना तथा विचार का पूर्ण सामजस्य

उनमे सर्वत्र मिलता है। इसलिए एक भाषा-मर्मज्ञ ने सियारामशरण की प्रशंसा मे लिखा है कि उनकी काव्य-भाषा, वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से गद्य-भाषा के अधिक-से-अधिक निकट आ जाती है। अन्वय किये बिना ही प्रायः उसका गद्यान्तर किया जा सकता है। यह वाग्धारा की स्वच्छता और स्फीति का ही द्योतक है। अन्यथा उनकी भाषा गद्यवत् नही है। उसका काव्योचित अर्थ-गाम्भीर्य्य और प्रौढता अद्भुत है। और सन्तोष की बात यह है कि यह प्रौढता निरन्तर बढती जाती है। 'नकुल' से कुछ उदाहरण देता हूँ .

१. थमा दिव्य संगीत मुखरता खोई दिव की,
चढ़-सी गयी समाधि समय के सुन्दर शिव की।
२. किस पामर ने किया नखांकित दारुण दुखकर,
संशय का यह घाव आर्य-वाणी के मुख पर।
३. धरा वहाँ उठ गयी स्कन्ध तक मानों दिव के,
तपोरता पार्वती अंकगत हो ज्यों शिव के।

ये केवल उदाहरण मात्र है। वैसे अब सियारामशरण की अभिव्यक्ति का साधारण स्तर ही यह हो गया है। उनके नवीन काव्यो मे प्रत्यक्ष इतिवृत्त वर्णन का एक प्रकार से अभाव होता जा रहा है। उनकी अभिव्यक्ति अब ऋजु-सरल न रहकर उत्तरोत्तर वक्र होती जा रही है।

इस प्रकार कवि सियारामशरण के काव्य मे सस्कार और साधना का साधु समन्वय है। वे उन कवियो मे से है, जिन्होने सच्चे अर्थ मे काव्य की साधना की है। वे लोकप्रिय नही रहे और हो भी नही सकते; क्योकि वे प्रेय को छोडकर श्रेय की साधना मे रत है।

सियारामशरण गुप्त का काव्य-शिल्प

[डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त]

कविवर सियारामशरण गुप्त ने सन् १६१४ से लेकर सन् १६६३ तक लगभग अर्द्ध शताब्दी तक काव्य-साधना की थी। उन्होने राष्ट्रीय सास्कृतिक कविता के अन्तर्गत मुख्यत. गाधीवादी विचार-धारा को वाणी दी है। 'उन्मुक्त', 'मृण्मयी', 'पाथेय', 'नकुल', 'आर्द्रा', 'दूर्वादल', 'बापू' और 'अमृतपुत्र' उनके उल्लेखनीय काव्य-ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त 'दैनिकी', 'आत्मोत्सर्ग', 'विषाद', 'मौर्य-विजय,' 'अनाथ', 'नोआखाली मे' और 'जयहिन्द' उनकी सक्षिप्त काव्य-कृतियाँ है। 'गीता-संवाद' और 'बुद्ध-वचन' मे उन्होने क्रमश. श्रीमद्भगवद्गीता' और 'धम्मपद' का समश्लोकी अनुवाद किया है। उन्होने नाटक (पुण्य-पर्व), निबन्ध (झूठ-सच), कहानी (मानुषी) और उपन्यास-साहित्य (गोद, अन्तिम आकाक्षा, नारी) की भी रचना की है। सम्भवत यही कारण है कि उनके काव्य मे केवल भावना के सूक्ष्म-कोमल चित्र नही है, अपितु 'उन्मुक्त' नाट्यगुण-सवलित आख्यान-काव्य है, अधिकाश स्फुट कविताओ मे निबन्ध जैसी गम्भीर वैचारिकता को स्थान मिला है और 'आर्द्रा', 'अनाथ', 'नकुल', 'आत्मोत्सर्ग' आदि में कथा-साहित्य जैसी आख्यानक प्रवृत्ति है। उनके काव्य-शिल्प (काव्य-रूप, भाषा-शैली, अलकार, छन्द) का सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक विवेचन करते समय हम उपर्युक्त काव्य-सम्पद् का यथास्थान उल्लेख करेगे।

काव्य-शिल्प सम्बन्धी सिद्धान्त

सियारामशरणजी के काव्य मे काव्य-कला के संयोजक उपकरणो का अत्यन्त विविधता और समृद्धि से प्रयोग हुआ है, किन्तु भाषा, अलकारादि के स्वरूप पर उनके विचार अत्यन्त विरल है। इसके मूल मे उनका यह सकोच है—"काव्य-सिद्धान्त पर कुछ लिखना अपने लिए मैने कभी उचित नही समझा।"[१] उन्होने केवल भाषा के सम्बन्ध मे सक्षिप्त विचार-कथन किया है; काव्य-रूपो, अलकार-योजना तथा छन्द-विधान के विषय मे वे मौन रहे है। उनका भाषादर्श निश्चय ही उल्लेखनीय है। उन्होंने द्विवेदीयुगीन कवियो की

[१] रसवन्ती, जुलाई १६६३, 'तीन साहित्यकार · तीन पत्र' शीर्षक लेख, पृष्ठ ५६।

अभिधामूलक भाषा के अन्धानुसरण का विरोध किया है और छायावादी काव्य की लक्षणा-व्यजना-समृद्ध अभिव्यजना-शैली को, जिसे क्लिष्ट मान लेने की परम्परा चल पडी थी, काव्यासन पर प्रतिष्ठित करने का अनुरोध किया है। यथा—"साहित्य मे प्रसाद गुण की सराहना के मूल मे क्लिष्टता का विरोध पाया जाता है।···· 'जहाँ वह उचित स्थान पर है, वहाँ भी वह आज सहन नही की जा सकती।······हम उसका आनन्द तो लेना चाहते है, पर लेना ही लेना चाहते है, कुछ देने के लिए तैयार नही है। लेने के लिए देना पहली शर्त है। इसे पूरा किये बिना जो कुछ मिलता है, वह 'प्राप्ति' नही, उसे भिक्षा कहते है।"[1] इस उक्ति मे प्रसाद गुण के प्रति अनास्था प्रकट नही की गयी है, किन्तु उसी को अलम् मान लेना उन्हे स्वीकार्य नही है। इसका कारण यह है कि वे काव्य मे कला-सस्कारो को उतना ही प्रयोजनीय मानते है जितना कि भाव-प्रवाह को। अर्थ (भावना) और गिरा (अभिव्यजना) के समजन को वे कवि का मूल धर्म मानते है, अन्यथा अभिव्यजना की शिथिलता भावना को भी समृद्ध (समलकृत) नही होने देती। उदाहरणार्थ उनकी यह उक्ति देखिए·

"गिरा अर्थ से, अर्थ गिरा से
सादर समलंकृत है आज।"[2]

काव्य-रूप

भाषा-शैली के स्वरूप-निर्धारण में काव्य-रूप (प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्य, गीति नाट्य आदि) का भी योग रहता है—आख्यानक लघु कविताओं, गीति काव्य, छन्दोबद्ध स्फुट कविताओ और काव्य-रूपक की भाषा का अन्तर इसका प्रमाण है। सियारामशरणजी ने महाकाव्य के अतिरिक्त सभी काव्य-रूपो का प्रयोग किया है, अत· उनकी शैली मे विविधता सहज-स्वाभाविक है। खण्ड-काव्य (नकुल, मौर्य-विजय), काव्य-रूपक (उन्मुक्त), व्यक्ति-काव्य अथवा चरित-काव्य (बापू, आत्मोत्सर्ग), आख्यानबद्ध कविताओ (आर्द्रा, मृण्मयी, अनाथ) तथा स्फुट विचार-प्रधान कविताओ (पाथेय, दैनिकी, दूर्वादल, जयहिन्द आदि) की रचना मे उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'सुनन्दा' नामक रूपक-काव्य की भी रचना की थी, किन्तु पाण्डुलिपि खो जाने के कारण उसका प्रकाशन न हो सका।[3] उनकी अधिकाश रचनाएँ—चाहे वे

---

[1] झूठ-सच, पृष्ठ ११७-११८।
[2] बापू, नवम संस्करण, पृष्ठ ६।
[3] देखिए 'रसवन्ती', जुलाई १६६३, पृष्ठ ५७।

खण्डकाव्य हो और चाहे स्फुट कविताएँ—विचार-प्रधान कथा-काव्य के रूप मे लिखी गयी है, किन्तु 'दैनिकी', 'जयहिन्द', 'पाथेय' आदि की स्फुट कविताओ मे विचार-तत्त्व की ही प्रमुखता रही है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे इतिवृत्त की प्रधानता है, किन्तु उत्तरवर्ती कृत्तियो मे भाव-सवेदन की सहजता अथवा विचारो की प्रमुखता पर बल दिया गया है।

भाषा-शैली

काव्य की सवृद्धि मे भाव-सम्पदा का तो विशिष्ट योग रहता ही है, अभिव्यजना-धर्म का निर्वाह भी उतना ही आवश्यक है। सियारामशरणजी के काव्य मे माधुर्यादि गुणो से विभूषित शब्द-सम्पदा और शैली-सम्बन्धी विविधता पूर्णोत्कर्ष के साथ विद्यमान है। आगे हम उनकी भाषा-शैली के सौन्दर्योत्पादक गुणो की क्रमशः परीक्षा करेगे।

(अ) **शब्द-समृद्धि**—सियारामशरणजी ने अपनी कविताओ मे शब्द-चयन के व्यापक आधार पर विशेष बल दिया है। उन्होने सस्कृत-पदावली का पद-पद पर प्रयोग किया है, किन्तु अधिकतर उन्ही शब्दो को अपनाया है, जो हिन्दी मे सहज-व्यवहृत है। शोणित, अनागत, अपत्य, आमोदित आदि शब्द[1] इसी प्रकार के है। वैसे, सस्कृत की प्रकृति के अनुकूल तत्सम पद-सवलित उक्तियाँ भी उनके काव्य मे है, किन्तु प्राय. उनमे जटिलता नही है। यथा—"धरा गर्भगत मधुर मातृरस वह अखण्ड नित।"[2] तद्भव शब्दो का प्रयोग करने के अतिरिक्त उन्होने यथाप्रसग दूनर (झुककर दोहरा होना), मजूर, ठौर, खेप आदि देशज शब्दो[3] को भी प्रयुक्त किया है। किन्तु, उनकी भाषा की मूल प्रवृत्ति तद्भव तथा प्रान्तीय शब्दो का प्रयोग नही है, उन्होने उसे मुख्य रूप से सरल तत्सम शब्दो से अलकृत किया है। ब्रजभाषा के शब्दों अथवा क्रिया-रूपो के प्रयोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नही रही। इसी प्रकार उर्दू अथवा अग्रेजी के शब्दो का प्रयोग भी उन्होने प्राय. नही किया। हाँ, पूर्ण-पुनरुक्त पदावली (झुण्ड-झुण्ड), अपूर्ण-पुनरुक्त पदावली (हाट-बाट) और सहयोगी शब्दो (नर-नारी, युवा-बाल) के प्रयोग के प्रति वे प्राय. जागरूक रहे है, जिससे उनकी भाषा मे विशिष्ट लयात्मकता आ गयी है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित उक्ति मे उक्त तीनो प्रकार के प्रयोग देखिए .

---

[1] देखिए 'बापू', पृष्ठ १६, २१, २६, ७५।

[2] उन्मुक्त, पृष्ठ ५३।

[3] देखिए 'दैनिकी', पृष्ठ १०, १७, ३१, ५३।

इसके अनन्तर ही हाट-बाट-घाटों में
स्थान हो जहाँ भी वहीं झुण्ड-झुण्ड मिलके
सब नर-नारी युवा-बाल और बूढ़े भी
द्वीप का पवित्र प्रण फिर दुहरायेंगे।[1]

(आ) सन्धि, उपसर्ग और प्रत्यय—सियारामशरण जी ने मुख्यत. विचार-प्रधान काव्य की रचना की है, फलत सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग उनकी सहज प्रवृत्ति रही है। इसीलिए सन्धि, उपसर्ग और प्रत्यय के योग से निर्मित नवीन शब्दों अथवा इनसे युक्त सर्वप्रयुक्त पदावली को उनकी रचना में व्यापक स्थान मिला है। कृतान्ताकार (दूर्वादिल, पृष्ठ ६४), अग्न्युत्पात (उन्मुक्त, पृष्ठ २६), सलिलाशय (उन्मुक्त, पृष्ठ ७६) आदि सन्धियुक्त शब्दो का प्रयोग प्राय सरल रूप मे ही हुआ है, किन्तु ऐसे स्थलो की खोज कठिन नही होगी जहाँ इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप अर्थ-बोध मे जटिलता आ गयी है। सन्धि की अपेक्षा उपसर्ग अथवा प्रत्यय के योग से बनाये गये शब्द अपेक्षाकृत स्पष्ट रहे है। अ, परि, स, स आदि अनेकानेक उपसर्ग उनकी कृतियो मे सहज प्राप्य है। असशित (उन्मुक्त, पृष्ठ ६६), परिदर्शन (उन्मुक्त पृष्ठ ६६), सविशेष (जयहिन्द, पृष्ठ ७), सस्थित (जयहिन्द, पृष्ठ १४) आदि शब्द इसके उदाहरण है। निराभरणता (नकुल, पृष्ठ २३), सूक्ष्म हो कर तर-तर-तर (उन्मुक्त, पृष्ठ १४), निकटतर (उन्मुक्त, पृष्ठ ५३), कितना करुणाकलित दयामय ममतामय यह (उन्मुक्त, पृष्ठ ५२) आदि शब्दो अथवा वाक्याशो मे ता, तर, मय आदि प्रत्ययो के प्रति कवि का अनुराग स्पष्ट लक्षित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सन्धि उपसर्गादि के प्रयोग से गुप्तजी की भाषा मे कृत्रिमता नही आयी है, अपितु इनका प्रयोग प्रायः उक्ति मे प्रवाह लाने के लिए ही हुआ है।

(इ) विशेषण—सियारामशरणजी के काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है—विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग। विशेषण की काव्यगत महत्ता के विषय मे 'दिनकरजी' की यह उक्ति पठनीय है—"जहाँ यह जानने की आवश्यकता हो कि दो कवियो मे से कौन बड़ा और कौन छोटा है, वहाँ केवल यह देख लो कि दोनो मे से किसने कितने विशेषणो का प्रयोग किया है तथा किसके विशेषण प्राणवान और किसके निष्प्राण उतरे है।"[2] सियारामशरणजी मे दोनों

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ४०।
[2] काव्य की भूमिका, पृष्ठ १४५।

विशेषताएँ है—उन्होने विशेषणो के प्रयोग मे विपुलता और प्राणवत्ता दोनो का ध्यान रखा है। प्रारम्भिक कृतियो की अपेक्षा उत्तरवर्ती रचनाओ—विशेषत 'उन्मुक्त'—मे यह प्रवृत्ति सर्वाधिक द्रष्टव्य है। जटिल अमावस्या (मृण्मयी, पृष्ठ ११३), नवल निर्मलता (उन्मुक्त, पृष्ठ ५४), तरल तिमिर (नकुल, पृष्ठ २८) आदि में विशेषणो का प्रयोग रूढिबद्ध नही है—इनमे वर्ण्य की विशेषता के द्योतन के लिए मौलिक शैली अपनायी गयी है। हरिऔध जी की भाँति उन्होने कही-कही लिगानुसार विशेषण-प्रयोग की प्रवृत्ति को भी अपनाया है। 'जहाँ मृत्यु अविराम अशान्ता' (उन्मुक्त, पृष्ठ ४८) मे 'अशान्त' के स्थान पर 'अशान्ता' का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का फल है। विशेषण उनकी शैली में इतने सहज-सामान्य है कि कही-कही इनका शृखलाबद्ध प्रयोग हुआ है। उदाहरणस्वरूप ये पक्तियाँ देखिए :

ये तृण तरुदल ललित लताएँ मृदुल कुसुमसह,
ये कुरंग बहुरंग, कलित कलकंठ विहंगम।[1]

(ई) **गुण-दोषादि अन्य भाषागत प्रवृत्तियाँ**—सियारामशरणजी के काव्य मे माधुर्य गुण की अपेक्षा ओज गुण को अधिक स्थान मिला है—'नकुल', 'मृण्मयी', 'उन्मुक्त', 'जयहिन्द', 'मौर्य-विजय' आदि काव्य इसके उदाहरण है। वे राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता के सजग गायक है, अत. ओजगुणमूलक शब्दावली की व्याप्ति उनके काव्य का सहज गुण है। उन्होने करुण, वात्सल्यादि रसों के निरूपण मे प्रसंगानुसार माधुर्य गुण की भी योजना की है। उपर्युक्त काव्य-गुणो मे प्रसाद गुण की धारा अन्तर्वर्ती धर्म के रूप मे विद्यमान रही है अर्थात् उनके काव्य मे अभिव्यक्ति सम्बन्धी जटिलता का प्रायः अभाव रहा है। भाषा-सौन्दर्य की सवृद्धि के लिए उन्होने प्रसादादि गुणो की इतनी सफलता से आयोजना की है कि उनकी रचनाओ मे काव्य-दोषो की खोज लगभग निरर्थक होगी। 'पसर रहा है' (उन्मुक्त, पृष्ठ ३२) जैसे ग्राम्यदोषयुक्त प्रयोग, 'उत्पीडित खल' (उन्मुक्त, पृष्ठ ५२) मे 'उत्पीडक' के स्थान पर 'उत्पीडित' का अनुचित प्रयोग, विकीरण (उन्मुक्त, पृष्ठ ८३) जैसे शब्द-विकार (विकिरण अथवा विकीर्ण का दोषयुक्त रूपान्तर) तथा 'किस कारण हो गया अचानक ओछा-ओछा मेरा आतुर हृदय' (उन्मुक्त, पृष्ठ ८६) मे 'ओछा' का 'रिक्त' के अर्थ मे अप्रचलित रूप मे प्रयोग कुछ ऐसे उदाहरण है जो उनकी रचनाओ मे अत्यन्त विरल रूप मे ही मिलते है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ५३।

कि लक्षणा-व्यजनामूलक शब्द-विन्यास उनके काव्य की सहज विशेषता है, किन्तु मुहावरो द्वारा लाक्षणिक सौन्दर्य की सृष्टि के प्रति वे सजग नही है। 'आँख का तारा', 'हृदय डूबना' आदि मुहावरों[1] का प्रयोग अत्यन्त विरल स्थलो पर हुआ है।

(उ) **काव्यगत शैलियाँ**—सियारामशरणजी ने कथा-काव्य, काव्य-रूपक और मुक्तक काव्य की एक जैसी सफलता से रचना की है, अत उनकी रचनाओ मे शैली सम्बन्धी विविध प्रयोग सहज द्रष्टव्य है। उनकी आख्यानबद्ध कविताओ मे वर्णन-विवरणमयी शैली का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है, किन्तु अपने परिष्कृत काव्य-सस्कारो के अनुकूल उन्होने इस शैली को कल्पना, चित्रगुण, सरस-सजग विशेषणो आदि के प्रयोग द्वारा इतिवृत्तात्मकता के दोष से मुक्त रखा है। 'मौर्य-विजय' के विषय मे यह बात इतने सशक्त स्वरो मे भले ही न कही जा सके, 'नकुल', 'मृण्मयी' और 'उन्मुक्त' इसके सफल उदाहरण है। इन आख्यानक कविताओ की एक अन्य विशेषता यह है कि इनमे सूक्ति शैली और उद्‌बोधन शैली का सराहनीय समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ, ये सूक्तियाँ देखिए—(अ) फल मिलने तक भेद रहे अज्ञात सभी को (नकुल, पृष्ठ ७३), (आ) अप्रिय कठोरता मे प्रियता निहित है (बापू, पृष्ठ ५३), (इ) कष्ट भी कृतार्थ उस एक सुकृति का है, जिसने जगा दी हो सहस्रो मे स्वजनता (उन्मुक्त, पृष्ठ २६)। गुप्तजी उद्‌बोधन शैली के भी सफल प्रयोक्ता है। पात्रो की उक्तियों के अतिरिक्त उन्होने अपनी ओर से वर्णित प्रसगो मे भी इस शैली को बहुश स्थान दिया है। इसके लिए उन्होने कही विस्तारयुक्त कथन की प्रणाली को अपनाया है और कही सक्षेप में ही मार्मिक सन्देश प्रदान किये है। उदाहरणस्वरूप, निम्नस्थ उक्तियाँ देखिए ·

(अ) **आ सको तो आना, यहीं बैठ मत रहना,**
सब को चुकाना आज जीवन का ऋण है।[2]

(आ) **जिनका विक्रम बना हुआ है आज अगोचर,**
दमकेंगे वे कल-भविष्य के भूषण होकर।[3]

सियारामशरणजी के काव्य मे वैचारिक गम्भीरता की प्रमुखता रही है, अतः उनकी रचनाओं में प्रगीत शैली को प्राय स्थान नही मिला। कल्पना और राग का उनमें अभाव नही है, किन्तु आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षा उनके

---

[1] दूर्वादल, पृष्ठ ४८, ७० ।
[2] उन्मुक्त, पृष्ठ ३० ।
[3] नकुल, पृष्ठ ९६ ।

काव्य मे चिन्तन अधिक मुखर है—और यही गीति काव्य का बाधक गुण है। उनकी शैली की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ है—सवाद-गुण तथा चित्र-गुण। सवाद-गुण 'उन्मुक्त' और अन्य कथा-काव्यो मे उपलब्ध है और चित्र-शैली को प्रारम्भिक रचनाओ की अपेक्षा उत्तरोत्तर कृतियो मे अधिक स्थान मिला है। सवाद-गुण की योजना उन्होने दो रूपो मे की है—(अ) ओजगुणमूलक आत्मसंवाद अथवा अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति मे सहायक आत्मालाप, (आ) परिस्थितियो अथवा पात्रो के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने वाले संवाद। कवि के सवाद-कौशल के उदाहरण रूप मे पुष्पदन्त और मृदुला के वार्तालाप की यह माला-रूप योजना द्रष्टव्य है

बैठ गया चुपचाप, कहा मृदुला ने "जाओ",
क्षीण कण्ठ से। "बहन, यहाँ सुनने को 'आओ'
आया हूँ मै"—कहा किसी बिध मैने हँसकर।
"देखो!"—वह उठ खड़ी हुई भय में-सी फँसकर,
बोली—"ज्ञानू निकल भोंयरे में से आया,
मै आयी बस और उसी क्षण यह उठ धाया;
क्या मै इसका करूँ!" कहा मैने समझाकर—
"नहीं शत्रु के व्योम विमानो का है कुछ डर।"[1]

सियारामशरणजी ने अपनी रचनाओ मे चित्र-शैली का भी साधिकार प्रयोग किया है, जिसके मूल मे कल्पना-कौशल और वर्ण-परिज्ञान को सहज ही देखा जा सकता है। इस शैली को भाव-विशेष में ही न अपनाकर उन्होने विविधता का परिचय दिया है—कथागत वातावरण, प्रकृति-सौन्दर्य और रस की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने अनेक रम्य चित्रो की अवतारणा की है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित उक्तियो मे दो भिन्न परिस्थिति-चित्र देखिए, जिनमे गति, वर्ण-ज्ञान, चेष्टादि का सफल निरूपण हुआ है :

(अ) **घन-केशों में पवन प्रहर्षित यहर रहा था,**
उत्तरीय में उतर सान्ध्य नभ लहर रहा था।
दूर दूर तक गयी वेणु वादन की द्रुत लय,
जड़ तक चेतन हुआ, निखिल चेतन त्यों तन्मय।
उस गोपा को निकट निरख बिहँसा बनमाली,
उसने एकाएक अधर से वेणु हटा ली।[2]

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ४५-४६।
[2] नकुल, पृष्ठ ७।

(आ) ओट में चला गया है सैन्यदल । थोड़े-से
सैनिक वे अब भी दिखाई वहाँ पड़ते,
वह उस ओर वहाँ। वे भी दृष्टिपथ से
दूर हो रहे हैं अब। दृश्य अहा, कैसा था।[1]

अलंकार-विधान

सियारामशरणजी ने शब्दार्थ मे क्रान्ति की योजना के लिए अलकारो का स्वच्छ-समृद्ध प्रयोग किया है। रूढिसिद्ध उपमानों की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति अधिकतर नवीन उपमानो की योजना की ओर रही है। छायावाद के काव्य-शिल्प से प्रभावित होने के फलस्वरूप उन्होने एक ओर मूर्त की मूर्त से उपमा दी है—पक-व्रण (उन्मुक्त, पृष्ठ ८६), दूसरी ओर अमूर्त की मूर्त से उपमा दी है—वैर-व्याल (उन्मुक्त, पृष्ठ ७८), और तीसरी ओर अमूर्त की अमूर्त से उपमा दी है—अन्तर्ज्वाला लुप्त गिरा जैसी (उन्मुक्त, पृष्ठ ८७)। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा उनके सर्वप्रिय अलकार है, किन्तु परिवृत्ति, समुच्चय, अक्रमातिशयोक्ति, अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि अलकारो की भी उन्होने बहुश योजना की है। कही-कही 'ध्वन्यर्थ व्यजना' नामक पाश्चात्य अलकार का भी स्वाभाविक रूप मे प्रयोग हुआ है—"सहसा नभ मे व्योमयान घहरे घर्-घर्-घर्" (उन्मुक्त, पृष्ठ ४७)। इसी प्रकार वीप्सा और मानवीकरण अलकार का यह सम्मिलित प्रयोग भी द्रष्टव्य है :

"जाना प्रिये, जाना प्रिये, सैनिकों के कंठों में
आया था कहाँ से ओज, उत्कटता जिसकी
महक उठी थी दूर दूर लौं दिगन्त में।"[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सियारामशरणजी के काव्य मे अलकारो का प्रयोग स्वाभाविक रूप मे हुआ है—मन के महज उद्गारो को अलंकार-भार से बोझिल बनाना उनका लक्ष्य नही है। इसीलिए उन्होंने प्रायः अनुप्रास की अवलि-रूप योजना न करके प्राय· युग्मक अनुप्रास प्रस्तुत किये है। यथा—भव्य-भावन, पावन-पुरातन, विजय-विमण्डित।[3] चमत्कार की सिद्धि उनका अभिप्रेत नही है, अपितु अर्थ-गौरव की सवृद्धि पर ही उनका बल रहा है।

---

[1] उन्मुक्त, पृष्ठ ३३।

[2] उन्मुक्त, पृष्ठ ३६।

[3] जयहिन्द, पृष्ठ ५, ७, ८।

छन्द-योजना

सियारामशरणजी ने अपने काव्य की रचना या तो मात्रिक छन्दो में की है अथवा मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दो की तालिका प्रस्तुत न करके हम गति और तुक के क्षेत्र मे उनकी उपलब्धियों की चर्चा करेंगे। उनकी प्रवृत्ति गीतों की रचना की ओर भले ही न हो, उन्होने लयात्मकता का संयोजन पूर्ण सफलता के साथ किया है। अनुप्रास, शब्द-मैत्री, माधुर्यादि गुणो के अनुरूप पदावली आदि ऐसे धर्म हैं जिनका निर्वाह करके उन्होने अपने काव्य मे लय का सफल सन्निवेश किया है। मध्यतुकान्त और तुकान्त भी इस दिशा में सहायक उपकरण रहे है। मध्यतुकान्त अथवा आन्तरिक लय का आयोजन उनकी कविता की विशिष्ट प्रवृत्ति है। यथा—(अ) पाप-ताप-हीन वहाँ शान्ति सुनिश्चल है (मृण्मयी, पृष्ठ ३५), (आ) वहाँ सजग दल-बल है सज्जित (उन्मुक्त, पृष्ठ ४६)। अन्त्यानुप्रास की दृष्टि से उन्होने मुख्यत मध्यम तुक (तीन से पाँच मात्राओं तक के शब्दो मे तुक-निर्वाह) की योजना की है, किन्तु कही-कही उत्तम तुक (छह अथवा अधिक मात्राएँ) का प्रयोग भी उपलब्ध है, जिससे उक्तिगत लय-गुण मे भी चारुता आ गयी है। उदाहरणस्वरूप यह उक्ति देखिए :

> **"आगे भी यदि इसी भूमि पर जन्म कहीं पावेंगे,**
> **तो निश्चय है हम अवश्य ही तुम्हें यहीं पावेंगे।[1]**

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि सियारामशरणजी सच्चे अर्थो में कला के पारखी है। कला उनके यहाँ क्रमश इतिवृत्त की परिधि छोडकर मौलिक क्षेत्रों की ओर अग्रसर रही है। जिस प्रकार उनके काव्य की भाव-सामग्री सुचिन्तित है उसी प्रकार उनकी शिल्प-सज्जा भी सुविचारित है।

---

[1] दूर्वादल, पृष्ठ ५४।

कवि श्री सियारामशरण गुप्त

[श्री रामधारीसिह 'दिनकर']

अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुजफ्फरपुर (१९२८) मे हिन्दी-कविता के पुराने और नये स्कूलो के प्रतिनिधियो के बीच का सघर्ष बहुत ही मुखर हो उठा। उस साल, मगलाप्रसाद-पारितोषिक साहित्य-विषय पर दिया जाने वाला था, किन्तु, वह पुरस्कार 'पल्लव' पर नही दिया जाकर, श्री वियोगीहरिजी की 'वीर-सतसई' पर दिया गया। इसके सिवा सम्मेलन के सभापति, प० पद्मसिह शर्माजी ने अपने अभिभाषण मे छायावाद की बडी ही कटु आलोचना भी की थी और व्यग्यपूर्वक 'पल्लव' को कॉटा कह डाला था। नवयुवक साहित्यकार इस बात से बहुत ही क्षुब्ध थे और इस क्षोभ की अभिव्यक्ति सम्मेलन के अवसर पर होने वाली सभी साहित्यिक समितियो और बैठको मे होती रही। सम्मेलन के दूसरे दिन मुजफ्फरपुर साहित्य-सघ (यह सस्था अब जीवित नही है) के उत्सव मे सभापति के पद से बोलते हुए श्री हरिऔधजी ने आवेश के साथ कहा कि "मुझे तो श्री मैथिलीशरणजी की अपेक्षा श्री सियारामशरण की ही कविताएँ अधिक पसन्द आती है।" सभी युवको ने तुमुल करतलध्वनि के साथ इस घोषणा का स्वागत किया, किन्तु, मेरे हाथ नही बज सके। मैं विचारता रह गया कि क्या सचमुच ही, 'मौर्य-विजय' का रचयिता, 'जयद्रथ-वध' के रचयिता से श्रेष्ठ है।

श्री सियारामशरणजी को श्री मैथिलीशरणजी से श्रेष्ठ मैं अब भी नहीं मानता। दोनों भाइयो की मनोदशा एक ही नही होते हुए भी, प्राय. मिलती-जुलती-सी है और समधिक दूरी तक दोनो मे ही प्राचीन सस्कारो के प्रति एक प्रकार की अनुरक्ति है। किन्तु उम्र में छोटे होने के कारण अथवा अन्य प्रभावो से श्री सियारामशरणजी नवीनता की ओर अधिक उन्मुख है। उनकी विषय को ग्रहण करने की प्रणाली मैथिलीशरणजी की अपेक्षा अधिक नवीन है तथा, यद्यपि, छायावाद की अभिव्यंजक शक्तियों का विकास उनमे भी पूर्ण रूप से नही हो सका, तथापि वह अपने अग्रज की अपेक्षा छायावाद के अधिक समीप और उसके अधिक अपने कवि रहे। छायावाद की दुनिया में मैथिलीशरणजी अपनी सामर्थ्य के बल पर आये थे, किन्तु सियारामशरणजी को उस दुनिया

की किरणों ने अपनी ओर खीचा । यो भी कह सकते है कि छायावाद के बाजार से अपनी पसन्द की तूलिका और रंग ख़रीदकर मैथिलीशरणजी अपने देश को लौट गये, किन्तु, सियारामशरणजी ने उस बाजार मे आकर डेरा ही डाल दिया । डेरा ही डाल दिया, यानी स्थायी निवास के उद्देश्य से यहाँ अपना घर नही बनाया, क्योकि, तब अपने असली घर का मोह उन्हे छोड देना पडता और 'दूर्वादल', 'पाथेय', 'मृण्मयी', एव 'आर्द्रा' की रचना बँटी हुई मनोदशाओ से ऊपर उठकर एकमात्र रोमांस की समाधि मे करनी पडती ।

सियारामशरणजी की कविताओ के पीछे हम एक ऐसी मनोदशा को विद्यमान पाते है, जो प्राचीन और नवीन, दोनो ही, दिशाओ की ओर बँटी हुई है । शैली से वह रोमासप्रिय और विचारों से शास्त्रीय है । किन्तु, शैली उनके विचारों को प्रेरित नही करती । भाव उनके इतिहास से आते है और शैली वह नये युग से लेते है । यह भी ठीक नही है कि उनके सभी भाव उनकी अनुभूतियो में गलकर नवीन बन आते है, किन्तु, इस क्रम में उनका एक-तिहाई अंश प्राचीन ही रह जाता है । उनके साथ एक और कठिनाई है । प्राचीन भाव और नयी शैली जब आपस मे मिलने लगती है, तब उनमे से प्रत्येक को अपनी मूल-शक्ति का कुछ-न-कुछ अश बलिदान करना पडता है । इस प्रकार उनके शास्त्रीय भावो की अपनी परम्परागत प्रबलता घट जाती है और नवीन शैली को भी अपनी स्वाभाविक विशिष्टताओं मे से कुछ का त्याग करना पडता है । 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की कविताओ मे रोमासवाद की चमत्कारपूर्ण शैली अपने तेज के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है, किन्तु, स्पष्ट ही, गम्भीर शास्त्रीय भावो को सफलतापूर्वक वहन करने के लिए उसे अपनी सूक्ष्मता को छोड देना पडा है और गद्य के उतना समीप आ जाना पडा है जितना समीप उसे, साधारणत , नही आना चाहिए था । यह कवि की असमर्थता का परिणाम नही है, प्रत्युत् जब कभी लिरिक-कविता की शैली, प्रबन्ध अथवा कथा-काव्य या किसी प्रकार की नीति-व्यंजना के लिए प्रयुक्त की जायेगी, तभी उसे सूक्ष्म की अपेक्षा कुछ अधिक स्थूल हो जाना पडेगा ।

भद्र यह विधि का विधान है,
देव हो कि दानव हो,
ऋषि, मुनि और महामानव हो,
सीमित सभी का यहाँ ज्ञान है ।
विधि के विधान से ही वर्षण-अवर्षण का,
एक-एक क्षण का,
निश्चित है योगायोग,
भोग्य है सभी के लिए भोगाभोग । [मजुघोष]

यह टुकडा उस शैली का अत्यन्त रोचक उदाहरण है जो श्री सियाराम-शरणजी मे शास्त्रीय भाव और नवीन व्यजना-प्रणाली के योग से विकसित हुई है। पूरे पद मे प्रवाह की गम्भीरता और भावो की टुकड़ियो की समाप्ति पर आने वाले लय के विराम इसे मैथिलीशरणजी की किसी भी कविता से एकदम विभाजित कर देते है। यह कविता आज से दस वर्ष पूर्व की रचना है जब छायावाद हिन्दी मे अपना पूरा काम कर चुका था और, स्वभावत ही, जब श्री सियारामशरणजी उससे वे सभी प्रभाव ग्रहण कर चुके थे जो उनकी रुचि के अनुकूल पडते थे, लेकिन, सब कुछ होते हुए भी इसके भीतर से चमकने वाला भाव प्राचीन मालूम पडता है। यह शास्त्रीय पद्धति के विचारक की मनोदशा है जो छायावाद के भीतर से अपनी समस्त ज्ञानगरिमा के साथ चमक रही है। यह उस कवि की वाणी है जो अपने प्राचीन सस्कारो का उज्ज्वल गीत अभिव्यजना के नवीन सुरो मे गा रही है। मैथिलीशरणजी ने छायावाद से सिर्फ तूलिका और रग लिये थे, कैनवास और स्वप्न, दोनो ही उनके अपने थे। सियारामशरणजी ने स्वप्न छोडकर और समस्त उपकरण, छायावाद से ही लिये है। 'मौर्य-विजय' के समय उन्होने जिस कैनवास का उपयोग किया था वह अब उनके पास नही है, छायावाद के भण्डार से उन्होने अपनी पसन्द का एक नया कैनवास उठा लिया है जो अन्य छायावादी कवियों की चित्रपट की तरह कोमल तो नहीं है, किन्तु चित्र, शायद उस पर बुरे नही उठते है।

सियारामशरणजी में कला की आराधना कम, विचारो का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नही, प्रत्युत् कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है। प्रसन्नता उन्हे इसलिए नही होती कि वह सुन्दर सुरो में गाते है, प्रत्युत् इसलिए कि उनका गान सारसयुत है। हिन्दी-ससार में उन्हे जो सुयश मिला है वह भी कला-निर्माण के लिए नही, प्रत्युत् विचारो की शुद्धता एव भावो की पवित्रता के कारण ही। रसिक कवि की सौन्दर्य-प्रियता एवं प्रेम तथा आसक्ति के भाव उनमें कही भी प्रकट नही हुए है। उनकी कविताओ में से· रंगीनियों की एक पूरी दुनिया ही गायब है। बल्कि इस दृष्टि से श्री मैथिली-शरणजी कही अधिक सरस है जिन्होने 'पंचवटी', 'द्वापर' और 'साकेत' में स्थान-स्थान पर शृंगार की छोटी-मोटी अनेक धाराएँ बहायी है जो पवित्र होने के साथ सुन्दर और सरस भी है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि सियारामशरणजी एकरस अथवा संकीर्ण है। एक कवि जीवन भर में एक ही कविता लिखता है। हिन्दी के वर्तमान कवियों में इस सिद्धान्त के वह सबसे

बडे अपवाद है। रस का अभाव उनमे भले ही हो, किन्तु विचारो का उनमे एकदम अभाव नही है। उनकी कविताओ के भीतर से एक ऐसे चिन्तक का व्यक्तित्व झलकता है जो सदैव नये-नये भावो का शोध कर रहा हो। उनकी प्रत्येक कविता भाव-प्रधान है और उनके भाव भी विविध एवं विशाल है। वे अपने समय के अत्यन्त समकवि भी है; उनकी कविताओ का धरातल ऊपर-नीचे नही होता, ऐसा नही है कि उनकी एक रचना बहुत छिछली और दूसरी अत्यधिक गम्भीर हो। जिस स्तर पर वह काम करते है उसके नीचे विचारों के सुदृढ खम्भे लगे हुए है जो ज्यादा हिलते-डुलते नही।

सियारामशरणजी सयमशील कवि है। यह सत्य है कि सयम मे शक्ति होती है और उससे मनुष्य का रूप गम्भीर हो जाता है। किन्तु, गम्भीर पुरुष से सभी लोग आत्मीयता स्थापित नही कर सकते। नेता बहुत-कुछ तिलक और पटेल के समान होना चाहिए, किन्तु कवि और कलाकार के लिए जवाहरलाल का मुक्त स्वभाव ही उपयुक्त है। यह सच है कि सयम से कवि की शक्ति बढ़ जाती है, किन्तु उस सयम से जी घबराता है जो रस को मुक्त होकर चलने नही देता। मै बार-बार अचरज करता हूँ कि सियारामशरणजी मे 'निर्झरेर स्वप्न भग', 'रात्रे ओ प्रभाते' अथवा 'पन्तजी' के 'परिवर्तन' की मनोदशा कही भी क्यों नही मिलती है। समधिक भाग मे भावो के इस व्याकुल प्रवाह, संयम के इस त्रस्त वेग का उदाहरण प्राय. सभी कवियो मे मिलता है। फिर सियारामशरणजी मे ही यह अनुपस्थित क्यों है ?

इसका उत्तर 'दूर्वादल', 'आर्द्रा', 'मृण्मयी' और 'पाथेय' की अधिकाश कविताओ मे व्याप्त है। कुछ कविताओ को छोड़कर सियारामशरणजी सर्वत्र ही सोद्देश्य है जो किसी कलाकार के लिए सदैव अपमान की बात नही कही जा सकती और सियारामशरणजी की सोद्देश्यता तो बिलकुल ही चिन्तन के आवरण मे प्रच्छन्न है, इसलिए उसे हम किसी भी प्रकार प्रचार का पर्याय नही मान सकते। वे काव्य की भूमि मे विचारक की भाँति गम्भीरता और सहज विनय के साथ उतरते है तथा प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का सत्यान्वेषी पुरुषो की भाँति विश्लेषण करते है। इस विश्लेषण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द उनका उद्देश्य नही है। वह इससे कुछ अधिक ठीक लक्ष्य की तलाश मे है। जीवन की छोटी बातो मे भी उन्हे किसी महान् सत्य की ध्वनि सुनाई पडती है। उनकी घडी जब चलते-चलते बन्द हो जाती है तब अनायास ही उनमे महान् काल की आकस्मिक स्थिरता की कल्पना जग पड़ती है, मानो यह एक अपूर्व सुयोग आ गया हो। मानो 'अकाल काल' उन्हें छूने

के लिए 'एक क्षण' को रुक गया हो (एक क्षण)। बरात के कोलाहल, हल-चल और थकावट के बाद अगर उन्हे बैलगाडी मे कही नीद आ जाती है तो वह सोचने लगते है .

भय की नहीं है बात, आज यदि उर में अशान्ति है,
सुन तू अरे मेरे मन, तेरी शान्ति-लक्ष्मी शान्ति लायगी,
कोई विघ्न-बाधा रोक उसको न पायगी। [शान्ति-लक्ष्मी]

वे प्रधानत नीति-व्यजक कवि है, किन्तु यह नीति उनकी चिन्ता की धारा से सहज रूप से प्रस्फुटित होती है। वृन्द या गिरिधर की तरह उन्हे इसके लिए तैयारी नही करनी पडती। और जब यह नीति-व्यजना सुविकसित वक्रोक्ति के माध्यम से होने लगती है तब उसमे काव्यानन्द भी खूब ही उमडता है। उनकी चिन्ता की दिशा सहज ही गम्भीर है, अतएव उनके लिए यह कभी भी सम्भव नही है कि केवल आनन्द की खोज मे वे रगीनियो के लोक में उडने का साहस करे।

सयम, शील और रहस्यान्वेषण की वृत्ति से रहस्यवादियों का ससार बहुत अधिक दूर नही है। ऐसी वृत्तिवाला मनुष्य जभी प्रेम-विभोर होकर परम सत्ता की ओर उन्मुख होगा, तभी वह उस लोक मे जा पहुँचेगा जहाँ की वाणी समर्थ होने पर धुँधली कविता और असमर्थ होने पर दर्शन का सूत्र बन जाती है। सियारामशरणजी उडकर तो नही, हाँ रास्ता भूलकर कभी-कभी इस लोक में पहुँच जाते है, किन्तु प्रेम के उन्माद से अनभ्यस्त रहने के कारण वे वहाँ का पूरा आनन्द नही उठा सकते। वे व्यक्तिवादी होने से डरते है और इसीलिए रहस्य-लोक मे भी आत्म-विस्मृति से बचने के लिए सदैव सतर्क रहते है। उनमे प्रेम तो नही, हाँ श्रद्धा का निवास है। किन्तु विचार के प्रहरी श्रद्धा के साथ अन्याय करते है, उसे उठकर घूमने-फिरने नही देते। इसीलिए उनका रहस्यवाद भक्त की आत्म-विस्मृति न होकर रहस्य के लोक मे ज्ञानी का जागरण हो जाता है। उनकी 'आहा, यह आलोक उदार' अथवा 'धन्य, आज का यह खग्रास' या 'तेरी क्षणप्रभा मे ही मैं पुलक तुझे पहचान गया' आदि पक्तियो और कविताओं में यही मनोदशा व्यजित हुई है। 'प्रियतम, कब आयेगे कब···' जैसी दो-एक कविताओ मे श्रद्धा ने अपना स्वर ऊँचा करना अवश्य चाहा है, किन्तु ऐसी कविताएँ बहुत थोडी है और मिला-जुलाकर यही निष्कर्ष उचित मालूम पड़ता है कि सियारामशरणजी मे भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का ही अधिक प्राधान्य है और इसी के बल पर वह काव्य से लेकर अध्यात्म की भूमि तक सचेष्ट होकर विचरण करते है।

कला मे सतर्कता, शून्य में पंख खोलने से डरने की वृत्ति, निरे आनन्द को त्याज्य समझने की भावना, ठोस एव शास्त्रीय भावो को छायावाद की आनन्दमयी शैली मे बाँधने की उत्कट इच्छा, जीवन की नगण्य घटनाओ एव उपादानो मे से किसी सत्य को व्यजित करने का लोभ, भावुक की शैली मे विचारक की मणि को जड़ देने की उमंग, इन सारी प्रवृत्तियो का सुन्दर एव चरम विकास उनकी 'दैनिकी' नामक सबसे नवीन कृति मे हुआ है। 'दैनिकी' एक विचारक कवि की शैली और भाव दोनो ही के सुरम्य परिपाक का सुन्दर उदाहरण है और इसकी तुलना रवि बाबू की 'कणिका' से की जा सकती है। सियारामशरणजी नवीन और प्राचीन, दोनो के बीच से होकर मध्य-मार्ग पर चल रहे थे। इस यात्रा मे उनका हृदय आगे और मस्तिष्क पीछें की ओर था। अब तक उनकी शैली मे प्राचीन की नग्नता और नवीन की कुहेलिका आँखमिचौनी खेल रही थी। 'दैनिकी' मे आकर इस द्वन्द्व का अन्त हो गया है। अब वे उस बिन्दु पर दृढतापूर्वक खड़े हो गये है जहाँ नवीन और प्राचीन दोनो ही प्रेमपूर्वक मिल सकते है। इस दृष्टि से भी सियारामशरणजी की कृतियो मे 'दैनिकी' का अप्रतिम स्थान होना चाहिए।

"'दैनिकी' मे कवि सिर्फ दृढ ही नही है; और यह विस्तार कोई आकस्मिक घटना नही है। अब तक जो सरणि चली आ रही थी उसका ऐसा ही परिपाक होना चाहिए था। सदा की भाँति वह यहाँ भी रोजदिन की घटनाओ के भीतर से जीवन के किसी सत्य की खोज करता है, किन्तु सत्य अब उसकी पकड़ मे पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ता तथा आसानी से आता है। पहले वह सत्य के प्रतिबिम्ब से भी सन्तुष्ट हो जाता था। अब ऐसी बात नही, उसे बिम्ब नहीं, शुद्ध सत्य चाहिए और शुद्ध सत्य उसे सर्वत्र ही उपलब्ध होता है, यद्यपि इस सत्य को सत्य मानने का विश्वास उसे अपनी ही दृष्टि से मिलता है। किन्तु यह कोई नयी बात नही है। साहित्य में सत्य वही है जो पाठको की सम्भावना-वृत्ति को सन्तुष्ट कर सके। साहित्यकार लोगों के मस्तिष्क मे सत्य का खूँटा नही ठोकता, उससे इतनी ही स्वीकृति लेना चाहता है कि हाँ, यह सत्य हो सकता है। इस सम्भावना-वृत्ति का 'दैनिकी' में सर्वत्र ही सम्यक् समाधान है, अतएव न्यायपूर्वक यह मान लेना चाहिए कि कवि का सत्यान्वेषण का कार्य सफल हुआ है और जीवन ने इस छोटे-से क्षेत्र में (दैनिकी कुल साठ-पैसठ पृष्ठो की पुस्तिका है) उसे अपना रूप खुलकर दिखाया है।

सियारामशरणजी 'दैनिकी' से पहले भी मिट्टी का शोध करने के लिए

आया करते थे, किन्तु उस समय लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही उन्हे कोई शक्ति अपनी ओर खीच लेती थी। वह कुछ लेकर ही लौटते थे, यह ठीक है, किन्तु यह 'कुछ' वह चीज नही थी जो मिट्टी की आत्मा उन्हे पुरस्कार के रूप मे दे सकती थी। 'दैनिकी' मे आकर उन्हे यह पुरस्कार मिला है और वह आनन्द तथा विस्मय के साथ पहले-पहल यह अनुभव कर रहे है कि मिट्टी की झनझनाहट ही इस युग का सच्चा काव्य है।

इस युद्ध के समय मे सियारामशरणजी ने कविता की दो पुस्तके तैयार की है—एक है 'दैनिकी' और दूसरी 'उन्मुक्त'। 'उन्मुक्त' मे काव्य का प्रवाह अपेक्षाकृत शिथिल है। कवि जो कुछ अखबारो मे पढ रहा था, उसी के बल पर उसने वर्तमान युद्ध का एक रूपक कविता मे लिख दिया। शायद यह पुस्तक युद्ध और गाधीवाद की तुलना के निमित्त लिखी गयी है, क्योकि युद्ध के अन्त मे पराजित लोग अहिसा की दुहाई दे रहे है। यह उलटा न्याय है; क्योकि अहिसा अब उन्हे शोभा दे सकती है जो आक्रमणकारी होकर भी जीत गये है। स्वत्व और न्याय की बाजी हारने वाले लोग जब अहिसा और क्षमा की बाते बोलने लगते है, तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि खुफिया पुलिस के डर से वे अपने भीतर के प्रतिशोध को छिपा रहे है अथवा अपने खोये हुए आत्म-विश्वास को किसी प्रकार जगाने के लिए सास्कृतिक उद्गारो का अवलम्बन ले रहे है। 'हिसा का है एक अहिसा ही प्रत्युत्तर' मे से गाधीवाद का सार व्यजित होता है। किन्तु, यह किसी प्रकार भी समझ मे नही आता कि जो लोग पराजय के बाद इस सिद्धान्त का महत्त्व समझने लगे है, वे इसका प्रयोग करके अपना खोया हुआ द्वीप वापस कैसे पायेगे।

इसके विपरीत 'दैनिकी' के उद्गारो में जीवन का अधिक तेजस्वी और सच्चा स्वर प्रकट हुआ है। उसमे शोषितों के लिए अहिंसा और कष्ट-सहन का उपदेश नही है। बल्कि जो कवि सर्वहारा की दशा पर आँसू बहाकर शोषको मे करुणा उत्पन्न करना चाहते है, उन्हे 'दैनिकी' के कवि ने बहुत ऊँचा उठाकर ललकारा है :

करता है क्या ? अरे मूढ़, कवि यह क्या करता ?
उत्पीड़ित के अश्रु लिये ये कहाँ विचरता ?
दिखा-दिखाकर इन्हें न कर अपमानित उसको,
लौटा आ तू इन्हें उसी पाषाण-पुरुष को।

यह पाषाण-पुरुष स्वय सर्वहारा है और उसके आँसू आँसू नहीं, प्रत्युत् अगार है।

> **ज्वाला-गिरि के बीज, क्रूर शोषण से जमकर,**
> **फूट पड़े है ठौर-ठौर आग्नेय विकटतर।**
> **काँप उठी है धरा उन्हीं के विस्फोटन में,**
> **फैल गयी प्रलयाग्नि-शिखा यह निखिल भुवन में।**

सियारामशरणजी मे कल्पना का मोह आतिशय्य तक कभी नही गया था। 'दैनिकी' मे आकर तो उसका रहा-सहा अश भी समाप्त हो गया है अथवा यह कहना चाहिए कि उसका कोई भी छूँछा रूप अब शेष नही है या यो समझना चाहिए कि ऊपर-नीचे सभी ओर भटकने वाला तीर्थयात्री अब मिट्टी पर ही अपने आराध्य के मन्दिर को पहचानकर स्थिर हो गया है। मिट्टी के नाद को सुन सकना, अवनति नही, उन्नति है। अवनति तो वह है जिसके कारण मनुष्य सत्य को तिरस्कृत करके ख्याली दुनिया मे डूबने जाता है। 'दैनिकी' की 'स्वप्न-भग' नाम्नी कविता मे सियारामशरणजी कहते है कि समाधि की अवस्था मे एक दिन वह नन्दन-कानन मे पहुँच गये और कल्पलता से कहने लगे कि अपना एक फूल मुझे दे दो। उसे मै चुपके-से अपनी काव्य-वधू के जूडे मे जड दूँगा जिससे मेरा आँगन सुरभित हो उठेगा और मेरी काव्य-वधू विस्मय भरी दृष्टि से इधर-उधर देखने लगेगी। इतने मे उनका स्वप्न टूट जाता है और देखते है कि न तो नन्दन-कानन है और न कल्पलता। है तो एक सूनी कोठरी जिसमे कवि अकेला बैठा हुआ है और सुनायी पडता है तो एक पिटती हुई बालिका का स्वर .

> **पिटी बालिका का कटु क्रन्दन नीचे से आता था,**
> **नहीं रुक रहा था ताड़नरत कर कुपिता माता का।**

लेकिन ससार मे आज कितने ही 'ताडनरत' हाथ है, जो इस कुपिता माता के हाथो से कही अधिक कठोर है और पूरे परिवार के साथ भूखो मरने वाले कितने ही ऐसे लोग है जिनका विलाप इस बालिका के क्रन्दन से कही हृदयद्रावक और कराल है। तो कवियों के नन्दन-कानन का स्वप्न अब भी क्यों नही टूटता ?

कवि ने इस पुस्तक की छोटी-सी भूमिका मे लिखा है—"जनरुचि को आज संग्राम की विकट परिस्थिति ने सस्ती और साधारण वस्तुओं की ओर भी उन्मुख कर दिया है। 'दैनिकी' का रचना-काल यही है। इसी कारण

इसके अपना लिये जाने की आशा रचयिता को है।" तथा "कवि की विशेषता साधारण से असाधारण की उपलब्धि कर लेने मे है।" पता नही, इसमे सियारामशरणजी की शका बोलती है अथवा आत्म-विश्वास। किन्तु सच तो यह है कि सकट के जिस काल ने लोगो को साधारण वस्तुओ की ओर उन्मुख कर दिया है, उसी ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के प्रसाधन के सारे उपकरण चाहे छीन लिये जायँ, किन्तु अन्न और वस्त्र तो उसे मिलना ही चाहिए।

सियारामशरण के उपन्यास

[प्रो० देवराज उपाध्याय, एम० ए०]

आज हमारे आध्यात्मिक जीवन की धारा साहित्य-क्षेत्र में अनेक रूपो मे प्रवाहित हो रही है; पर उनमे सबसे जीवन्त और सजीव धारा कथा की है। कथा मे यौवन की अदम्य शक्ति है, उत्साह है और वह मानो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर छा जाना चाहती है। चाहे वह धर्मक्षेत्र हो अथवा कुरुक्षेत्र, धार्मिक हो अथवा सामाजिक, ज्ञान का हो, विज्ञान का हो अथवा मनोविज्ञान का हो, सब पर वह अधिकार करती चली जा रही है। और यह निश्चित है कि आगामी एक शताब्दी तक कथा का वेग बढ़ता ही चला जायगा, इसके अन्तर मे कुछ ऐसी शक्ति है कि उसकी प्रगति पर कोई वस्तु रुकावट नही डाल सकती। यही कारण है कि साहित्य के विविध रूपो मे आज कथा के क्षेत्र मे जितने प्रयोग हो रहे है, यहाँ जितने वैविध्य का दर्शन हो रहा है, यहाँ जितनी छट-पट और दौड-धूप दिखलाई पड रही है, उसका शताश भी और कही नही। आज के कथा-साहित्य को देखकर एक विशालकाय अस्पताल की कल्पना हो आती है जिसमे अनेक प्रयोगशालाएँ है और उनमे मानवता को, जीवन को, चीर-फाड़कर देखने मे, उसके विविध पहलुओ को देखने और दिखाने मे डाक्टरो का समूह सलग्न है। ये डाक्टर भी एक ही सिद्धान्त में विश्वास करने वाले नही। इनका सिद्धान्त पृथक्, दृष्टिकोण पृथक्, रोगो के उद्गम और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध मे इनकी विचार-धारा पृथक्। एक ओर तो डाक्टरी पद्धति के चिकित्सक है जो सशक्त दवाओ और सुइयो के बल पर रोगो को दबा देना चाहते है, तो दूसरी ओर प्राकृतिक चिकित्सकों का एक दल है जो दवाओ को पाप की तरह त्याज्य समझता है और प्रकृति की उपचार-शक्ति पर ही सब कुछ छोडकर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। इन दो सीमाओ पर खड़े चिकित्सको के बीच अन्य-अन्य चिकित्सक भी है जो अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार इनकी अच्छाइयो को अपनी पद्धति मे ग्रहण कर रहे है। सब अपनी-अपनी जगह ठीक है। सब पद्धतियो मे रोगियो की चिकित्सा से रोगी स्वस्थ होते है और सब मे कुछ ऐसे रोगी मिलते है

जिनकी चिकित्सा मे उन्हे सफलता नही मिलती । किसी मे अनवरत सफलता ही हो और दूसरी पद्धति मे निरन्तर असफलता हो, ऐसी बात देखने मे नही आयी । वास्तविक बात तो यह है कि सबके द्वारा जीवन की किसी-न-किसी माँग की पूर्ति होती है, उन सबो के द्वारा हमारे जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है, सबका प्रयोग जीवन अपने लिए करता है । सबके ऊपर जीवन ही सत्य है, यदि वह है तो वह अपने लिए उचित मार्ग ढूँढ ही लेगा । और जो मार्ग वह पकड़ेगा वही उसके लिए उचित मार्ग होगा ।

ऊपर कथाकारो को चिकित्सको के रूपक मे देखने का प्रयत्न किया गया है । शायद इसलिए कि मै यह कहना चाह रहा हूँ कि सियारामशरणजी को मै प्राकृतिक चिकित्सक के रूप मे रखूँ । उन्हे आज के विज्ञान के द्वारा आविष्कृत औजारो मे विश्वास नही, वे अनेक तीक्ष्ण पेटेण्ट दवाओ के कायल नही, वे स्वस्थ चित्त, शान्त वातावरण, स्नेह-सिक्त हृदय और सीधे-साधे जीवन के कायल है । उनका हृदय एक वैष्णव भक्त का है, थोडे मे ही सब कुछ पा लेने का और सब मे भी थोडा नही पा लेने वाले नैष्ठिक श्रद्धावान् का हृदय है । गुप्तजी के पात्रो मे कही भी किसी प्रकार की जटिलता नही, उनके कथा-विस्तार मे कही भी किसी प्रकार का जोर नही, किसी तरह की उलझन नही । वहाँ जो कुछ है साफ-सुथरा है, सीधा-सादा है जिसे देखने के लिए किसी प्रकार के चश्मे की आवश्यकता नही है । 'चश्मे की आवश्यकता नही'—मैंने कहा; इसलिए कहा कि—यूरोप की बात छोड दीजिए—हिन्दी मे भी आज के दिन ऐसी कहानियाँ लिखी जा रही है जिनका रसास्वादन करने के लिए पाठको को मनोविज्ञान, मसलन् मनोविश्लेषण अथवा आचरण-वादी मनोविज्ञान से परिचय की आवश्यकता पडती है । उसका पाठक साधारण नही, विशिष्ट होगा; उसका मस्तिष्क विशेष प्रकार के उपकरणो से सुसज्जित होगा । पर गुप्तजी का कथा-साहित्य सर्वसाधारण के लिए है, उसमे निवास करने वाले जीव साधारण है, उनके मस्तिष्क की क्रियाएँ भी साधारण है, उनमे किसी भी तरह की पेचीदगी नही । जिस समय देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष चल रहा था उस समय काग्रेस के अधिवेशनो मे यह गीत गाया जाता था ·

मेरी छोटी-सी मड़ैया में राज रहे,
माता के सिर पर ताज रहे ।

स्वतन्त्रता का सिपाही कोई बहुत बड़ा साम्राज्य नही चाहता था, वह एक छोटी-सी कुटिया मे ही अपनी भारतमाता की मूर्ति की स्थापना करेगा,

पर हाँ, उसके भाल पर मुकुट अवश्य रखेगा। ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि गुप्तजी ने कथा की मूर्ति की स्थापना के लिए कोई बडे कैनवास की चाहना नही की, वे एक छोटी-सी कुटिया मे एक पतली-सी दीप-शिखा प्रज्वलित कर देते है, जिसकी निष्कम्प लौ जलती रहती है और एक साहित्यिक प्रकाश की रेखा से हृदय के अन्धकार को दूर कर देती है।

जहाँ हिन्दी के अन्य कथाकारो की रचनाओ को पढकर विद्युन्माला की दीपमालिकाओ से जगमग करती और आँखो मे चकाचौध उत्पन्न करने वाली प्रदर्शनी की याद आ जाती है, वहाँ गुप्तजी की रचना मिट्टी के दीपक की तरह मानो हृदय में ही जग पडती हो, दूसरो को हमारे हृदय के दरवाजे को तोडकर अथवा सेध मारकर प्रवेश करना पडता है, वहाँ गुप्तजी की रचना के लिए हृदय-द्वार स्वागतार्थ सदा उन्मुक्त रहता है, दूसरे हम से भी कुछ माँगते है, पर गुप्तजी देना ही जानते है लेना वहाँ है ही नही। अन्यों को अपनी बुद्धि का, अपनी तेजस्विता, अपने ज्ञान का गर्व है। गुप्तजी को अपने अज्ञान का बल है, दूसरो को अपनी सारी तडक-भडक के रहते भी कभी-कभी लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नही मिलती, वहाँ गुप्तजी कभी भी असफल नही रहते, बस, "थोडा खाना और बनारस का रहना।"

गुप्तजी ने तीन उपन्यास लिखे है 'गोद', 'अन्तिम आकाक्षा' और 'नारी'। उपन्यास से अधिक उन्हे बडी कहानियाँ कहना ही अच्छा होगा। आज के युग मे इनके मूल्याकन मे सदा ही मतभेद रहेगा। एक पाठक का दल ऐसा होगा जो यह कहेगा कि गुप्त जी के उपन्यासो के रूप मे हिन्दी-कथा की आत्मा अपने सच्चे स्वरूप के अनेक प्रकार की कृत्रिमता से घिरे रहने पर भी अपनी सत्ता की सादगी और स्वच्छता का विजयोच्चार कर रही है। वह मानो कह रही है कि आज तरह-तरह के प्रलोभनो मे पडकर जलती चाय के घूँट से तृप्त होने का नाटक भले ही कर लो, कडवी शराब को जलते गले के नीचे उतार कर भले ही कलेजे की आग बुझा लो; पर मृत्तिका पात्र मे रखे शीतल गगा-जल ही से तुम्हारी प्यास बुझेगी। प्रकृति से दूर हटकर लाख तुम शहरो मे एक पत्थर या लोहे के प्रासाद मे बस लो, पर लोहे या पत्थर की छाती को चीरकर एक छोटा-सा अकुर निकल आयेगा और चुपके से कहेगा कि मुझे कहाँ छोडे जा रहे हो ? मैं तुम्हारा सदा से सहचर हूँ, देखो, मैं यह रहा। तुम मुझे अवश्य अपनाओगे। यहाँ न रहने दो; गमलो मे रखो, पर तुम्हारा-हमारा चोली-दामन का साथ है, हम एक-दूसरे के बिना अपूर्ण है, हम दोनों में एक-दूसरे के लिए माँग है। "ब्याहो लाख बरो दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारे।"

आलोचको का एक दूसरा दल भी रहेगा जो यह कहेगा कि गुप्तजी के उपन्यास भले ही कुछ हो पर वे मौसम के फल की तरह है, जिन्हे पाकर दिल को कुछ अच्छा-सा नही लगता, ऐसा मालूम पडता है कि जो कुछ हो रहा है कुछ ठीक-सा नही। रूस के प्रसिद्ध कथाकार दास्तावेस्की ने एक उपन्यास लिखा है—Dream of a Queer Fellow। एक व्यक्ति स्वप्न देखता है कि उसने आत्महत्या कर ली। तत्पश्चात् वह एक ऐसे लोक मे पहुँचा जो हर तरह इस पृथ्वी का ही प्रतिरूप है, वही रहन-सहन, वही क्रिया-कलाप, वही कार्य-व्यापार। अन्तर केवल इतना ही है कि इस नूतन लोक के लोगो के जीवन मे किसी तरह के दुःख की छाप नही, वे पूर्ण शान्ति और आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहे है। ये लोग इस व्यक्ति का स्वागत करते है और वह उनके जीवन मे प्रवेश कर उन्हे दूषित करना आरम्भ करता है। अन्त मे वहाँ के निवासियो में छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, विलासिता और क्रूरता का ताण्डव होने लगता है, 'मेरा' और 'तेरा' को लेकर अनेक कलह की उत्पत्ति होती है। एक दिन का स्वर्ग रौरव नरक बन जाता है। यद्यपि पहले के सुख और शान्तिमय वातावरण की याद भी नही पर आज अपराधो और अनाचारो से घिरे रहने पर भी निवासियो के हृदय मे उसकी चाह जागती है। इधर यह व्यक्ति महसूस करता है कि इस हरे-भरे उद्यान मे आग लगा देने का, उसे मरुभूमि मे परिणत कर देने का सारा उत्तरदायित्व उस पर ही है। इस भावना के डर से वह तिलमिला उठता है। वह लोगो से प्रार्थना करता है कि वे उसे इस अपराध के लिए दण्ड दे, उसे फॉसी पर लटका दे, पर सब व्यर्थ, कोई उसकी बात नही सुनता। वह कहता है, "मै मनोव्यथा से पीडित हाथ मलता लोगो के बीच घूमता और उन पर ऑसू बहाता। पर तो भी शायद अतीत के शान्त, सुन्दर और दुःख से अम्लान चमकते उनके मुख से आज के रूप को ही अधिक प्यार करता था। उस कलुषित लोक के लिए पूर्व के स्वर्ग से अधिक प्यार के भाव थे, केवल इसलिए कि वहॉ पीडा और व्यथा का आविर्भाव हुआ था। उनकी पीड़ा और व्यथा मेरी आत्मा मे कुछ इस तरह प्रवेश कर गयी कि ऐसा मालूम पडता था कि मेरा दिल बैठता जा रहा हो और मेरा प्राणान्त हो जायगा।" इस व्यक्ति के स्वर मे स्वर मिलाकर एक आलोचक-दल कहेगा कि हमारा मन भले ही एक बार जमुना के तीर के निकुंजों की सुखद छाया और शीतल मन्द समीर के लिए मचल उठे, पर आज के पार्कों की चहल-पहल तथा एयर-कण्डीशण्ड (Air conditioned) अट्टालिकाओं का वातावरण हमारा मुबारक रहे, हम इसे छोड़ नही सकते।

'गोद' मे हमारे सामाजिक जीवन की छोटी-सी कहानी है। शोभाराम का वाग्दान किशोरी के साथ हो चुका है, पर एक दिन वह मेले मे अपनी माँ के साथ जाकर वहाँ की भीड मे खो जाती है। एक दिन के बाद स्वयंसेवक उसे अपनी माँ के पास लौटा देते है। बस इसी एक बात को ले उस पर लोगों के द्वारा तरह-तरह के लाछन लगाये जाते है। सगाई टूट जाती है। शोभाराम के विवाह की बात पृथ्वीपुर के जमींदार की कन्या से तय हो जाती है। उधर एक वृद्ध गँजेडी-भँगेडी के चरणो पर किशोरी के बलिदान की तैयारी होती है। पर शोभाराम का निष्कपट तरुण हृदय किशोरी की दयनीय दशा पर पिघल जाता है और अपने परिवार के लोगो की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लेता है। परिवार के लोगो को इस मिथ्या धारणा (Fait accompli) के सामने झुकना पडता है।

'अतिम आकाक्षा' भी आत्मकथा के रूप मे लिखा एक छोटा-सा उपन्यास है। इसका नायक रामलाल नामक एक भृत्य है। वह अपने स्वामी की सेवा मे अपने प्राणो को भी संकट मे डालने से नही हिचकता। पर इसके लिए न जाने कितने अपमानो की यत्रणा उसे सहनी पडती है। उसके स्वामी के घर पर जब डाकुओ का आक्रमण होता है तब वह तत्परता से अपने स्वामी की रक्षा करता है। बन्दूक से एक डाकू की हत्या हो जाती है, जिसके गले मे यज्ञोपवीत के सूत्र थे। बस इसी एक 'अपराध' के बहाने हरिनाथ के यहाँ आयी हुई बारात तक तब भोजन के लिए आने को तैयार नही होती जब तक वह हटा नही दिया जाता। रामलाल यह सुनकर मालिक की प्रतिष्ठा पर आँच नही आने देने का विचार कर स्वय हट जाता है। जाने के समय 'मुन्नी' के हाथ मे दो रुपये रखकर जब वह विदा लेता है, वह दृश्य इतना कारुणिक हो जाता है कि भवभूति के शब्दो मे यही कहना पडता है कि

अपि ग्रावा रोदति दलति वज्रस्य हृदयम्।

अन्त मे अत्यन्त दारुण परिस्थितियो के बीच जिसके लिए समाज उत्तरदायी है, रामलाल को जेल के अन्दर निमोनिया का शिकार होकर दम तोडना पडता है। उसके चलते उपन्यास की ट्रेजडी घनीभूत हो जाती है और कथा वास्तविक अर्थ मे ट्रेजडी हो उठती है।

बडी सहृदयता से संकट के अवसरों पर उसको सहायता देता है और जमुना उसकी कृतज्ञताओ से अभिभूत हो उसके साथ घर बसाने को उद्यत भी हो जाती है। पर यह बात होने नही पाती। इधर मोतीलाल नामक एक महाजन जिसका कर्ज वृन्दावन पर है जाल-फरेब रचकर जमुना को उसकी थोड़ी सम्पत्ति से बेदख़ल कर देता है। अब वह असहाय नारी अकेले ही विपत्ति-पथ पर चल निकलती है।

यही गुप्तजी के तीनों उपन्यासो की रूप-रेखा है। जो लोग उपन्यास मे पेचीदगी और जटिलता की माँग करते है और चाहते है कि कथाकार किसी समस्या को गहराई मे ले जाकर उसे अधिक-से-अधिक खोलकर दिखलाये तथा पात्रो के मनोविज्ञान की चीरफाड कर, उधेडकर हमारे सामने रख दे उन्हे निराश होना पड़ेगा। गुप्तजी उन उपन्यासकारो मे नही है जिन्हे हृदय के घावो के खुरंट उखाड लाली दिखाने मे मजा आता है। वे मानो इस बात से डरते है कि घाव को खुला छोडने से डर है कि उन्हे हवा लग जाय और हवा मे तैरते हुए कीटाणु उनमे प्रवेश कर कही उन्हे और भी विषाक्त न बना दे। घावों का मवाद हल्के से अवश्य चाहे निकाल दो पर उनके साथ हिंसात्मक सर्जरी करने से अन्त मे हानि की सम्भावना है। कथा के विषय और प्रतिपादन के ढग मे गुप्तजी मुझे निरालाजी की कहानियों के समीप अधिक लगे। निरालाजी की कहानियो के पढने से, मसलन् 'सुकुल की बीवी' मालूम होता है कि कनौजिये ब्राह्मणों मे जो सामाजिक बुराइयाँ है, जो प्रथाएँ प्रचलित है, जो उनका रीति-रसम है, जो उनका व्यवहार है, उन सबको उन्होंने ज्यो-का-त्यो कागज पर उतार दिया है। अपनी ओर से बिना कुछ मिलाये उन कथाओं को जिन्हे उन्होने समीप से देखा है, उन्हे ही लिपि-बद्ध कर दिया है। सच पूछिये तो यही इन दोनो कथाकारो मे खटकने वाली बात भी दिखाई पडती है। कथा में हम प्रकृत वस्तु का दर्शन नही करते और न करना चाहते हैं। कथा एक कला-वस्तु है जिसका पुनर्निर्माण औपन्यासिक के मस्तिष्क में होता है। मस्तिष्क के माध्यम से छनकर आने के कारण उसके रूप में एक सशोधन सा आ जाता है ठीक उसी तरह जिस तरह लकडी को पानी में डालकर देखे तो वह कुछ झुकी-सी दिखाई पड़ती है। कथा मे एक तरह का बाँकपन, पेचीदगी और जटिलता होनी ही चाहिए—किसी तरह की हो, शैली की, कथोपकथन की, विषय-निर्वाचन की, वर्णन की, वस्तु-सौष्ठव की। नही तो वह एक बहुत बडी अपील से वञ्चित रह जायगी। बाणभट्ट ने कथा की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि :

कथाकलालाप विलास कोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।

अर्थात् कथा नयी दुलहिन की तरह है, जो स्वयं रसार्द्र हो अपने पति की सेज पर आकर अपनी मीठी-मीठी बातो से उसके हृदय को प्रेम और कौतूहल से भर देती है। हाँ, यह ठीक है; पर यदि वह उसके हृदय में रस का दरिया बहा रही है, तो वह यो ही थोडे आयेगी। आयेगी तो समा बाँधती हुई, उसकी चाल में एक मस्तानी अदा होगी, उसके पैरो मे एक रुनझुन होगी जो

मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही। मनसा विश्व-विजय कँह कीन्ही।

गुप्तजी के कथा-सौष्ठव पर विचार कीजिए। विचार करने का यह अर्थ नही कि उनकी कथा की त्रुटियाँ निकाली जायँ और यह बताया जाय कि अमुक-अमुक बाते उनकी कथा मे क्यो समाविष्ट नही की गयी है। उदाहरणार्थ, उसमे चेतना-प्रवाह (Stream of Consciousness) वाली टेकनीक, कथा-वस्तु के निरन्तर विकास वाली टेकनीक (Orderly Unfolding of Plot) के प्रति उदासीन रहने वाली नयी पद्धति, हमारी सामाजिक मान्यताओं पर चुटीली चोटे देकर झकझोर देने वाली और हमारे मस्तिष्क के सारे पुराने सस्कारों को झाड देने वाली पद्धति, पाठकों के साथ बिल्ली जिस तरह चूहे के साथ खेलती है उस तरह खेलने वाली पद्धति—या इस तरह की अनेक प्रयोगशील पद्धतियो का उपयोग क्यों नही किया गया है। इन बातों को जरा और भी स्पष्ट करने के लिए 'पहाडी' तथा 'अश्क' के उपन्यासो से कुछ सहायता लूं। आधुनिकता के रंग मे रँगे आजकल के अधिकांश कथाकार अपने उपन्यासो के लिए जिस एक पद्धति को अपना लेते है उसे धड़ल्ले से प्रयोग करते है। वास्तव मे यह सिनेमा से लिया गया है। सलीम, नूरजहाँ के प्रणय के आरम्भिक दिनों मे उसके साथ उल्लास और महोत्सव का जीवन व्यतीत करता है। पर आगे चलकर जब नशे के उतार में सलीम मे थोडी-सी विरक्ति आ जाती है तो नूरजहाँ के मानस-पटल पर वे पुराने दिन और उनकी रगरेलियाँ बारी-बारी से आने लगती है और वे ही पुराने फिल्म दिखलाये जाते है। इसमे अलग शूटिंग (Shooting) के परिश्रम से जान बच जाती है, दर्शकों के मनोरजन में भी कमी नही होती है और व्यर्थ के खर्च से भी रक्षा होती है। इस पद्धति का कथाकारों ने अन्धाधुन्ध प्रयोग करना प्रारम्भ किया है।

'पहाडी' का एक उपन्यास है 'सराय'। रेखा उसकी एक पात्री है । मिस्टर सिंह के साथ पाँच-छः महीने उसके बड़े उल्लास से व्यतीत हुए है। मिस्टर सिंह की बदली हो गयी है। वे कल चले जायेंगे । उनके अथवा यो कहिये कि दोनो के हृदय में भीतर-भीतर नर्म आँच पर ज्वालामुखी सुलगता रहता है। वह आज धधक उठना चाहता है कि लता आ जाती है। मिस्टर सिंह चले जाते है । लता भी कुछ देर बाद चली जाती है । रेखा बिना कपड़े उतारे ही पलंग पर लेटकर फफक-फफककर रोने लगती है। साथ ही उसका मन बचपन से लेकर आज तक के इतिहास की पुनरावृत्ति कर जाता है । इस इतिहास-पुनरावृत्ति का वर्णन ग्यारह पन्नो मे किया जाता है । 'अश्कजी' के उपन्यास 'सितारो के खेल' मे लता नामक पात्री के दो प्रेमी है । एक को सफल कहिये, दूसरे को असफल या निराश । लता अपने सफल प्रेमी जगत के साथ किश्ती में दरिया की सैर कर रही थी। बीच मे अपने निराश प्रेमी बंसीलाल के गीत की मधुर ध्वनि उसके कानो मे पडती है·

"लहरों पर बहे जाओ ।
तुम दर्द मेरा जानो,
जो दर्द कहीं पाओ ।"

इस करुणापूर्ण गीत के श्रवण मात्र से, उसके प्रेम का अंजाम भी दर्द भरा न हो—इस भविष्य की कल्पना से वह कॉप उठती है । साथ ही वह अपने भूत जीवन के कुछ सुनहले पन्नो को उलटने लगती है, जिससे उसका इतिहास चमकता-सा दिखाई पडता है । मैं कहना यह चाहता हूँ कि इस तरह की कोई जटिलता गुप्तजी के उपन्यासो मे नही है । मालूम होता है कि कथा का स्रोत अपने उद्गम-स्थल मे निकलकर सीधे अपने गंतव्य स्थान पर ही समाप्त होता है अथवा जहाँ पर समाप्त होता है वही उसका गंतव्य स्थान है । उनकी कथा तीर की तरह चलती है, उसे मुडकर देखने की फुरसत नही, उसे अपनी गति के लिए जो शक्ति मिल गयी है उसे ही लेकर निकल पड़ती है ।

दूसरे तरह की कथा होती है, जिसकी गति सर्प की तरह होती है (zigzag) टेढ़ी-मेढ़ी । साँप कुछ आगे बढ़ता है फिर कुछ पीछे फिसल जाता है । इसी फिसलन में वह गति सचित कर आगे बढ़ जाता है । गुप्तजी की कथा सर्प-गति से नही चलती; गज की गति से चलती है । यदि कविवर पत के कुछ शब्द उधार ले तो कहे कि 'गज-गति सर्प डगर पर' । गुप्तजी के उपन्यासों की कथा की धारा प्रचण्ड वेग से गति में भयंकर उन्माद लिये भले ही न

चलती हो, पर उसकी यात्रा मे कही भी ठहराव नही, कही भी थकावट नही। ऐसा कहीं भी नही दीख पडता कि :

बैठि रहो अति सघन बन,
पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की,
छाहौं चाहति छाँह॥

जेठ की एक चिलचिलाती दुपहरी होती है, जिसमे छाया भी छाँह मे विश्राम करती-सी जान पड़ती है। आजकल के दूसरे प्रकार के उपन्यासो के कथा-भाग मे उस तरह के विश्राम कर लेने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। कारण कि उन उपन्यासों में छोटी-मोटी, दुबली-पतली नाजुक बदन कथाओ पर अधिक भार डाल दिया जाता है, उनसे अधिक काम लेने की प्रवृत्ति लोगो में होने लगी है, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध भी गतव्य-अगंतव्य सब स्थानो मे 'पेर' दिया जाता है, दूसरे शब्दो मे उनका Exploitation किया जाता है। अत. कथा बेचारी मे थककर लेखक रूपी सूर्य की प्रतिभा-किरण के द्वारा उत्पन्न भीषण गर्मी में विश्राम करने की इच्छा होती है। यदि यात्री दुर्बल हो और उसके सिर पर भारी बोझा हो तो उसे जब-तब राह मे ठहरकर विश्राम करना आवश्यक होगा ही। पर यदि वह स्वस्थ हो और थोडा-सा ही सामान उसके साथ हो तो उसे विश्राम करने की कोई आवश्यकता नही होती। हाँ, यदि कुछ थोडी-सी आवश्यकता हुई तो उसे झट पूरी कर आगे अपने लक्ष्य पर बढ चलेगा। गुप्तजी की कथा की तुलना ऐसे ही यात्री से हो सकती है। यात्री भी स्वस्थ है, भले ही पहलवान न हो, उस पर बोझ भी अधिक नहीं और वह आगे बढ़ता ही जा रहा है। ठहरता भी है तो ऐसा ही मालूम होता है कि क्या करे बेचारा, प्राकृतिक आवश्यकताओ की अवहेलना तो नही की जा सकती है न। वह ठहरना नही है; वह भी चलने का ही अश है। 'गोद' मे शोभाराम अपने पिता वगैरह की इच्छा के विरुद्ध जाकर किशोरी से विवाह कर लेता है। वहाँ थोड़ी कहानी ठहरती-सी अवश्य है; पर रामचन्द्र मुखिया के द्वारा कथा-सूत्र जुडकर चल निकलता है। मानो घुडसवार घोडे की पीठ से गिरते देर नही कि झट पीठ की धूल झाड़कर बढ चला। उसी तरह 'अन्तिम आकांक्षा' में रामलाल के चले जाने के बाद होता है; पर कहानी झट आगे बढ़ जाती है।

हाँ, 'नारी' में कथा मे थोड़ी पेचीदगी अवश्य है। सूत्र में एक-आध गाँठ अवश्य मालूम पडती है। कारण यह है कि यहाँ नारी-जीवन की समस्या को

लेखक ने स्पर्श किया है और आज के पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नही कि नारी-जीवन तथा नारी-मनोविज्ञान मे फ्रायड ने जाने कितने सम्भव और असम्भव करिश्मो का समावेश कर दिया है कि सुनकर दाँतो तले उँगली दबानी पडती है। उसमे बाल-मनोविज्ञान की बाते भी आ गयी है। हल्ली की कुछ हरकते तो रोम्या रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्ताफ' की तरह मालूम पडती है। हल्ली है तो छोटा ही, पर उसे अजीत की उसकी माँ के साथ बढती घनिष्ठता अच्छी नही लगती। उसमे कही-कही पाठको को झकझोरने का भी प्रयत्न है, जिसे देखकर पाठक के मुख से बरबस यह निकल जाता है— "दुनिया वालो आकर मेरी किस्मत की खूबी देखो। रह-रह जाती है बस मुझको मिलते-मिलते मधुशाला।" पाठक कहता है काश डाकिया ने पत्र हीरालाल को न देकर जमुनाबाई को दिया होता। काश जमुना के पति के साथ भाटे की मुलाकात नही होती। और ये घटनाएँ होते-होते नही होती। इसी को कहते है 'Many a slip between cup and the lip.' असल बात यह है कि 'नारी' उपन्यास के साथ गुप्तजी आधुनिक कथा-क्षेत्र की झाँकी लेना चाहते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह मैथिलीशरणगुप्तजी अपनी मुख्य द्विवेदी-युगीन प्रवृत्ति को छोड़कर छायावादी क्षेत्र मे भी कभी-कभी विचरण कर आते है। परन्तु न तो हम मैथिलीशरणजी के छायावादी रूप को ही पहचानते है और न सियारामशरणजी को मनोविज्ञान की तहों को चीर-फाडकर रखने वाले कथाकार के रूप में। शायद यह सम्भव भी नही। गुप्तजी का आस्तिक भाव-प्रवण हृदय, जीवन को समष्टि रूप मे देखने वाला दृष्टिकोण, थोड़े ही मे सब कुछ पा जाने वाली वैष्णवी प्रवृत्ति सदा उन्हे चक्करदार गलियो मे भटकने देने से रोकेगी।

गुप्तजी के उपन्यासों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है उनका कलात्मक ढग से अन्त। कथा इस ढग से और इस उचित मौक़े पर समाप्त होती है मानो उपन्यास के सारे छिद्रों को, उनकी त्रुटियो को अपने महत्त्व से छा देती है और इस तरह छा देती है कि उनका पृथक् अस्तित्व रह ही नही जाता। किसी औपन्यासिक का कहना यह था कि यदि किसी पाठक को विषादान्त कथा से रुचि नही हो तो वह उसकी पुस्तक के अन्तिम पाँच-छः पन्ने फाड़ दे, उसे प्रासादान्त कथा का आनन्द आ जायेगा। पर गुप्तजी के साथ इस तरह की छेड-छाड़ नही चल सकती। अन्तिम पन्ने गुप्तजी की कथा की जान है— आत्मा है। कलात्मकता का सारतत्त्व वहाँ आकर केन्द्रित हो गया है। वह जितना समीप है उतना ही तुनुक भी। ज़रा-सा छू भर दिया कि दीपक की

लौ फुक हो गयी। हृदय मानव-शरीर का कितना सजीव अग है। वही से सारे शरीर मे जीवन की गति प्रसारित होती है पर जहाँ उसकी धुकधुकी से जरा भी छेड-छाड़ हुई कि शरीर मे और शव मे कोई अन्तर नही। उर्दू के शायरो मे यह प्रथा है कि किसी नज्म की अन्तिम पक्ति मे अपने 'तखल्लुस' का प्रयोग करते है। इसे मकता कहते है। इसी मकते मे उनकी सारी कला निहित रहती है। दाग के मकते की ये पक्तियाँ कितनी सजीव है .

कोई नामो निशाँ पूछे तो ऐ क़ासिद बता देना,
तखल्लुस दाग है हम आशिकों के दिल में रहते है।

सवैयों के पाठको को मालूम होगा कि उनकी सजीवता अन्तिम पंक्ति पर किस तरह निर्भर रही है। जो कला मकते मे, सवैयो के सगठन मे दिखलाई पड़ती है, उसी के दर्शन गुप्तजी के तीनो उपन्यासो मे होते है। मैं पाठको से एक बात कहूँ। आज एक काम कीजिए। 'गोद' मे से यह वाक्य निकाल लीजिये, "उनकी गोद तो बहू ने आकर भर दी, मेरी खाली थी सो तू भर दे।" 'अन्तिम आकाक्षा' से "भैया, भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि अपने ही गाँव मे मै झट से फिर जन्म लूँ, दूसरे जन्म मे झट से फिर तुम्हारे चरणो में पहुँचूँ······तो क्या इसीलिए अन्तिम समय उसने मेरे निकट अपनी वह आकाक्षा प्रकट की थी।" 'नारी' से यह वाक्य, "वह निरन्तर नारी पग-पग के अन्धकार मे, उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढी जा रही है, दु.ख और विपत्ति के इस अँधियारे पथ को इसी तरह पद-दलित करके, उसे कोई भय नही है, कोई चिन्ता नही।" और तब दोनो उपन्यासो को पढ़कर देखिए। मैं जरा हल्के मूड मे होऊँ तो यह कहूँ कि गुप्तजी के उपन्यास—ये वाक्य = ०।

गुप्तजी के उपन्यासो मे नाटकीय दृश्यो (Dramatic Scenes) का सर्वथा अभाव है। नाटकीय दृश्य का मतलब यह है कि ऐसे दृश्य जहाँ पात्रो की क्रियाशीलता घनीभूत रूप मे मिले, जहाँ पात्रों को अपने जीवन-व्यापार मे क्रियात्मक रूप मे संलग्न हम लेखक की आँखो से नहीं, बल्कि अपनी आँखो से देखे। हम ही नही परन्तु साथ दुनिया के और लोग भी देखे और समान भावो से प्रवाहित हो। ऐसे उपन्यासो के पढ़ने से नाटक के अभिनय देखने का भी आनन्द आ जाता है। 'गोद' की एक घटना की ओर मैं पाठको का ध्यान आर्कषित करूँ। शोभाराम की शादी की घटना के अवसर पर इस तरह का सघर्ष-चित्रण करने की गुंजाइश थी। कल्पना कीजिए कि वेहटा के प्रौढ़ावस्था वाले वर महोदय जिनसे पार्वती के विवाह की बात

तय हो चुकी थी विवाह-मण्डप मे उपस्थित हो विवाह-वेदिका पर आसीन होते, उसी समय नवयुवको का—समाज-सुधारको का एक दल शोभाराम को लेकर उपस्थित होता। दोनो दलो मे थोडी चहल-पहल होती, धर्म और समाज-सुधार की दुहाइयाँ दी जाती। इसी बीच पार्वती धीरे से उठकर शोभाराम के गले मे वरमाला डालकर सारे झगड़ो का अन्त नाटकीय ढग से कर देती तो कथा मे कितनी सरगर्मी और स्फूर्ति आ जाती। माना कि घटना का प्रवाह मुड जाता, उसमे कुछ क्षिप्रता या वक्रता आ जाती और कथा उस तरह नही विकसित होती जिस तरह 'गोद' मे विकसित हुई है। पर उपन्यास तो हम पढते ही है अपने जीवन मे थोडी हलचल लाने के लिए, शिथिल तरगो को जगाने के लिए, तथा दैनिक जीवन से मिलती-जुलती फिर भी अपनी चारो ओर अधिक सजीवता के वातावरण को लिये चलने वाली घटना को देखकर जीवन की आढ्यता (abundance of life) की झाँकी लाने के लिए। अन्यथा नित्य-प्रति आँखो के सामने बहते रहने वाले जीवन-प्रवाह को छोडकर हमारा मन उपन्यास या साहित्य पढने के लिए लालायित क्यो रहता? कहा है:

दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को
वरना तायत के लिए कुछ कम न थीं तरवोरियाँ।

पर इन बातो को लेकर हम गुप्तजी की कथा-कला को त्रुटिपूर्ण या सदोष नही कहेगे। किसी साहित्यिक कृति की बाहरी आकृति उदाहरणार्थ 'उपन्यास की कथा' को मूल लेखक के हृदयस्थ जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त होती है। वही से वह अपनी रूप-योजना के लिए रस प्राप्त करती है और यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है। जिस मिट्टी पर अकुर उगता है उसी के अनुसार उसके रूप और गुण मे अन्तर होता है। अकुर की सार्थकता और सफलता इसी मे है कि वह बीज और मिट्टी के प्रति वफादार रहे, ईमानदार रहे। जिस अनुपात मे वह इन दोनो से अलग होता है—यह प्रश्न नही कि ऊपर या नीचे—उसी अनुपात मे वह असफल है। इस सिद्धान्त से तो मतभेद हो सकता है कि लेखक के जीवन की राह से उसके साहित्य पर विचार करना समीचीन है या नही, उसके जीवन की घटनाओ का मिलान उसके साहित्य मे बैठाना ठीक है या नही; पर इससे मतभेद कम है कि साहित्य की राह से हम लेखक के जीवन की झाँकी ले सकते है, उसके साहित्य मे उसके जीवन का प्रतिबिम्ब पडता ही है। गुप्तजी का हृदय शुद्ध वैष्णव-तत्त्वो को लेकर बना है, वे सगुण रामभक्त वैष्णवो की परम्परा मे आते है। वे तुलसी की तरह सबसे 'धाय'

कर मिलना चाहते है, क्योकि "ना जाने केहि रूप मे नारायण मिल जायँ।" वे नही चाहते कि लोग उनसे मिलने के लिए धावे। इसीलिए आप देखेंगे कि उनकी कथा मे प्रवृत्ति है कि वह लोगो को किसी आकर्षण मे बाँधकर अपने चारो ओर चक्कर काटते रहने देने का उपक्रम नही करती। वह स्वयं ही, हाँ अपनी शक्ति और परिधि के अनुसार, लोगो के पास दौड़कर पहुँच जाती है। तुलसी का "श्रुति सम्मत हरि भगति-पथ, सयुत विरति विवेक" था। वे समाज-सुधार अवश्य चाहते थे और उनसे बढकर किसने समाज की रक्षा की। पर वे परम्परा को तोडकर अन्धकार मे कूदना नही चाहते थे, वे वर्तमान जीवन-प्रवाह को अतीत परम्परा के मेल मे बहते रहने देखना चाहते थे। वही काम गुप्तजी अपने उपन्यास के द्वारा करते है। उनके उपन्यासो मे गुरु-गम्भीर पाण्डित्य की प्रखरता नही है, कूटनीतिज्ञ की चालबाजी भी नही, जो मौका पा विपक्षी पर गोलाबारी आरम्भ कर देता है। शायद वे निस्सहाय भी है, फिर भी अपने कर्तव्य से पीछे नही रह सकते, केवल राम का बल है, उसी के सहारे जो कुछ प्राप्त है, प्राप्त हो जाएगा। वे विपत्तियो को विपत्ति नही समझते। वे विपत्तियो का उपचार सम्पत्ति मे नही समझते। वे विपत्तियों को विपत्ति से दूर करना चाहते है। इसी से आप देखेंगे कि उनके उपन्यासो मे पात्रो पर जब कोई विपत्ति आ पडती है तो उनके दर्द को रोकने के लिए कोई सुख-दायक घटना की योजना नही की जाती। वहाँ उससे भी एक अधिक दुःख-दायक विपत्ति की योजना की जाती है, जिसके सामने पहली विपत्ति भूल जाय। जमुना चातक की तरह जिस पति की आशा लगाये बैठी थी वह आकर चला जाता है। जब उसे पता चलता है, वह दु ख के समुद्र में डूब जाती है। इधर इस दु.ख मे डूबी ही थी कि हल्ली बीमार पड जाता है और उसके उप-चार मे सलग्न होकर वह दीन-दुनिया सबको भूल जाती है। लेखक कहता है "विपत्ति के ऊपर ही विपत्ति आती है। उसमे भी कुछ अर्थ है। रेखा के सामने दूसरी रेखा खीचे बिना पहली हलकी नही पड़ती। जमुना की पहली दुःखरेखा छोटी हुई हो या न हुई हो, पर यह ठीक है उसका समस्त ध्यान दूसरी पर ही केन्द्रित हो गया था।" इसी तरह 'गोद' या 'अन्तिम आकाक्षा' मे भी इसी तरह की घटनाएँ आती है और पात्रो के जीवन को थामे रहती है।

गुप्तजी भारतीय आर्य-सभ्यता के सच्चे प्रतिनिधि है। उनकी प्रत्येक पक्ति मे उनके सात्विक और भगवान की महिमा मे अटूट विश्वास रखने वाले हृदय का प्रतिबिम्ब मिलता है। वे बाह्य आडम्बर मे कतई विश्वास नही करते। जमुना, पार्वती, सोना इत्यादि बसी, शोभाराम, रामचन्द्र, भाटे, चाहे

कोई हो सबका हृदय पारदर्शी शीशे की तरह साफ है। यदि उनके हृदय मे करुणा, दया और माया है तो वह साफ दिखलाई पडती है अथवा यदि क्रूरता या कायरता है तो भी साफ दीख पड़ती है। सच पूछिये तो आज के पाठक को यही बात खटकती भी है। वह चौककर कहता है कि अरे जीवन इतना सुलझा हुआ है ? मनुष्य इतना सीधा-सादा है ! हम तो पाते है कि जीवन ऐसी जगह है जहाँ मानो सूत्रो का एक बृहत जाल आपस मे मिलकर इस तरह उलझ गया हो जिसका ओर-छोर मिलना कठिन है। यही कारण है कि आप आज के कथाकार को एक बन्द कोठरी मे रात्रि के अन्धकार मे एक बड़े ही सशक्त हजारो कण्डिल पॉवर वाले बल्ब के नीचे बैठकर उस गाँठ को सुलझाते हुए पायेंगे। उनके उपन्यास मे ब्लास्ट फरनेस का प्रकाश होगा, उसमे एक ही जगह पर उन्मत्तता से नाचने वाले बगूले का चक्कर होगा, उसमे चीर-फाड़ होगी, उसमे किसी वस्तु को पा लेने की तड़प होगी, आकाश और पाताल के कुलाबे को एक कर देने का भागीरथ प्रयत्न होगा। पर गुप्तजी की दुनिया ही दूसरी है। वहाँ कोई सूत्र उलझे नही है, नाभि मे ही कस्तूरी है। बस धीरे, चुपके से पा लेने की आवश्यकता है, और उसके लिए तूल-तवील की कोई आवश्यकता नही है। पन्तजी के शब्दो मे :

कँप-कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा।
बुद्-बुद् विलीन हो चुपके,
पा जाता आशय सारा॥

गुप्तजी के उपन्यासो मे ध्यान देने पर एक-आध और स्वर सुनाई पड जा सकते है; पर यही उनका सबसे प्रधान स्वर है, उनका 'व्यंग्य' है। अछूतोद्धार के प्रति उनकी सहानुभूति, अहिंसा के प्रति आस्था, समाज के उच्च वर्ग वालों का दम्भ, स्वदेश-प्रियता की भावना अवश्य है पर वे सचारियों की तरह उठ-उठ कर स्थायी को सहायता दे और पुष्ट कर विलीन हो जाती है। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचार करे तो हम गुप्तजी के उपन्यासो के साथ न्याय कर सकेंगे। हम रात्रि के निविड़ अन्धकार पर बिजली के लट्टुओ द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयत्न भले ही करे, पर तारो और चन्द्रमा के स्निग्ध प्रकाश के महत्त्व को भूल नही सकते।

'नारी' उपन्यास में 'अवश्य' ऊपर कहा गया है, थोड़ी नयी रोशनी का रंग आता-सा दिखलाई पड़ता है। पर यहाँ पर भी गुप्तजी की वैष्णव-निष्ठा, हृदय की निर्मलता और भक्त की निरीहता उनका पीछा नही छोड़ती।

जमुना उस जाति की स्त्री है, जिसमे पति के जीवन-काल मे भी उसके साथ निभ नही सकने के कारण दूसरा घर कर लेना वर्जित तथा निन्दनीय नही समझा जाता। फिर यहाँ तो जमुना के पति की वर्षों से कुछ खबर नही मिली थी। जो कुछ उसके सम्बन्ध मे खबर मिलती थी उससे यही प्रमाणित होता था कि वह अब ससार मे नही है। अजीत उसके साथ घर बसा लेने का प्रस्ताव करता है। पर वह अस्वीकार करती जाती है। पर जब वह देखती है कि अजीत उसके लिए कितना दु ख उठा रहा है, हल्ली को खोजने के लिए अपनी जान को जोखिम मे डालने के लिए तैयार है तो वह आर्द्र हो जाती है और कहती है "तुमने एक बार घर बसाने को कहा था न। घर बसा लेना तुम्हे मंजूर हो तब जाओ।" पर किसी की परिस्थितियो से अनुचित लाभ उठाना, किसी को फेर मे डालकर या उसके फेर मे पड़ जाने की अवस्था मे कोई ऐसा काम करना जिसमे स्वार्थ और अनौचित्य की गंध आती हो, गुप्तजी का अजीत नही कर सकता। यह घोर हिंसा है और गुप्तजी के हृदय की सत्य-अहिसा की कुछ बूँदे तो अजीत पर पडी ही थी। वह कहता है, "मै भला आदमी नही हूँ पर इतना खोटा भी नही कि ऐसे मे कोई बात पक्की करा लेना चाहूँ।" यह त्याग की पराकाष्ठा है। भले ही उसके दमामे न बजते हो। यह मानवता और मानव-जीवन की विजय है। दूसरी ओर 'अश्कजी' की 'गिरती दीवारे' के चेतन की ओर देखिये। जिन परिस्थितियो मे एक निरीह और फूल-सी कन्या 'नीला' का बूढे विधुर तीन-तीन बच्चो के पिता के चरणो पर बलिदान किया जा रहा है उस समय चेतन को थोडी-सी तसल्ली ही होती है। कारण नीला के तन पर उसका अधिकार भले हो जाय पर मन 'जीजाजी' का ही रहेगा। पर जब वह मदन-शर-हस्त उसके भतीजे को देखता है तो उसका दिल बैठ जाता है कि हाय अब उसको ऐसे प्रतिस्पर्द्धी का सामना पड़ा जो उसे परास्त कर देगा। यहाँ तक कि अपनी पत्नी के गर्म गदराये शरीर से सटकर भी वह स्वच्छन्द यौन-सम्मेलन के सम्बन्ध मे विचार कर रहा है। इन दोनो पात्रो के व्यक्तित्व मे जो है वह दो विभिन्न सृजनशील मानसो की विभिन्नता है। एक शरद पूर्णिमा की निर्मल ज्योत्स्ना है जो भयानक-से-भयानक स्थल यहाँ तक कि श्मशान को भी छूकर स्निग्ध चमत्कार से पावन कर देती है, दूसरी प्रलय सूर्य की प्रचण्ड ज्वाला है जो सागर को भी भाप बनाकर उड़ा देती है, एक नतमस्तक विनयावनत भक्त है, दूसरा···उद्ग्रीव···क्रान्तिकारी।

ऊपर की बातो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि सियारामशरणजी के कथा-साहित्य पर गाधीवाद के सत्य और अहिंसा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और

इस प्रभाव का दर्शन उसके आन्तरिक और बाह्य अर्थात् विषय-निर्वाचन तथा उसके बाह्य कलेवर दोनो मे पाया जा सकता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यासो मे भी सत्य और अहिसा के प्रति इतनी गहरी आस्था नही दिखाई पडती। गाधीजी के नाम से भारत के राजनीतिक आन्दोलन और उसकी उग्रता कुछ इस तरह सम्बद्ध हो गयी है कि उन्हे इन हलचलो से अलग देखना कठिन हो जाता है; पर वास्तव मे वे सतो की परम्परा मे आते है। जीवन को सहज भाव से स्वीकार करने वाले—कही भी विरोध नही, कही भी निषेध नही, भारी-से-भारी विरोध को भी अपनी सहजता से हल देने वाले। यह सहज भाव उपन्यास मे देखना हो और आप मुझसे कहे कि हिन्दी का कोई उपन्यास बतलाइये तो मै सियारामशरणजी के उपन्यास की ओर सकेत करूँगा, प्रेमचन्द की ओर नही, जैनेन्द्र की ओर भी नही। यदि आप जोश-पसन्द है और जोश-अफजाई के मजे लेने के लिए, जिन्दगी के सुरूर का जाम पीने के लिए उपन्यास पढने की ओर अग्रसर होते है तो आपको यहाँ निराशा होगी। और आपको यहाँ निराशा होगी तब जब आप अपने अह को किसी पात्र के अह पर चढा कर विश्व पर छा जाना चाहते है। आप इसके लिए 'अज्ञेय' के पास जाइये। उनका शेखर आपको विश्व को समेट लेने मे थोडी सहायता करेगा। यदि मानसिक गुत्थियो की ऊहापोह करने मे आपको आनन्द आता हो अथवा आप मनुष्य को अर्थशास्त्र के हाथ की कठपुतली समझते हो और जीवन मे रहस्यो अथवा विषमताओ को उस तरह सुलझाना चाहते हो जिस तरह ताले को निर्जीव कुजी खोल देती है तो गुप्तजी आपके चित्त का समाधान नही कर सकते। इनके लिए इलाचन्द्र अथवा यशपाल अधिक कारगर हो सकते है। पर यदि आप राम का नाम लेकर 'एक भरोसे एक बल' के सहारे गणेश जी के मूषक की तरह सब देवताओ से भी लोक की घुडदौड़ मे बाजी मार लेना चाहते है तो मै आपको गुप्तजी के उपन्यासो को पढने के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

सियारामजी की ग्यारह कहानियाँ

[प्रभाकर माचवे]

काण्ट के अनुसार सौन्दर्य दो प्रकार का होता है : एक तो शुद्ध रूपात्मक सौन्दर्य जैसे कि सोना या सीप या मेहराब देखकर हमें प्रतीत होता है, दूसरा प्रातिनिधिक सौन्दर्य जिसमें किसी जीवित या अन्य वस्तु की प्रतिकृति हो। सियारामशरण गुप्त की कहानियाँ पढ़कर हमें प्रथम श्रेणी की सौन्दर्यानुभूति नहीं होती, परन्तु द्वितीय प्रकार की अनुभूति अवश्य होती है। चूँकि उनकी कला में एक स्पष्ट सोद्देश्यता लक्षित है—कभी-कभी वह अभिनिहित न रहकर बाहर उभर भी आती है—अतः उनकी कहानियों के उद्देश्य की चर्चा पहले करनी चाहिए।

खण्ड-काव्य—उनकी कहानियों का उद्देश्य स्पष्ट है कि केवल मनोरंजन अथवा भाव-निवेदन नहीं है जबकि कविता का माध्यम अधिक भाव-प्रधान होता है, उसमें भी 'मौर्य-विजय', 'आत्मोत्सर्ग' या 'नकुल' जैसे वस्तु-कथा वाले और 'अनाथ' जैसे काल्पनिक-सामाजिक खण्ड-काव्यों में सियारामजी ने अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति को नहीं छिपाया है। गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान पर लिखित और प्रथम बार 'सुधा' में मुद्रित यह लम्बी पद्य-कथा, किशोर पाठकों को (अपने अनुभव से मैं कहता हूँ) अवश्य रुला देगी। उसमें वे कहते हैं :

राम-खुदा के पाक नाम पर करके शैतानों के काम,
क्या शहीद हो सकते हैं हम उस मालिक के नमकहराम ?
ऐसे हिन्दू-मुसलमान से मैं 'मलेच्छ-क़ाफ़िर' ही ख़ूब;
मन्दिर-मसजिद से पहले है मुझ में ही मेरा महबूब !

[आत्मोत्सर्ग, ८३]

यही जाति-दल-वर्ण से परे की विशुद्ध मानवता का कल्याण उनका साध्य है, करुणा साधन ! 'अनाथ' में अछूत पर होने वाले अत्याचार, बेगार से बँधकर तपती धूप में उसका तड़पना स्पष्टतः सामाजिक विषमता की ओर संकेत करता है। परन्तु वे हिंसक समाज-क्रान्ति में विश्वास नहीं करते। वे अहिंसक हृदय-परिवर्तन में और इस प्रकार समाज की प्रत्येक बुराई के सुधार से समूचे समाज के सुधार में विश्वास करते हैं।

यही आदर्श अहिसक पद्धति उन्होने 'उन्मुक्त' नामक कथा-खण्ड-काव्य मे तत्कालीन द्वितीय महायुद्ध से पीडित होकर निरूपित की है। गुजराती के कवि उमाशकर ने भी युद्धकाल मे रचित 'विश्व-शान्ति' नामक मुक्त काव्य मे और मराठी के जोशी ने 'विश्वमानव' नामक कथा-काव्य मे इसी प्रकार से गाधी-नीति-परक शान्ति का स्वप्न देखा है और उसे यथार्थ के सघर्ष का हल बताया है। 'उन्मुक्त' मे एक विराट कल्पना है और आदर्श समाज रचना की ओर अगुलि-निर्देश है।

महाभारत के कथानक पर आधारित 'नकुल' मे भी सियारामजी ने यही समस्या रखी है। सन् ४७ मे लखनऊ रेडियो से इसकी समीक्षा करते हुए मैने स्पष्ट किया था कि इस काव्य मे कैसे महाभारत के मूल कथानक से सियारामजी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कथा को जरा-सा चित्र रूप देते है।

चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता की दृष्टि से यह काव्य हिन्दी मे अनूठा है।

कथा-काव्य—परन्तु खण्ड-काव्यो से भी अधिक चमत्कारपूर्ण है सियारामजी की 'मृण्मयी' और 'आर्द्रा' मे प्रकाशित पद्य कथाएँ। जैसे 'मजुघोष', 'खादी की चादर',' एक फूल की चाह', 'डाकू', 'चोर', 'डॉक्टर' आदि। इन कथाओं मे जहाँ कही-कही परम्परित लोक-कथाओं का अथवा वास्तविक घटनाओं का भी आधार है, वहाँ कल्पना द्वारा उन पर कलम लगाया गया है और उनकी भी तराशी खासी की गयी है। उदाहरणार्थ 'आर्द्रा' मे 'चोर' नाम की कहानी हमारे आपके हरएक जीवन मे घटित होती होगी परन्तु उसमें परितल की पुट कवि की अपनी हैं। वही संवेदना उसमे काव्यत्व भरती है। दयामयी नामक नयी विधवा नौकरानी पर सन्देह है कि वह चोर है। एक दिन घर का स्वामी (मैं) उमा को गिन्नियो की ढेरी देकर काम पर गया, शाम को आने पर पता चला कि एक गिन्नी कम है। सन्देह पुष्ट हुआ। दयामयी को निकाल दिया। बाद में धोबी के पास से जब कपडे लौटे तब जाना गया कि एक गिन्नी गलती से जेब में ही रह गयी थी। मैंने पश्चात्ताप से दग्ध होकर दयामयी को लौटाने का प्रयत्न किया। परन्तु उसका पता न चल सका। उसी प्रकार 'डाक्टर' कहानी मे डाक्टर की पत्नी कही आठ-दस कोस पडोस मे उत्सव मे गयी है। एक गँवार बेतवा की प्रखर धारा में बहता हुआ एक प्रेत देखकर उनके पास उसे देखने के लिए बुलाने दौड़ा आया, डाक्टर फीस पर ऐंठ गये। बाद मे पता लगा वह मालकिन की ही लाश थी। जार्ज इलियट के 'मिल ऑव दि फ्लॉर्स' का सा भयद अन्त है। परन्तु इस प्रकार नियति-चमत्कार, मरण और ऐसी ही सम्भवनीयता का मसाला लेकर सियारामजी जीवन में मानवता की आस्था को ही गाढ़ा

बनाना चाहते है। जैसे 'डाकू' पद्य-कथा मे वे कहते है उसी अदम्य जीवनाशा से जिससे रोदा ने 'बर्गर्लस ऑफ फ्रास' बनाये होगे

उड़ाकर मेरे ऊपर कीच,
मुझे जो कहते फिरते नीच,
जरा देखें वे अपनी ओर,
सुधार्मिकता कह अपनी घोर,
हड़पकर औरों के घर-द्वार,
नहीं लेता जो कभी डकार,
निरस्त्रों हतभागों का खून,
पिलाता है जिसको क़ानून,
धान्य-धन तिजोरियों में डाल,
बद्ध रखता जो शान्ति-सुकाल। [आर्द्रा २४-२५]

कहानियाँ

सियारामजी की गद्य-कहानियाँ बहुत अधिक नही है। सब मिलाकर मुझे 'मानुषी' सग्रह की, और 'प्रतीक' द्वैमासिक के दूसरे, तीसरे और सातवे अंक मे ३—ऐसी कुल ग्यारह कहानियाँ प्राप्त हुई है। 'त्याग' कहानी पर तिथि नही है। इस प्रकार 'कष्ट का प्रतिदान' सवत् १९८५ अर्थात् बाईस वर्ष पुरानी, और अन्य छह कहानियाँ बीस-इक्कीस बरस पुरानी है। 'प्रतीक' वाली तीन कहानियाँ · 'चुक्खू', 'प्रेत का पलायन' और 'रामलीला' दो-तीन वर्ष पुरानी। इस बीच मे सियारामजी ने कविताएँ लिखी, खण्ड-काव्य और 'बापू' जैसे दार्शनिक ओड भी लिखे, नारी जैसा हिन्दी का 'एकमेवाद्वितीयम्' उपन्यास लिखा, 'झूठ-सच' के बेजोड़ लघु निबन्ध भी लिखे, पर कहानी जैसे छूट गयी। क्या ही अच्छा होता यदि वे और कहानियाँ लिखते। इन ग्यारह कहानियो मे विकास-क्रम देखना असम्भव है।

शैली—चिरगाँव मे एक बार बातचीत के सिलसिले मे सियारामजी ने मुझे बतलाया कि वे अपने कथानक पहले से योजना करके मन मे या कागज़ पर नक्शे की तरह खीचकर नही रखते। 'नारी' लिखते समय वे अगले अध्याय मे क्या होगा इसका पहले से विचार नही करते थे। जैसे-जैसे सूझता गया लिखते गये। लेखन स्वय अपनी दिशा बनाता चला। इस स्वाभाविक शैली के कारण उनकी कहानियो मे बनाव-सँवार नही है। टेकनीक के प्रयोग वे नही करते। सीधे कहानी कह देना चाहते है। इससे उनके ढग मे एक रवानी है, एक हार्दिकता है। वही उसकी मनोवैज्ञानिक सफलता की कुंजी है।

मनोवैज्ञानिकता का एक नमूना पढिये। बैल की बिक्री करके शिव लौट रहा है और सोचता है ·

बार बार उसे बैल की सूरत याद आती। उसके ध्यान में आता, मानो विदा होते समय बैल उदास हो गया था। उसकी आँखों में आँसू छलक आये थे! बैल का विचार दूर करता तो बाप का सूखा हुआ चेहरा सामने आ जाता। बैल और बाप मानो एक ही चित्र के दो रुख थे। लौट-फिरकर एक के बाद दूसरा उसके सामने आ जाता था। आह उसका बाप इस बैल को कितना प्यार करता था! उसे अनुभव होने लगा कि वह बैल उसका भाई ही था। एक ही पिता के वात्सल्य-रस से दोनों पुष्ट हुए थे।

[बैल की बिक्री, पृष्ठ ८४]

और इससे भिन्न प्रकार की शैली का एक नमूना है :

भवानी तुम्हारा यह आवेश भी बहुत सुन्दर जान पड़ता है। इसमें उत्ताप है, परन्तु निदाघ का नही, हेमन्त की अग्नि-शिखा का।

[मानुषी, पृष्ठ ४]

वे स्वय पृष्ठ १२ पर 'मानुषी' में लिखते है

हृदय को समझने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहाँ तर्क का प्रवेश निषेध है। इससे उनकी कहानियाँ कभी-कभी अतर्क्य हो उठी हैं।

भाषा—सियारामजी की भाषा मे एक सहज, ऋजु, प्रसन्न प्रवाह है। वे शब्दो के लिए कही नही रुकते। इसी से प्रसाद की भाषा की तरह क्लिष्ट कृत्रिमता नही है और न ही 'उग्र' की तरह शोखी और चुलबुलाहट का प्रदर्शन। उनमे पर्याप्त 'विट्' है, चित्रमय शब्द-योजना है, प्रादेशिकता भी है। बुन्देली शब्द यथा 'उसारना' आदि का जहाँ प्रयोग मिलता है, वही कुछ मुहावरे भी है जैसे 'दोपहरी झरझरा रही थी', 'उठा धरी कर रही थी'।

[पृष्ठ ५]

और कुछ अनूठी उपमाएँ देखिए :

वह उस पहाड़ी भूमि जैसी थी, जो ऊपर से वज्र के समान कठोर होती है और थोड़े ही भीतर से मीठे पानी का झरना बहाती है। [पृष्ठ ५०]

काल के थोड़े-से आघात से ही, आँखों में अँधेरा भरकर यह (झोंपड़ी) किसी वृद्धा की तरह पृथ्वी पर बैठ जाने को सोच रही है। ऊपर की मिट्टी ने खिसककर स्थान-स्थान पर भित्तियाँ विषम कर दी हैं, मानो उसमें झुर्रियाँ पड़ गयी हों। [पृष्ठ ३]

जिस प्रकार धरधराहट के साथ चलती हुई रेलगाड़ी के यात्री की नींद

गाड़ी के रुकते ही उचट जाती है उसी तरह इस शान्ति में मेरे मन की शान्ति भंग हो रही थी। [पृष्ठ ९०]

चलती हुई पिचकारी के ऊपरी रंध्र को सहसा हथेली से दबा देने पर जिस तरह इधर-उधर की अनजान संधियों से जल ज़ोर के साथ निकल पड़ता है, उसी तरह आज ज़रा-ज़रा-सी बात पर उनका आनन्द फूटा पड़ता था।

[पृष्ठ ३]

इस प्रकार उनमें का कवि उनके कहानीकार के पीछे से कभी-कभी झाँकता हुआ दिखाई देता है। परन्तु कवि कहानीकार पर कभी हावी नही होता। बल्कि कहानीकार ने जरूर उनके कवि को कई बार पछाड दिया है।

कथोपकथन

सियारामजी अपनी कहानियो मे कही-कही कथोपकथन चिह्न ("—") नही लगाते फिर भी जहाॅ-जहाँ सवाद का प्रयोग करते है, वह पर्याप्त नाट्यात्मक होता है। अन्यथा इतिवृत्त से ही काम चला लेते है जिनमें अप्रत्यक्ष कथन ही अधिक होता है, जैसे—

१ शंकर—प्रस्तर-प्रसूते, मै कहता हूँ, भीतर बहुत कुछ है। तुम स्वयं देख लो न।

पार्वती—मैं प्रस्तर-प्रसूता हूँ, मेरी बुद्धि ही कितनी। [मानुषी, पृष्ठ ४]

२. उसका प्रश्न था—कवि-कर्म की सार्थकता मेरे मन मे कहाॅ है ?

मैने बताया—प्रेम मे।

अपने प्रेम को स्पष्ट कीजिए, तभी समझ मे आयेगा। क्या किसी लडकी को देखकर उसके पीछे चक्कर काटना, यह भी प्रेम है ?

'मै कोई कारण नही पाता कि इसे प्रेम न कहें।'

'तब मैं तुम्हारी असलियत समझ गया।' (प्रेत का पलायन, पृष्ठ ९२)

३. 'निकल जाओ यहाँ से!'

'मुझे निकालने वाले तुम कौन होते हो?'

'मैं—मैं राम हूँ!'

'ऐसे राम बहुत देखे है, कहो तो एक धक्के मे सात गुलाॅटे खिला दूँ!'

[रामलीला, पृष्ठ ४३]

४. बोली—कहाँ का रुपया, कैसा रुपया ?

कल मुझे मजूरी मिली थी।

तो मुझसे क्या कहते हो ? उस हरजाई से जाकर पूछो—जहाँ रात बिरमे थे।

'''जाते समय कह गयी—अब कभी इस घर मे पैर दूँ तो मरे मानस का मांस खाऊँ। [रुपये की समाप्ति, पृष्ठ ५१]

इन कथोपकथनो की चुस्ती पर विशेष टिप्पणी अनावश्यक है।

कथानक—अतर्क्यता की बात मै ऊपर कह चुका हूँ। कथानक की पूर्व रचना के अभाव मे कभी-कभी उनमे अनावश्यक विस्तार और बिखरन आ जाती है। और कही-कही अस्वाभाविकता भी। 'मानुषी' में 'काकी' और 'त्याग' जितने स्वाभाविक जान पडते है उतने 'कष्ट का प्रतिदान' या 'पथ में से' नही। वेश्या की गली मे भूल से गया व्यक्ति सिर की टोपी गिर पड़ने से, यह टोपी माँ के हाथों कते सूत से बनी है इसी कल्पना मात्र से, परिताप-विदग्ध लौट आता है। यह उत्कट मातृप्रेम का नमूना चाहे हो, परन्तु स्वाभाविक घटना नही जान पडती। वैसे माता को दिये हुए वचनो ने गाधीजी को विलायत के लालघर के आकर्षणो से अछूता रखा अवश्य था। परन्तु जब हम जनसाधारण की कहानी लिखते है, तब उस प्रत्येक मानव को गाधी मान लेना या उस हद तक पहुँचा देना कुशल कथाकारिता नही। उसी प्रकार से आचार्य केशव और उन्हे 'बाबा' कह जाने वाली 'राका' की प्रणय-कथा मे दाते बिएत्रिस का सा भाव-निर्माण कर 'प्रेत का पर्यटन' भी बहुत खीचा-तानी से बने कथानक पर आश्रित कथा जान पडती है। 'कष्ट का प्रतिदान' मे जो घटना है, वह स्वाभाविक होते हुए भी, कथा मे पताका प्रसंग लाने मे इतनी तीव्र और महत्त्वपूर्ण नही। यह दो-तीन कहानियाँ छोडकर अन्य कथाओ मे शिव पार्वती या चातक पुत्र का लाना कथानक में सौन्दर्य की ही अभिवृद्धि करता है। अतः कथा में स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता वस्तु के चुनाव मे उतनी नही जितनी कि उसके चमत्कारपूर्ण प्रयोग मे निहित है। कल्पना वैसे सभी मिथ्या है, परन्तु कथाकार उसे सत्यप्राय बनाकर प्रस्तुत करता है, इसी में उसकी विशेषता है। वैसे प्रत्येक कथाकार एक मनगढन्त बात ही तो कहता है, परन्तु उसमे गढन्त जितनी कम जान पडे, उतनी ही कथा सबके मन की हो जाती है। सियारामजी के अधिकाश कथानक सामाजिक परिपार्श्व मे वैयक्तिक अनुताप के कथानक ही है।

सामाजिक व्यंग—अपनी कहानियो मे, वर्णनो मे, उपमानों मे वे मीठी चुटकियाँ वर्तमान समाज पर अवश्य लेते जाते है। उनका व्यग विदारक नही होता, परन्तु अचूक और कुरेदने वाला अवश्य होता है।

'म्युनिसिपैलिटी की दरिद्र लालटेने अपने ऊपर अन्धकार का 'ग्लोब' चढाकर टिमटिमा रही थी।' [पृष्ठ ६६]

या

'कठोर से कठोर मिल-मैनेजर मजदूरो से जितना काम लेता है, अपने शरीर से वह उससे भी अधिक परिश्रम लेती ।' (पृष्ठ १६)

या

"यात्रियो मे देश की समस्याओ पर गम्भीर विचार हो रहे थे । न जाने कितने प्रस्ताव-उपप्रस्ताव उपस्थित किये जा चुके थे, कितने ही नेताओ पर पुष्पवृष्टि हो चुकी थी और कितनो ही की नेतागिरी की सनद जब्त । स्वराज्य-आन्दोलन के सम्बन्ध मे वाद-विवाद का रूप उग्र हो उठा । स्वराज्य का विरोध जिस तेजी से हो रहा था, उसे देखकर रामनारायण को आनन्दित ही होना चाहिए था । देश के भीतर इतना ओज और उत्साह सचित है, फिर निराशा का कार्य क्या ? पर वे उस उत्साह और ओज को परास्त करने में जुटे थे ।' (पृष्ठ ३३)

या

'आपने तो इस लोक के नरेन्द्रो को भी मात कर दिया, जिनके सामने प्रजा 'त्राहि-त्राहि' करती रहती है, परन्तु उनके कानो का मधु-संगीत किंचिन्मात्र भी कुठित नही होता । आज मालूम हो गया, इस लोक मे इतना द्वन्द्व क्यो है ।' (पृष्ठ ४)

या

'रामदेव 'टाट' कहकर मेरे खद्दर की हँसी उडाता था । खद्दर मेरे लिए वह चटपटा भोजन हो गया था, जो अपनी तीक्ष्णता के कारण आँखो मे आँसू लाता है, फिर भी जीभ से छोडा नही जाता । केवल खद्दर के कारण इधर-उधर की जो श्रद्धा प्राप्त थी, वह आसानी से नही छोडी जा सकती थी ।' (पृष्ठ ६८)

सुधारवाद—उनकी कहानियों मे सबसे उभरकर ऊपर उठने वाला प्रधान स्वर है समाज-सुधार की लालसा । जैसे शिवजी कहते है—'ऊबना विरक्ति-जन्य है और उत्कण्ठा आनन्द-जन्य' (पृष्ठ १०)—उसी प्रकार से समाज की विरक्तियो पर सियारामजी खीझते-झल्लाते या रीझते-फिसलते नही । न वे उससे आँखें मूँद लेना चाहते हैं । वे उन्हें जानते है और सोचते है कि मानव का व्यक्तिगत सुधार भीतर से जब तक न होगा समाज-सुधार ऊपर से लादना व्यर्थ है । इसी बात से उनकी कहानियाँ आशावाद से पूर्ण है ।

मनुष्य की भलमनसाहत पर उनका विश्वास अटूट है :

'यह ठीक है पक्के रँग मे रँगा हुआ काला कपडा सफेद नहीं हो सकता;

परन्तु यह भी बेठीक नही है कि पानी मे धोने से, और कुछ नही तो, उसका मैल जरूर छूट सकता है।' (पृष्ठ ७०)

एक कहानी का अन्त है .

'उसी दिन अच्छे चौखटे मे जड़कर महाबीरजी का चित्रपट वहाँ लटका दिया गया और अद्भुत आत्मा के कल्याण के लिए सेंदुर से चारो ओर महामत्र 'श्रीराम श्रीराम सीताराम' लिख दिया गया।' (पृष्ठ ६६)

आत्मालोचन का यह क्षण :

'मनुष्य अपने विषय मे जितना अज्ञान है उतना शायद अन्य किसी विषय मे नही है।' (पृष्ठ ८४)

और यह निश्चय की दृढता :

'कमजोरी के ऊपर से ही आक्रमण करना विजय की पहिली सीढ़ी है।' (पृष्ठ १८)

चातक चातक-पुत्रो से कहता है

'हमारी प्यास के साथ करोडो की प्यास है, और तृप्ति के साथ करोडो की तृप्ति। तुझसे अकेले तृप्त होते कैसे बनेगा ?' (पृष्ठ १००)

बुद्धन कहता है—'जिस तरह चातक अपने प्राण देकर भी मेघ के सिवा किसी दूसरे का जल लेने का व्रत नही तोडता, उसी तरह तू भी ईमानदारी की टेक न छोडना···सदा ऐसी ही मति रखना।'

बाल-स्वभाव-चित्रण—स्वय बाल-स्वभाव होने से सियारामजी के सबसे मधुर चरित्र है बालक। 'चुक्खू' स्वभाव चित्र मे भी उसके बाल्य का, सहपाठी होने का स्मरण उन्हे विशेष रूप से हो आता है।

'मेरे लिए ऐसे लडके का साथ अवाछित समझा जाता था। इसी से साँझ के समय जब एक दिन उसके साथ नदी की सैर को चल दिया तब मैंने घर मे न तो किसी की अनुमति ली और न इसके लिए किसी को सूचित कर देना ही आवश्यक समझा। ऊबड-खाबड रास्ते से नदी गॉव से डेढ कोस से कम दूर नहीं है। चुक्खू का कहना था—चलो अभी तो लौटते है। उसका अनुमान उसके स्कूल के हिसाब जैसा ही गलत निकला। बहुत देर अनुपस्थित रहने के कारण उस दिन मुझे कम नही पिटना पडा। दूसरे दिन अपना गाल, जो उस समय भी लाल रहा होगा, दिखाते हुए उससे मैंने कहा—तुम्हारे कारण ही कल मेरी ऐसी गति बनी ? उसने उत्तर दिया था—नदी के लिए मार-पीट भी न सह सके तो तुमसे बनेगा क्या ? नदी माता होती है !' (चूक्खू : प्रतीक २, पृष्ठ ६८)

इससे भी अधिक सजीव स्केच है काकी और रामलीला। बच्चे लडते है। फिर लडाई भूलकर सहज मित्र कैसे बन जाते है—'यह उतना ही स्वाभाविक था, जितना कुछ देर के लिए बादल मे छिपकर सूर्य पुन अपने ही ठिकाने पर चमकने लगे।' उस कहानी मे राम, लक्ष्मण, रावण, हनुमान और सीता के बालचरित्र बहुत ही प्यारे बन पडे है। इन बालको से बडो को बहुत कुछ सीखने योग्य है। मराठी लघुकथा-लेखक य० गो० जोशी ने 'पुनर्भेट' मे ऐसे कुछ बालकों का चित्रण किया है, या फिर रवीन्द्र की कुछ कहानियों मे जैसे 'एक था राजा—'।

प्रकृति-चित्रण—भावानुकूल और रसानुकूल शब्द-चित्रण सियारामजी की अपनी विशेषता है।

'रुपये की समाधि' कहानी मे एक चित्र है—'सावन का महीना था, हवा में शीतलता आ गयी थी। जहाँ तक दृष्टि जाती थी हरियाली और जल ही जल था। आकाश मे सुहावने बादल छाये हुए थे। कोकिल की 'कुहू-कुहू' और पपीहे की 'पी-पी' बार-बार कानो मे अमृत चुवा रही थी। मै आनन्द से भरा हुआ आगे बढा चला जा रहा था···बरसात मे तो सदा साँझ ही बनी रहती है। नदी बडी न थी। बरसात के कारण वह चढ आयी थी। धनियो की कृपा की तरह वह आठ पहर से अधिक चढी न रहती थी।' 'नदी किलोलें करती हुई बही जा रही थी। पानी अपने-आप से ही टकराता हुआ, उलझता हुआ, जो मन मे आता वह कहता हुआ जा रहा था। कभी इधर आघात करता, कभी उधर। मैंने देखा—पागल है तो यह। उसका यह पागलपन मुझे बहुत अच्छा मालूम हुआ!' (मानुषी : पृष्ठ ६३-६४)

और उनकी कहानी 'रामलीला' का यह एक ग्रामीण वर्णन पढिए·

'बाडे के पीछे आज जहाँ पक्का घर खडा है वहाँ उस समय एक लम्बी खपरैल थी। उसमे ढोर-डगर बँधते थे। खुले मे चारे की ऊँची गजी लगती थी और एक ओर वही कण्डे पाथे और सुखाये जाते थे।' (रामलीला . प्रतीक ७, पृष्ठ ४०)

वैसे आवश्यकता होने पर वे प्रकृति में भी मानव-भाव का आरोप करते है। यथा :

'नीम की स्निग्धता तथा सघनता ने चातक-पुत्रों को अपने निजी सहकार की याद दिला दी। विश्राम पाकर भी उसके जी मे एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। पकी निबोरी की तरह उस वेदना मे भी कुछ माधुर्य था।' (कुटीर : मानुषी, पृष्ठ १००)

'और यह वह रात थी, जो पूर्ण कलाधर को पूरा का पूरा निगलकर भी प्रकाश के लिए राक्षसीक्षुधा रखती है ।' (पृष्ठ ६६)

कथा और लघु निबन्ध के बीच—वस्तुत 'रामलीला' आदि स्केच पढकर यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इन्हे स्केच कहे या लघु निबन्ध या लघु कथा । 'झूठ-सच' नामक लेख-सग्रह मे सियारामजी के ऐसे कई प्रयोग है । वस्तुत 'झूठ-सच' स्वयमेव एक कहानी-सी ही है । आधुनिक कथा-साहित्य मे यह समस्या इसलिए और भी कठिन है कि पतजी के 'पाँच फूल' का पीताम्बर पानवाला अथवा महादेवी की 'अतीत के चल-चित्र' की बूढी नौकरानी या 'स्मृति की रेखाएँ' का चीनी कपडा बेचने वाला या 'प्रसादजी' और विनोद-शकर व्यास के ऐसे ही चरित्र-चित्र या स्केच—चाहे वे पेसिल मे बनाये हलके क्षण-चित्र हो, चाहे काली-सफेद मोटी-मोटी रेखाओ मे बनाये 'प्रोफाइल' या फिर निरे 'सिलहूट', इन्हे कहानी कहाँ तक कहा जाय ? जैनेन्द्र कुमार की 'एक टाइप', 'सकिया बुढिया', 'मास्टरजी' जैसी कहानियाँ रवीन्द्रनाथ के 'काबुली वाला' या 'सुधा' की भाँति ही एक स्पष्ट व्यक्ति-चित्र हमारे सामने उभारकर रख देती है । परन्तु उस व्यक्ति-चित्र या सस्मरण मे जब तक कोई ऐसी सार्वजनीनता नही होती कि मानव-स्वभाव के किसी विशेष मर्म पर वह अँगुली रखे, तब तक उसमे कहानीपन की सम्भावना कम है । विशेष नैतिक उद्देश्य से चुने जाने वाले चरित्र इसी प्रकार से एक पोस्टर का काम करते है, पोर्ट्रेट का नही । परन्तु कहानी की कला न पोस्टर है न पोर्ट्रेट—वह तो एक पूरा 'कम्पोजीशन' है, एक 'पैनेल' है, जिसमे अनेक आकृतियाँ होती है; उनकी रचना किसी पूर्व-कल्पित सयोजना से होती है । उन दृष्टियों से ये सम्पूर्ण कहानियाँ नही; केवल कथा-खण्ड मात्र है ।

कहानियो से प्राप्त होने वाला आनन्द—इसीलिए सियारामजी की कहानियाँ पढ़ते समय प्राप्त होने वाला आनन्द भी बहुत कुछ लघु निबन्ध को पढ़कर प्राप्त होने वाले आनन्द के समान होता है । वह विशुद्ध कलानन्द नही है । उसमे सात्त्विकता का आग्रह एक विशेष प्रकार के उदात्तीकरण का भी अनुबोध देता है । अत: रसज्ञ का कथा के साथ जो तादात्म्य होना चाहिए, उसका यहाँ अभाव है । रस की सहज-प्राप्ति—आत्म-विस्मृति-जन्य—यहाँ ईप्सित नही है । परन्तु जैसे काण्ट 'नैतिक इच्छा' से अपर दूसरी इच्छा को मानवी मानता ही नही था; उसी प्रकार से सियारामजी भी 'शिव' को ही 'सुन्दर' मानते हैं । शिलर जैसे सुन्दर मात्र को शिवत्व से आरोपित करता था; सियारामजी उससे उलटे शिवत्व को ही सुन्दर मानते हैं । गांधीवादी लेखको की यही सबसे

बड़ी विशेषता है; वे शिव से भिन्न सुन्दरता की कल्पना ही नही कर सकते। अत' मानवात्मा के वे ही स्थल उन्हे प्रिय और कला-विषय जान पड़ते है जो आनन्द के साथ-साथ उन्नयन की भी अनुप्रेरणा दे। जो मोद ही नही, बोध भी दे। हर्ष के सग उत्कर्ष की भी नियोजना करें। अत. जैसे पेय एक तो स्वादार्थ होता है, एक स्वास्थ्यार्थ—गाधीवादी कहानी-लेखक स्वाद को गौण और स्वास्थ्य को प्रधानता देता है। अत उसमे कभी-कभी पूर्व-परिचय के कारण नवीनता का अभाव भी मिल सकता है; तो कभी-कभी वस्तु-स्थिति पर एक विशेष प्रकार का आरोपण भी करना पड़ता है, जैसे केशव के गणिका-प्रेम के उज्ज्वल-पक्ष का 'प्रेत के पलायन' मे।

कला और नीति—वैसे कला और नीति का द्वन्द्व चिरंतन है। जैसे सभी श्रेष्ठ कला नीत्युपरि (एँ-मॉरल) होती है, वैसे ही सभी नीत्युपदेश कलात्मक नही हो सकते। वस्तुतः आचार-धर्म से बँधी हुई नीति के सदसद् के मूल्य बहुत कुछ मनुष्य और समाज की बाह्य संघटना पर समाश्रित होते है। यह सघटना परिस्थिति-विशेष से परिवर्तनशील है। परन्तु कला इतनी क्षण-क्षण रूप-परिवर्तिनी नटिनी नही। कलानन्द नीत्युपदेश की हेतुमत्ता से अधिक स्थायी और टिकाऊ होता है। उसका उद्दिष्ट जितना गहरा होता है उतने ही उसके साधन भी सूक्ष्म और तल-स्पर्शी होते है। इसलिए नीति का महत्त्व उपयोगिता के मूल्यो से आँका जाता है, कला मे उपयोगिता-अनुपयोगिता का मूल्य अपर्याप्त है। उदाहरणार्थ, सियारामजी की 'त्याग' कहानी ले ले। इसमे एक बालक भी बापू की आहार-हड़ताल की घटना से प्रभावित होकर अपनी दाखे मुन्नी को दे देता है। घटना छोटी-सी है, परन्तु इसमे निहित तत्त्व काफी दूर तक जाने वाला और गहरा है। कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय मे इसी बात को यो लिखा गया कि "इन्द्रिय और उनके अर्थों से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि या सत्त्व श्रेष्ठ है। सत्त्व से जगत् का बीजरूप महत् श्रेष्ठ है। महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है।" मूल सत्य यह है कि इन्द्रिय-भोग तो पशु मे भी होते है। मनुष्य जहाँ इस प्राकृतिक प्रवृत्ति पर यम-नियम से या शम-संयम से विजय प्राप्त करता है, वही मनुष्य बनता है। 'त्याग' का बाल-नायक ज्वरग्रस्त जयदेव दृढता से कहता है—'हाँ, मुन्नी को ही दे दो! वह नासमझ है, मैं सब समझता हूँ।' यह समझ ही मनुष्य की अपनी निधि है। उसे खोकर मनुष्य मे कला या नीति दोनों ही नही पनप सकते।

यही बात 'मानुषी' नामक कहानी की है। 'नारी' की नायिका जमुना की भाँति यहाँ श्यामा भी स्वामी-भक्ति के सामने रत्न-काचनादि ऐहिक मोहों को

व्यर्थ समझती है। यही उच्चतर मूल्य है। मानवता इन्ही से चलती है। ये ही ऐसी विभूतियाँ है जिन्हे भगवान् भी कुछ नही दे सकते। सियारामजी इसीलिए लिखते है 'मानुषी' मे पृष्ठ १७ पर—'जो वैर है, विरोध है, कुत्सित है—उसका जीवन इतना भी नही, जितना मनुष्य की क्षणभगुरता का। अमर वही है, जो प्रेम है, सत्य है, सुन्दर है। तभी मृत्यु की छाया मे इनका जीवन पहले से भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है।' भारतीय नारीत्व की इस निर्लोभ, अनसूया, अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्यय निष्ठा का इतना सुन्दर चित्रण अन्यत्र कम मिलता है।

प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ पढ़ते समय हमे बरबस तालस्ताय का स्मरण हो आता है। जैनेन्द्र की 'साधु की हठ' जाकिर हुसैन की 'अब्बूखाँ की बकरी' और सियारामजी की 'बैल की बिक्री' जैसी कहानियाँ पढकर वही तालस्ताय के निर्मल अन्त करण वाले चरित्रो, पापी के हृदय-परिवर्तन और अहिंसक मनो-संघर्ष वाली घटनाओ और सबसे ऊपर एक अडिग, अटूट आस्तिकपन की याद पुन हो आती है। 'बैल की बिक्री' जब विशाल भारत मे छपी थी, तभी से मैं उसे उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी मानता हूँ। हिन्दी की वह एक प्रतिनिधि कहानी है।

व्यक्तित्व और कला—गीता मे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का अन्तर १८वे अध्याय मे बताया गया है कि 'अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।' और 'यदा भूतपृथग्भावं एकस्थमनुपश्यति।' अर्थात् जो अनेकता मे एकता खोजे वह ज्ञान और जो एक मे भी पृथकत्व जाने वह विज्ञान। सश्लेषण-विश्लेषण यह दोनों वृत्तियाँ मानवी बुद्धि मे स्वभावत. लगी हुई है। उनका प्रयोग कौन कैसे करता है, इस पर कलाकार और नीतिकार का महत्त्व निर्भर करता है।

सियारामजी का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल, ग्राम-जीवन-प्रधान, निश्छल-निष्कपट, स्थितिशील, आस्थावान्, शारीरिक व्याधि-पीड़ित होने पर भी सतत जीवनेच्छा के आशावाद से भरा, आस्तिक्यपूर्ण है। उनकी कहानियों में भी उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप स्पष्ट लक्षित है। उनका चित्रपट विशद-व्यापक नही है, वे विलायती कथा-लेखको की भाँति, विशेषतः प्रकृतिवादी फ्रासीसी मोपासा आदि कलाकारो की तरह मानव-विकृतियो की तहो मे नहीं जाना चाहते। वे मानव मात्र को सतत, निरपवाद, भेदरहित करुणा और सहानुभूति बाँटते जाते है। इसमे उनकी उदार सवेदनशीलता और हार्दिक वस्तुनिष्ठता व्यक्त होती है। यही निर्वैयक्तिकता उनकी कला का प्राण है। वे भावक बनकर रस की चाशनी नही निर्माण करना चाहते, उन्हें अल्प माधुर्य से सन्तोष है, क्योकि वे जानते हैं कि जीवन के कटु-तिक्त अन्य भी अनेक रूप है। जीवन उनके लिए निरन्तर वेगवान्, हहराता हुआ प्रखर यन्त्र नही, परन्तु गाँव के ऊबड़-

खाबड पथ से चलने वाली, बीहड वन मे भी राह बनाती जाने वाली एक बैलगाडी है, जिसमे से वे शिशु-सुलभ आँखो से चहुँ ओर की चमत्कार-सृष्टि को कुतूहल से देखते जाते है और वर्डस्वर्थ की भाँति कहते है :

उन पर्वतों में उल्लास भरा था !
उन फव्वारों मे उल्लास भरा था !

यूरोप मे जबकि कहानी पो की बतायी हुई 'हल्की बौद्धिक गोलाबारी' वाली स्थिति मे आ गयी है और शब्द-बाहुल्य, अनासक्त, दीर्घकाय, अर्थगम्य की अपेक्षा छोटी, तीखी सहज बिखरने वाली, गिने-चुने शब्दो की कहानी अधिक पसन्द की जाती है, तब हमारे साहित्य मे भी, हम आशा करते है कि, सियारामजी और ऐसी कहानियाँ देगे जो कि भारतीय दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए भी, अधिक आधुनिक हो—बृहत्कथा और हितोपदेश की मंथर-गति में मँडराने वाले निरी सुजन-नीतिपाठ न बनी रहे ।

कहानीकार सियारामशरण गुप्त

[श्री विष्णु प्रभाकर]

श्री सियारामशरण गुप्त कवि के रूप मे प्रसिद्ध है परन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होने नाटक, निबन्ध तथा कथा सभी क्षेत्र मे अपना योगदान दिया है। वह योगदान इतना अकिचन नही है कि उसे भूलकर आगे बढा जा सके। उनके छोटे निबन्धो मे चिन्तन के अतिरिक्त एक अद्भुत आत्मीयता और सरलता है। आत्मीयता और सरलता सियारामशरण की कला की विशिष्टताएँ है और उनके कथा-साहित्य मे इन विशिष्टताओ की पूर्ण परिणति हुई है।

उनकी कला के ये गुण उनके जीवन के गुण है। उनकी कला मे उनका व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिध्वनित होता है। दमा उनका चिरसगी है। वे देखने में भोले, विनम्र और प्यार करने वाले जान पडते है। वे किसी को ठग सके ऐसी प्रतिभा उनके पास नही है, परन्तु उन्हे कोई ठग ले जाय ऐसे भोले भी वे नही है। वे जो कुछ है यह है कि उन्हे विश्वास है कि वे कुछ नही है। इसी नकारात्मक अस्तित्व मे उनका बड़प्पन है। वे अज्ञानी रहकर सीखने मे विश्वास करते है इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनम्र। इसीलिए उन्होने अपने मे डूबकर, वेदना की कूची से जो चित्र अकित किये है, उनमें पीड़ा है और कसक है परन्तु आरोप नही है, मात्र सकेत है जो सीधा हृदय मे जा पैठता है। यह अनुभूति की शक्ति है इसीलिए उनके साहित्य के अक्षर-अक्षर से हार्दिकता और मानवता की ध्वनि गूँजती है।

सियारामशरण का उदय द्विवेदी-युग में हुआ था। वह युग गद्य-साहित्य के प्रसार और परिष्कार का युग था—विशेषकर भाषा परिष्कार का। कला का योग उसे छायावाद-युग मे मिला और गाधी-युग मे मानवता तथा हार्दिकता ऐसे गुणो ने उसे पुष्ट किया। सियारामशरण ने कहानियाँ लगभग छायावाद-युग की समाप्ति और गाधी-युग के उदय के आस-पास लिखी है; इसलिए उनमे शिव अर्थात् नैतिकता का चित्रण है। इसके अतिरिक्त और जो कुछ है वह भी नैतिकता को ही पुष्ट करने के लिए है, परन्तु उनकी कला में वह मुखरता नहीं

है जो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा श्री प्रेमचन्द की कला मे है। वे तो शरत् की तरह मौन, करुण तथा पारिवारिक चित्रण मे विश्वास करते है। उन्होने जहाँ कही भी राष्ट्रीयता का सहारा लिया है वह मात्र साध्य तक पहुँचने के प्रयत्न के रूप मे है। उनका साध्य केवल विशुद्ध नैतिकता है और यही उनकी शाश्वत मानवता का मूलाधार है।

फिर भी सियारामशरण व्यक्तिवादी नही है। वे परिस्थिति का बडा सूक्ष्म अध्ययन और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते है; परन्तु वे समाजवादी भी नही है क्योकि उनकी कला प्रचलित अर्थों मे आक्रमणशील नही है। उनकी कला मे कोमलता और करुण-रस का परिपाक इतना प्रौढ है कि वे ऐसा आक्रमण कर ही नही सकते। उनकी कला मे जो आक्रमण है वह परिस्थिति के वास्तविक चित्रण मे से उभरता है। इसलिए उसका लक्ष्य व्यक्ति नही है और इसीलिए वह घृणा और प्रत्याक्रमण की भावना से अछूती है। प्राचीनता के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनो इनमे है, इसीलिए देश की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से पीड़ित जनता की दुर्दशा का चित्रण भी इनकी कहानियो में मिलता है। इन पर गाधी-विचारधारा का पूरा प्रभाव है। वे मानते है कि मनुष्य मूल मे बुरा नही है, परिस्थिति उसे अच्छा-बुरा बनाती है। उनके लिए 'मानवता' ही सत्य है परन्तु उनकी मानवता विकासशील है। कला को यदि मानवता के विकास मे योग देना है तो उसे शिव होना पडेगा, यह सियाराम-शरण की मान्यता है। फिर भी बुरे को बुराई से निकालकर अच्छाई मे दिखलाने की प्रवृत्ति जो प्रारम्भ मे प्रेमचन्द मे थी उनमे बहुत अधिक नहीं है। वे शरत् की भाँति बुराइयो के बीच मनुष्य की निर्मलता मे अधिक विश्वास करते जान पड़ते है।

(२)

सियारामशरण को ऊपर मूलत कवि कहा गया है। उन्होने कहानियाँ भी गद्य से पहले पद्य मे लिखी है। उनका एक ऐसा सग्रह **आर्द्रा** के नाम से प्रकाशित है जिसमे लगभग सन् १९२५ से १९२७ तक लिखी हुई पद्यात्मक कहानियाँ संकलित हैं। इस काल मे असहयोग आन्दोलन के अचानक बन्द हो जाने के कारण शैथिल्य और निराशा का दौर-दौरा था। घृणा, विद्वेष और आरोप-आक्रमण की भावना से नवोदित राष्ट्रीयता दूषित हो चुकी थी। ऐसे विषाक्त वातावरण में कवि ने ये करुण-कथाएँ लिखी थी। **हूक, प्रयाणोन्मुखी** और **चोर** आदि कथाएँ जहाँ व्यक्तिगत करुणा से ओत-प्रोत है वहाँ **नृशंस** (दहेज-प्रथा) **एक फूल की चाह** (अछूत-प्रथा) **अग्नि-परीक्षा** (अपहृत नारी) **डॉक्टर** (ऊँच-

नीच की भावना) और **खादी की चादर** (विधवा) आदि कहानियो मे सामाजिक कुरीतियो और उनसे उत्पन्न परिस्थितियो का जो चित्रण है, वह बडा सजीव और मार्मिक है। यद्यपि उनका धरातल व्यापक नही है तो भी उनका प्रभाव काफी सशक्त है। **खादी की चादर** की करुणा सग-दिल को भी पानी कर देने की शक्ति रखती है। वह एक तिरस्कृता विधवा नारी की कथा है जिसके कुटुम्बी धोखे से उसे तीर्थ मे छोड आये है और सहायता के अभाव मे जिसकी एक मात्र बच्ची चल बसी है। उस विधवा नारी की उपचेतना मे कलाकार ने जिस एकनिष्ठ और आरोपहीन करुणा का उद्रेक कराया है वह निश्चय ही अद्‌भुत है।

इन कहानियो का दृष्टिकोण विशुद्ध सुधारवादी है। पिछली शताब्दी के अन्त मे अनेक सुधार-आन्दोलनो के फलस्वरूप जो जागृति इस देश मे फैल रही थी उसी का प्रकाश इन कहानियो मे बिखरा पडा है, परन्तु यह सब होने पर भी इनमे उपदेश या प्रवचन का अभाव है। इसलिए कला प्रचारवादी होने से बच गयी है। इन कहानियो पर राष्ट्रीयता का प्रभाव भी है। **खादी की चादर** मे मात्र खादी का नाम है परन्तु **बन्दी** कहानी मे एक ऐसे क्रातिकारी का चित्रण है जो अपने साथियो का नाम बताने पर छोडा जा सकता है। उसका एक मित्र उसे माँ की व्यथा बताकर साथियो के नाम बताने पर राजी करना चाहता है परन्तु बन्दी माॅ की पीडा से कराहकर भी यही कहता है ·

> **आज रो रही है एक मेरी माॅ;**
> **कैसे मै रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?**
> **दुःख एक माँ का है असह्य मुझे इतना;**
> **—अन्य साथियों का गला;**
> **कैसे जान-बूझ के फँसा दूँ भला—**
> **होगा शत माँओं का कराल क्लेश कितना ?**

देखा जाय तो राष्ट्रीयता के मिस पर-दुख-कातरता के शाश्वत मानवीय गुण का चित्रण ही इस कहानी में हुआ है। **डाकू** कहानी मे हृदय-परिवर्तन के चित्रण के साथ शोषण-प्रवृत्ति पर गहरी चोट है। परन्तु वह चित्रण में से ही उभरी है। लेखक का वह लक्ष्य नही है। एक निर्धन किसान, महाजन ने जिसका सब कुछ कुर्क करवा लिया है, डाकू बनकर एक साहूकार के घर डाका डालते समय, एक ऐसी बालिका को देखता है जो माल बताने के लिए बार-बार पीटी जाने पर भी :

पीड़कों को ही दे निज भार
खड़ी थी हा! वह किसी प्रकार
सिकुड़कर छोटा कर निज गात
सह रही थी गुरुतर उत्पात।

इस बालिका को देखने पर डाकू को कुर्की के दिन की याद आ जाती है। उस दिन कुछ ऐसा ही दृश्य उसके घर मे दिखाई दिया था। यह दृश्य-सादृश्य डाकू के हृदय मे दबी हुई मानवता को जगा देता है और वह बालिका को छाती से चिपकाकर रो उठता है। जैसे उन आँसुओ में उसका कलुष धुल जाता है और इसके बाद वह जैसे आया था वैसे ही खाली हाथ लौट जाता है। 'पाथेय' की कहानियो मे, जो लगभग १९३३-३४ के आस-पास लिखी गयी है, अधिक गहराई और चिन्तन है। बगाल के अकाल के समय लिखी गयी कविता 'रासमणि' मे एक ऐसी किसान-कन्या की कथा है जो अकाल के कारण अपने जनपद से निकाल दी गयी है। वह एक बहुत प्रभावोत्पादक चित्र है।

सियारामशरण की पद्यात्मक कथाओ की सबसे बड़ी शक्ति करुणा और चित्रमयता है। परन्तु करुणा जहाँ उनकी शक्ति है वहाँ दुर्बलता भी है। बहुधा वह दृष्टि को धुँधला कर देती है।

(३)

पद्यात्मक-कथाओ के समान उनकी गद्य-कहानियो की सख्या भी बहुत नही है। आठ कहानियाँ 'मानुषी' मे सग्रहीत है। कुछ इधर-उधर पत्रो मे प्रकाशित है। उनकी एक प्रसिद्ध कहानी **झूठ-सच** इसी नाम के निबन्ध सग्रह में सकलित है तथा **चुक्खू, रामलीला** और **प्रेत का पलायन** 'प्रतीक' मे छपी है। 'मानुषी' की कहानियो का रचनाकाल सन् १९२३ से १९३० तक का है। उन पर गांधी विचारधारा का पूर्ण प्रभाव है। शैली की दृष्टि से वे आडम्बर-हीन तथा दृष्टिकोण के अनुसार शिव का प्रतिपादन करती है। लेखक इसी प्रवृत्ति को अमर तत्त्व मानता है। शेष अशिव प्रवृत्तियाँ मनुष्य की क्षणभंगुरता से भी अल्पजीवी है। **मानुषी** के मनोहरलाल के 'जीवनकाल मे लोगो ने उसके ऊपर पत्थर ही बरसाये थे। उसने झाड-पोछकर वे पत्थर अपने ही पास रख छोडे थे। प्रतिवाद के लिए आक्रमणकारियो के ही ऊपर न फेककर उसने उन सबको निशस्त्र और निस्सहाय कर दिया था।' और उनकी पत्नी श्यामा जीवन भर अमूल्य नगो को लोष्ठवत् समझती रही। उसके स्वामी बिना चिकित्सा के रोग मे घुल-घुलकर स्वर्गवासी हुए और पाँच हजार के नग वाली अँगूठी उनकी जेब मे ही पड़ी रही। वे उसका मूल्य नही जानते थे। श्यामा भी उनकी मृत्यु

के बाद जान पायी, पर जान कर भी स्वामी के साथ कपट करने वाले रत्नो से उसने कोई सम्बन्ध स्थापित करने से इन्कार कर दिया। वे घर की मिट्टी मे मामूली काँच की तरह उपेक्षित पडे रहे। जिसमे इतनी निस्पृहता हो उसे कोई अभाव नही हो सकता यह लेखक ने दिखाया है। प्रश्न उठता है—क्या ऐसा इस धरती पर सम्भव है ? लेखक उसे उत्तर देता है—कलाकार जो सम्भव है उसी को लक्ष्य करके नही चलता बल्कि जो होना चाहिए वह उसका अधिक इष्ट है। जो होना चाहिए इस पर मतभेद हो सकता है। सच पूछिए तो मत-भेद है यही पर। फिर भी कलाकार के लिए बाहर का मतभेद इतना बुरा नही है जितना उसके अपने अन्दर का। यदि वह स्वय संशय में रहेगा तो पाठक को क्या देगा ? सियारामशरण की कला मे यह सशय नही है। उनके उद्देश्य चाहे वे कैसे भी है, स्पष्ट है। हाँ, वे कही-कही इतने सजग हो उठते है कि कहानी-तत्त्व दब जाता है और कहानी कल्पना की प्राणहीन वस्तु बनकर रह जाती है। भला करो, भला होगा, इसी बात को लेकर **कष्ट का प्रतिदान** कहानी लिखी गयी है। उसमे स्वाभाविकता की कमी है। ऐसा लगता है जैसे लेखक आदर्श को लेकर कथानक का निर्माण कर रहा है और पात्रो से मन-चाही बाते कहलवा रहा है। परन्तु उसी सग्रह की कहानी **पथ में से** पात्र के आन्तरिक संघर्ष के कारण बडी प्राणवान् बन गयी है। नैतिकता दोनो मे है पर एक की नैतिकता लेखक के अन्दर से फूटी है, दूसरी की कहानी और उसके पात्र के अन्दर से। दूसरी कहानी मे लेखक कथानक की सचाई मे पूर्ण विश्वास करता जान पडता है तभी उसकी कला मे निखार और उसके पात्रो मे प्राण है। **बैल की बिक्री** एक और ऐसी ही कहानी है जिसका उद्देश्य वही है परन्तु घटना के वैचित्र्य और पात्रों के चरित्र-चित्रण ने उसे एक सफल कहानी बना दिया है। ऋण देने वाले महाजन की क्रूरता, किसान की बैल के प्रति ममता, किसान-पुत्र शिबू की उद्दण्डता और पिता के प्रति छिपा हुआ प्रेम, इन सबके स्वाभाविक और सरल चित्रण ने कथा में जान डाल दी है। **कोटर-कुटीर** एक ऐसी करुण कहानी है जिसमें घुमा-फिराकर ईमानदारी की महत्ता का उद्घोष किया गया है। लेकिन कला की दृष्टि से **काकी** इस सग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। वह शिशु के शैशव की भाँति मधुर और करुणा की तरह करुण है। बालक श्यामू की माँ ऊपर आकाश मे भगवान के पास चली गयी है। बालक उसे नीचे अपने पास बुलाना चाहता है। एक दिन पतग उड़ती देखकर वह सोचता है—माँ पतंग पकड़कर नीचे आ सकती है। बस पैसे चुराकर वह पतंग मँगवाता है और उस पर नाम लिखकर उड़ाने के प्रयत्न में है कि पिता

चोरी की खोज करते-करते उसे पकड लेते है और पीटते है परन्तु जब उन्हे रहस्य का पता लगता है तब वे सहसा हत-बुद्धि होकर बेटे को देखते ही रह जाते है। कहानी इतनी ही है परन्तु शैशव और स्नेह का जो सहज-स्वाभाविक और इसीलिए गहन और पुष्ट अध्ययन यह प्रस्तुत करती है वह बहुत सुन्दर है।

सियारामशरण की इन कहानियो पर तत्कालीन समाज-सुधार या राष्ट्रीय-जागृति का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही दिखाई देता। इनमे मानव के शाश्वत कहे जाने वाले गुणो की चर्चा है। **काकी** को छोडकर सब आदर्शवादी कहानियाँ है। इन कहानियो के अधिकाश नभचारी पात्रो से हम व्यापक जन-समुदाय के मानस को नही समझ पाते। वातावरण की दृष्टि से भी लेखक का क्षेत्र सीमित है। इसका कारण यह है कि इन कहानियो के रचनाकाल तक उनकी दृष्टि यथार्थ की दुनिया पर पूरी तरह नही जा पायी थी। उनमे जो दर्द है वह भी प्रेम से अधिक आदर पैदा करता है। **मानुषी** की श्यामा को पाठक प्रणाम कर सकता है। **कोटर-कुटीर** के गोकुल के सामने, आयु में छोटा होने पर भी, मस्तक नवा देता है परन्तु वह उनको अपना नही समझ पाता। हाँ, **बैल की बिक्री** के शिबू माते को आदर के साथ पाठक प्रेम भी करता है क्योकि उसमे अधिक स्वाभाविकता है। **काकी** के श्यामू को तो बार-बार गोद मे उठाकर छाती मे भर लेने को जी करता है। यही कहानी की सफलता है।

पद्यात्मक कथाओ की भाँति करुणा इन कहानियो मे भी है, परन्तु कहीं-कही वह आदर्श के भार से दबकर रह गयी है।

(४)

सियारामशरण जन्मजात प्रतिभा वाले कलाकारो की श्रेणी मे नही आते। उनका सतत विकास हुआ है। **आर्द्रा** की पद्यात्मक कथाओ पर सुधारवाद का प्रभाव है तो **मानुषी** की कहानियो मे गाधी-चिन्तन-धारा के आदर्शों का चित्रण है। इन कहानियो मे कला भी काफी पुष्ट हुई है। श्यामा और मनोहर जहाँ आदर्शों के साथ आदर्शमय है वहाँ शिबू माते एक साधारण मानव-चरित्र है जो ससार के साथ गिरता-उठता और हँसता-खेलता है। वह आदर्शवाद से आगे मानवतावाद का प्रतीक है।

सियारामशरण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, समाजवादी नही हैं पर मानवतावादी होने के कारण वे मानवता को नष्ट करने वाली परिस्थितियो का चित्रण करते है। उनकी कला में वर्ग-सघर्ष नही है परन्तु वर्ग-चेतना अवश्य है बेशक वह अनजाने ही है। यह बात **बैल की बिक्री** में स्पष्ट है। जब पाठक सर्वहारा वर्ग के किसान-पुत्र शिबू माते के साहस और ईमानदारी

से चकित होता है तो उसे मानवता के शत्रु महाजन ज्वालाप्रसाद से घृणा भी होती है। यह बात दूसरी है कि लेखक का प्रयत्न इस घृणा को चित्रित करना न हो परन्तु एक की महत्ता दूसरे की लघुता बन जाती है।

सियारामशरण की इधर की कहानियो में यह तत्त्व और उभरा है। यद्यपि पुराना आदर्शवाद धुँधला होता जान पडता है फिर भी उसमे समाजवाद का वर्ग-सघर्ष नही है बल्कि मानवता को लेकर जीवन की ट्रेजेडी के चित्र अकित है। **चुक्खू** उनकी हाल की रचना है। (प्रतीक . सख्या २, पावस, १९४६ मे प्रकाशित)। उसमे **चुक्खू** कोई एक व्यक्ति न रहकर समूह का एक अग-मात्र है। लेखक ने स्वय लिखा है—"आज के अक मे प्रकाशित मृतको की सख्या आतक उपजाने वाली है। उसमे नाम और पता किसी का नही है। न मनुष्यो का न चूहो का फिर भी मुझे पता है कि उस बडी संख्या मे एक का नाम चुक्खू है।" वह उस सर्वहारा वर्ग का प्राणी है जिसका व्यापारी-वर्ग सदा शोषण किया करता है लेकिन वह है कि शोषण के प्रति विद्रोह कर ही नही पाता। उसके शोषक (पुराना सहपाठी, आज का व्यापारी) के शब्दो मे वह "चालाक है फिर भी सच बात कहनी पडेगी ऐसा भी नही है कि ईमानदार न हो। कल की ही बात है मेरी दूकान मे एक चूहा मरा पाया गया। पुराना नौकर उठाकर फेकने मे आनाकानी कर रहा था तो बिगड पडा। बोला—तुम बेईमान हो, निकल जाओ, मै अकेला दूकान सँभाल लूँगा और तब उसने स्वयं ही चूहे की पूँछ पकडकर उसे नाली मे फेक दिया·· ···चुक्खू के विश्वास दिलाने पर ही मै यहाँ आया हूँ। आने लगा तो उसके आँसू आ गये थे। हाथ जोडकर उसने प्रार्थना सी की और कहा—"भगवान्! तुम्हे फला-फूला रखे।" आँसू-वाँसू मुझे नही आते परन्तु उस समय न जाने क्या हुआ कि मेरा भी जी भर आया। **नौकर होने पर भी अपने बचपन का साथी तो है।**"

इस अन्तिम पक्ति से क्या पाठक का दिल तडप नही उठेगा? यह सिया-रामशरण का व्यंग है। इसमे कडवाहट नही है पर मर्म को छेदने की शक्ति अवश्य है। चुक्खू को बचपन का साथी मानने वाला महाजन ही उसे प्लेग के मुँह मे झोककर स्वयं भाग आया है। वह तो महाजन था, उसे तो दूकान की रक्षा करने वाला मिलना चाहिए। बचपन का साथी हो या कोई और। सब बराबर है। कोई साथी का अधिकार लेकर उसके कार्य मे बाधा कैसे दे सकता है। इसलिए जब चुक्खू चल बसा तो महाजन को दूसरे चुक्खू की चिन्ता हुई: "कल के मरने वाले चूहो और मनुष्यो में एक का नाम चुक्खू है। उस टीन के नीचे छप्पर वाली पिंजड़े जैसी दूकान के लिए अब दूसरा चुक्खू चाहिए।"

लेखक ने इससे अधिक कुछ नही लिखा। वह यहाँ भी वर्ग-सघर्ष पैदा करना नही चाहता। वह तो मानवता को कलकित करने वाली परिस्थितियो का चित्रण करना चाहता है। प्रगतिशील का तर्क है। यही परिस्थितियाँ तो वर्ग-सघर्ष पैदा करती है। यहाँ तक दोनो एक है, भिन्नता आगे आती है। कुछ भी हो इसमे सन्देह नही इस यथार्थ चित्रण ने **चुक्खू** मे एक गहरा तीखापन भर दिया है। उस तीखेपन मे हार्दिकता का भी अभाव नही है। कोई ऐसी अनावश्यक बात नही है जो कहानी की मार्मिकता एव प्रभावोत्पादकता को नष्ट करती हो। यह कहानी उनकी दूसरी कहानियो से एक और बात मे भिन्न है कि इसमे कोई नैतिक सन्देश देने का प्रयत्न नही किया गया है। यद्यपि चुक्खू का चित्रण एक आदर्शवादी के रूप मे हुआ है तो भी इसमे उस कला की उपासना है जो दलित मानवता की शक्ति बनकर शोषण के इस उद्घोष को चुनौती देती है कि चुक्खू मर गया, दूसरा चुक्खू चाहिए। दूसरा भी मर जाये पर शोषण की यह शाश्वत परम्परा रुकने वाली नही है।

मानवता के उपासक सियारामशरण दूसरे शाश्वत कलाकारो से एक बात मे भिन्न है—जबकि उन कलाकारो को युग की तत्कालीन परिस्थितियो ने तनिक भी प्रभावित नही किया, सियारामशरण उधर से नेत्र नही मूँद सके। बंगाल के अकाल के सम्बन्ध मे उनकी कविता 'रासमणि' की बात ऊपर आयी है। साम्प्रदायिकता के ताण्डव नृत्य के समय भी वे एक अकेले कलाकार थे जो प्रगतिवादियो की श्रेणी से बाहरी मानवता पर आये हुए उस संकट के विषय मे पाठक को चेतावनी देते रहे थे। इससे स्पष्ट है कि सियारामशरण की मानवता सवेदनशील है और साथ ही उनकी आस्तिकता इतनी दृढ़ है कि वे न तो हिन्दी के श्री सुमित्रानन्दन पन्त और बंगला के श्री बुद्धदेव बसु की भाँति प्रगतिशील माने जा सकेंगे और न फिर बाहर निकाले जा सकेंगे।

उनकी एक और कहानी है **झूठ-सच**। चुक्खू से बहुत पहले १९३७ मे वह लिखी गयी थी। वह उनके निबन्ध-सग्रह मे सग्रहीत है। सियारामशरण के निबन्ध 'पर्सनल एॅसे' की श्रेणी के है। लेखक के मन पर किसी घटना या परिस्थिति की जो प्रतिक्रिया होती है उसी का चित्रण उनमे होता है। 'झूठ-सच' ऐसी ही घटना की प्रतिक्रिया के स्वरूप लिखी गयी है। आदर्श और उद्देश्य की घोषणा उसमे नही है लेकिन उसमे वे सारे तत्त्व है जो कहानी को कहानी बनाते है। इसमे चित्रण, चमत्कार, उत्सुकता सभी कुछ है और अन्त होते-होते पाठक के सामने एक ऐसा रहस्योद्घाटन होता है कि वह हत-बुद्धि-सा देखता रह जाता है। इस कहानी मे निम्नवर्ग का सुन्दर चित्रण है। 'रुपये

की समाधि' नामक एक पुरानी कहानी मे भी मजदूर-जीवन का अच्छा चित्रण हुआ है परन्तु झूठ-सच की सफलता इस चित्रण के कारण नही है। उसकी सफलता उसके व्यग मे है। कहानी कहने वाला जिन दो तथाकथित प्रेमियों को लेकर उपन्यास का प्लाट बना रहा था वही अन्त मे सगे भाई-बहन निकले। बहन शराबी और चोर पति के अत्याचार से पीडित है और भाई उसकी सहायता करना चाहता है पर बहन की पति-भक्ति के कारण कुछ कर नही पाता। कहानी मे जहाँ आश्चर्य है वहाँ टीम भी कम नही है। यह कल्पनाओ मे मस्त रहने वालो पर एक बहुत बडा व्यंग है।

(५)

सियारामशरण की इधर की कहानियो मे अभिव्यक्ति अधिक है और नैतिक सन्देश देने की भावना कम। इसका कारण उनका यथार्थ चित्रण है। चित्रण जब सच्चा होता है तो लेखक को बोलने की आवश्यकता नही रहती। कलाकार और प्रचारक का यही अन्तर है। सियारामशरण प्रचारक के सरल पर अप्रिय कार्य से बहुत आगे है। उनका मार्ग कलाकार का वह मार्ग है जो दुष्कर होने पर भी प्रिय और प्रभावशाली है।

सियारामशरण के पात्र विद्रोही नही है। वे न तो समाज को छिन्न-भिन्न करने का क्रान्त स्वर उठाते है और न उसका पुनर्निर्माण करने की प्रतिज्ञा करते दिखाई देते है। **शिबू माते** भी जब परिस्थिति का डटकर सामना करता है तो वह महाजन का नाश करने या उसका सुधार करने की भावना से नहीं करता। उसके मन में तो पिता का ऋण चुकाने की भावना है। **मानुषी** के **'मनोहरलाल'** और **'श्यामा'** के विद्रोह का लक्ष्य अपना ही व्यक्तित्व है। **'चुक्खू'** तो बलिदान में गद्‌गद् होता है। बिना गिला-शिकवा किये वह मुसीबतें उठाता है और अन्त मे प्राण तक दे देता है। **कोटर-कुटीर** का पक्षी चातक विद्रोह के कारण ही पराजित होता है। हाँ, झूठ-सच में **काशीराम** अपने अत्याचारी बहनोई का गला घोंटने की बात कहता है, पर यह भावना भी निराशा से उत्पन्न हुई है। इसका कारण वही है कि इन कहानियो में जिन समस्याओ की चर्चा है वे प्रायः कोई तात्कालिक महत्त्व नही रखती। उन्होंने सभी समस्याओ का अध्ययन मानव-मूल्यों के प्रकाश में किया है। वे आरोप और आक्रमण में विश्वास नहीं करते। 'अपने आपको सुधारो समाज सुधरेगा' यही उनका मन्तव्य है। इस दृष्टि से **मानवी** के पात्र जो परिस्थितियों के सामने झुकते जान पडते हैं बडे शक्तिशाली है। वे अपने आदर्शों के प्रहरी के

टेकनीक की दृष्टि से प्राय. सभी कहानियाँ सफल हैं। उनका पहला गुण है ईमानदारी, जो स्वाभाविक चित्रण के कारण पाठक को अभिभूत कर लेती है। व्यर्थाडम्बर का अभाव, उद्देश्य की स्पष्टता और आन्तरिक संघर्ष के कारण रोचकता और उत्सुकता उनमे बनी रहती है। उनके चित्रण और वर्णन मे आत्मीयता है। चित्रमयता उनकी कला की विशिष्टता है। घटना या व्यक्ति सभी का वे ऐसा चित्र उतारते है कि भुलाये नही भूलता। चुक्खू को ही देखिए—"देखा नंगे सिर और नंगे पैर कोई व्यक्ति नमस्कार कर रहा है। सिर पर बडे-बड़े और रूखे केश, दाढ़ी में काली और सफेद सुइयों की नोक जैसे बाहर निकले हुए बाल, माथे पर चन्दन का त्रिपुण्ड, वस्त्रों मे बिना साबुन के पछाडा हुआ कुरता, कधे पर एक मैला पटका और कमर मे फटी-पुरानी धोती,—बस यही उसकी वेश-भूषा थी। सहसा समझ न सका कि कौन है। चेहरे से किसी न किसी अत्यन्त घनिष्ठ जन के मिल जाने की प्रसन्नता प्रकट हो रही थी। मैंने हाथ जोड़ लिये और स्वय भी मुँह पर प्रसन्नता लाने का प्रयत्न किया। चलते हुए ताँगे के कारण उस भद्दी स्थिति से बच गया जिसमे किसी न किसी प्रकार यह कहना ही पड़ता कि पहचाना नही।" बेशक कहानी कहने वाले सज्जन उसे भूल गये होगे पर पाठक न तो इस व्यक्ति को भूल सकता है न इस स्थिति को। और व्यक्ति क्यो? सियारामशरण एक घर का वर्णन करते है :

तेल की कर नीचे तक कीच, एक आले के बीचोबीच,
जल रहा था जो मन्द प्रदीप, उसे उसकाया पहुँच समीप;
और फिर देखी मैंने पौर; लिपी थी गोबर से सब ठौर।
धोतियों के थानों के चित्र, भीत पर चिपके थे सुविचित्र।
अलगनी के ऊपर कुछ म्लान, सूखते थे गीले परिधान।
अँगीठी करके धूम्रोद्गार, जनाती थी अपने में सार।
वहीं रखा था एक तुरंग, काठ का, सुन्दर शोभन रंग।
अरे, किसने करुणा के साथ, फेरकर तुझ पर कोमल हाथ।
दिया है यह रोटी का कौर, यहाँ तेरे मुँह में! यह और।
धर दिया हुक्का भी तो पास, कि खा चुकने पर मुँह का ग्रास।
करेगा अभी धूम्र भी पान! जड़ों को भी ममत्व ला दान।
अरे तो क्या करुणा का लेश, कहीं है कुछ-कुछ अब भी शेष।

इस चित्र में छन्दो का संगीत बेशक नही है पर परिस्थिति, यथार्थता और कोमलता का चित्रण पाठक को मोह लेने के लिए यथेष्ट है और इसके पीछे जो किसी शिशु का मधुर शैशव उभर उठा है वह और भी प्रिय है। ऐसे और अनेक सुन्दर चित्र इन कहानियों मे स्थान-स्थान पर मिलेगे जो अनूठी उपमाओ के कारण और भी निखर उठे है। (१) जिस गीली लकड़ी के सिरे पर आग

होती है और दूसरे सिरे से पानी रिसता है उसी जैसी उसकी अवस्था थी। (२) म्यूनिसिपैलिटी की लालटेने अपने ऊपर अन्धकार का ग्लोब चढाकर टिमटिमा रही थी। (३) अनुमान हमारे कान के दूरबीन है। (४) परन्तु प्रतिद्वन्द्वी न होने से आग लगी अकेली लकडी की भाँति अपने आप दग्ध होकर शान्त हो जाना पडा। और (५) पकी निबोरी की तरह उस वेदना मे भी कुछ माधुर्य था। ऐसी उपमाओ मे जहाँ चित्रमयता और सूझ है वहाँ पाठक इन व्यगोक्तियो की शक्ति का अनुभव किये बिना भी नही रह सकता : (१) जीर्ण-शीर्ण दीवारे रोशनदान होने की साध दरारो के "दत्तक" से पूरी किया चाहती थी। (२) खेती के पौधे अकाल वृद्ध होकर असमय मे ही मुरझा रहे थे परन्तु महाजनो की फसल का हाल ऐसा न था। बादल ज्यो-ज्यो खिचते उनकी खेती मे त्यो-त्यो नये-नये अकुर निकलते थे। (३) ब्राँच एक नही दस खुलेगी किन्तु हेडआफिस इसी छप्पर मे रहेगा। (४) जिस तरह बैकुण्ठ-बिहारी भगवान की प्रस्तर मूर्त्ति बनाने की व्यवस्था करके उनकी अर्चा घर-घर सुलभ कर दी गयी है उसी तरह ईश्वर के अंश-स्वरूप नराधिप की सेवा करने के लिए जगह-जगह जमीदार प्रतिष्ठित किये जाते है।—सियारामशरण साधारणतया हास्य रस का प्रयोग नही करते, यह उनकी एक बडी कमी है। परन्तु इन उक्तियो मे व्यंग के साथ दबा हुआ हास्य भी है (१) पण्डित ने जन्मकुण्डली मे लिखा था पाण्डेय चतुरानन प्रसाद शर्मा। यह नाम स्वय चुक्खू के लिए अपना न रहकर मँगनी लिया जैसा हो चुका था। (२) एक चमार आसामी ने मुफ्त मे जूते बनाकर कुछ दिन के लिए उससे छुट्टी पाने का वचन लिया था। उन जूतो ने रामधन को चलने-फिरने से ही कुछ दिन के लिए छुट्टी देकर अपने निर्माता का लेन-देन बराबर कर देना चाहा।

सियारामशरण के वर्णन मे आन्तरिक विश्लेपण की प्रमुखता है और शैली पर चिन्तन का भार, परन्तु फिर भी कलाकार प्रायः मौन रहता है, उसके पात्र ही बोलते है। अन्त होते-होते तो पाठक कलाकार के अस्तित्व को भूल जाता है और पात्रो से तादात्म्य-भाव स्थापित कर लेता है। यह कलाकार की एक बड़ी सफलता है। कहानी के पात्रो को समझकर ही पाठक उनके ससार को समझ सकता है। इसका कारण यह है कि लेखक अन्त मे उपदेश देने या टिप्पणी करने नही रुकता। "झूठ-सच" के अन्त मे जब इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि रधिया काशीराम की भगाई हुई प्रेमिका न होकर दुखिया बहन है तो कथाकार बस इतना ही कहता है—"रधिया तुम्हारी बहिन है" और उसकी आँखो मे आँसू भर आते है। कोई और लेखक होता तो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण

करता या न करता, धरती और आकाश को अवश्य कम्पायमान कर देता। **काकी, चुक्खू, बैल की बिक्री** इस दृष्टि से बडी सफल कहानियाँ है। **लेकिन पथ में से** जैसी सुन्दर कहानी इस अन्त से वंचित रह गयी है।

सियारामशरण की भाषा मे चुलबुलापन, अलंकरण और कृत्रिमता नही है। वह सरल, सुव्यवस्थित, प्रौढ़ और मन्थरगति से बहने वाली है। प्रारम्भिक कहानियो मे दग्धीभूत, गरीयसी, और महीयसी, ऐसे शब्दो के प्रयोग के कारण कुछ दुरूहता आ गयी है परन्तु इधर वे गायब हो चुके है, इसीलिए वर्णन में प्रवाह है। "प्रेत का पलायन" कहानी मे विषय के अनुरूप कवित्व और माधुर्य का समावेश भी हुआ है। "उसके जूड़े की बकुलमाला का यह सौरभ यहाँ रात के अन्धकार मे महक उठा है।" "मालूम हुआ, इसका नाम राका है। जिसने उसे यह नाम दिया होगा उसकी प्रशंसा करता हूँ। इसके आने से सचमुच ही पूरा गृह आलोकित हो उठा है।" "ये फूल किस लिए राका ? तुम जैसी मदार-मंजरी के सामने तुम्हारे ये फूल मुझे बहुत दयनीय जान पडते है। इन्हे चुन लाने मे समय का अपव्यय ही हुआ समझो।" "राका का आगमन दिन मे असामयिक है, रात्रि मे ही उसका माधुर्य निखरता है। किन्तु कुछ हो, तुम्हारे आने से आज का प्रभात सार्थक हुआ।"

और अब अन्त मे फिर प्रारम्भ की बात दुहरा दे कि श्री सियारामशरण की कला मे सरलता है, हार्दिकता है और तन्मयता है। निस्सन्देह ये कहानियाँ मनोरंजन के लिए नही लिखी गयी है। इनमे समस्याएँ है, इसलिए इनकी उपादेयता स्पष्ट है पर साथ ही यह भी सच है कि कलाकार का उद्देश्य प्रचार करना नही है, इसलिए उनमें प्रचारक की मुखरता नही है, कलाकार का मौन है। उनकी शक्ति क्रान्ति की शक्ति नही है। एक विनम्र साधक की शक्ति है। वह आगे बढ़ता है खोजने और पता लगाने के लिए, नाश और निर्माण के लिए नही। निर्माण का दावा वे नही करते इसलिए नाश करने की शक्ति भी उनमे नही है।

कहा गया है श्री सियारामशरण की प्रतिभा विकसित हुई है। विकास का जीते जी अन्त नहीं होता। इसलिए आगे अभी कला को और विकसित होना है। उनके शरीर की शक्ति भले ही क्षीण हो पर कला की शक्ति निरन्तर बढेगी। उनका अब तक का विकास इसका साक्षी है। वे वर्ग-सघर्ष को चित्रित करेंगे ऐसी आशा उनसे नही की जा सकती पर पीडित मानवता के चितेरे होने के कारण उनके चित्रो मे देवासुर-सघर्ष का तीखापन अवश्य उभरता चलेगा। और अटूट आशावादी होने के कारण उनकी कला का प्रभाव सदा स्वास्थ्यप्रद रहेगा।

इसी आशा के साथ इस आशावादी चिन्तक को हम प्रणाम करते है।

सियारामशरण के निबन्ध

[प्रो० गुलाबराय, एम० ए०]

गद्य को कवियो की कसौटी कहा गया है—'गद्यं कवीना निकष वदन्ति'। यह शायद इसीलिए कहा गया है कि जो लोग गद्य के शुष्क कलेवर मे भी कविता का रस बनाये रख सकते है वे ही सच्चे कवि कहे जाने के अधिकारी है। उनका कवित्व आकाराश्रित नही है वरन् आन्तरिक और हृदयगत है। यही रसरूप आत्मा गद्य को भी काव्यत्व प्रदान करती है। श्री सियारामशरणजी ऐसे ही कवियो मे से है जिन्होने अपनी लेखनी के जादू भरे स्पर्श से गद्य के लोहे को भी सोना बना दिया है।

गद्य का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप हमको निबन्धो मे मिलता है। गद्य अपने और रूपो मे तो माध्यम मात्र रहता है, उसका निजी और साहित्यिक रूप हमको निबन्धों मे मिलता है। निबन्धो की परिभाषा के सम्बन्ध मे आलोचको ने बहुत-कुछ उखाड-पछाड की है। उसने अपने विकास-क्रम मे कई रूप बदले है। मन के स्वच्छन्द, निर्बाध और अनियन्त्रित बहाव की अव्यवस्थित रचनाओ से लगाकर तर्क की लौह-शृखला में कसी शौकीन बाबू लोगो के ट्रंको में जमी हुई कपडो की सुव्यस्थित तहों की भाँति एक-दूसरे से सटी हुई विचारावलियो का उद्घाटन करने वाले समस्त शैली के निबन्ध तक सब निबन्ध के व्यापक रूप में आते है। किन्तु इन सब में दो विशेषताएँ रहती है जो निबन्ध को पुस्तको के अध्यायो से व्यावृत करती है। वे है स्वतःपूर्णता और निजीपन। निबन्ध चाहे वैयक्तिक हो, चाहे निर्वैयक्तिक उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप पूरी तौर से रहती है।

झूठ-सच के लेखो में यह वैयक्तिकता की छाप पूर्णरूपेण वर्तमान है।

निबन्ध संग्रह का नाम झूठ-सच एकदम एक सुखद हलकापन उत्पन्न कर देता है और गाम्भीर्य की विभीषिका को तुरन्त दूर भगा देता है। यह नाम पाठक मे कहानी सुनने का सा औत्सुक्य जागृत कर देता है। लेखों के छोटे-छोटे अटपटे शीर्षक, जैसे ऋणी, एक दिन, घोड़ाशाही, निज कवित्व, शुष्को वृक्ष', कवि की वेशभूषा, घूंघट मे, आदि एकदम मन को आकर्षित कर लेते

है और अपने अप्रत्याशित कवित्व-पूर्ण विवरणो द्वारा चित्त को रमाये रखते है। 'ऋणी' मे ऋण के अनेक रूप दिखाये गये है जिनसे साहु से साहु भी नही बच सकता है, 'एक दिन' मे विफल दिनो का साफल्य दिखाया है, 'घोड़ा-शाही' में उसका वर्तमान मशीन युग मे भी 'हॉर्स पावर' के आधार पर साम्राज्य अक्षुण्ण किया है। 'शुष्को वृक्षः' मे जनश्रुति के प्रतिकूल 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' में कर्णकटु अभिव्यक्ति करने वाले बिचारे अभागे कवि की पीठ ठोकी गयी है क्योकि उसने विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि गुप्तजी स्वय नीरस को भी सरस बनाने के अभ्यस्त है तथापि वे सिद्धान्ततः भाषा को विषयानुकूल बनाने के ही पक्ष मे है। हमारे साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी तो श्रुतिकटुता को वीर रस मे गुण माना है। लेकिन वह कवित्व-शून्य नही होना चाहिए। 'शुष्कं काष्ठं' में वह रस है या नहीं यह अतिरिक्त विवेचन का विषय है। 'कवि की वेशभूषा' मे स्वय खद्दरधारी होते हुए भी चीनांशुक को महत्ता दी है और उसका सम्बन्ध कविकुल-गुरु कालिदास से जोड़ दिया है, बातों ही बातो में अवध-सूर्य और राम के नाम के प्रति दुर्बलता-पूर्ण मोह के कारण बाबा तुलसीदासजी को उसे फटी कोपीन के बदले मे स्वीकार करने को तैयार कर लिया गया है। गुप्तजी रामभक्त होने के नाते रामभक्तो की कमज़ोरी से परिचित है। **'घूँघट मे'** शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों के सावरण रहने पर बडा सुन्दर व्यग्य है, किन्तु व्यंग्य की चोट पूरी कर उसको पुरुषों पर ही उतार दिया गया है। क्या हम लोग ही पूरी तौर से निरावरण हो सकते है? अपने घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र के असली स्वरूप के सम्बन्ध मे हम उतने ही अजानकार रहते है जितने कि उन घूँघट वाली स्त्रियों के जिनके कि हाथ-पैर के अतिरिक्त हम और कुछ नही देख पाते। इस प्रकार व्यग्य की चोट पर मरहम लग जाता है।

ऊपर के विवरण से यह न समझा जाय कि इन निबंधों में कोरा हास्य-विनोद और चमत्कार-प्रदर्शन ही है। मुंशी अजमेरीजी के सम्बन्ध में लिखे हुए **'मुशीजी'** जैसे वैयक्तिक निबन्ध में अगाध करुणा है और वह हिन्दू और मुसलमान दोनो ही के साम्प्रदायिकता के विषम ज्वर के लिए रामबाण औषधि का काम देगा। **'छुट्टी'** में भी करुणा का स्रोत उमड पड़ा है। **'साहित्य और राजनीति'** में साहित्यकार को राजनीतिज्ञ का सहायक मानते हुए भी उसकी स्वतन्त्रता को श्रृंखलित नही करना चाहते। वे लिखते है—'राजनीतिज्ञ स्वतन्त्रता का योद्धा है। स्वतन्त्रता का मूल्य उससे छिपा नही। साहित्यकार स्वतन्त्र-भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा।' जो लोग

साहित्यकार को ठोक-पीटकर प्रचारक बनाना चाहते है उनके लिए यह नेत्रो-न्मीलक होगा ।

सियारामशरणजी इस युग की उपज है । इस युग ने अपूर्णताओं और सीमाओ को जो मान दिया है वह और किसी युग ने नही दिया था । इस युग के प्राणी को अपनी अपूर्णता पर गर्व है। गुप्तजी ने अपने **'अपूर्ण'**, **'कवि-चर्चा'** और **'नया संस्कार'** शीर्षक लेखो मे अपूर्ण को मान दिया है । उनके नीचे के वाक्य इस अपूर्ण की प्रतिष्ठा के द्योतक है :

इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है । जिन नववयस्कों की रसना और दन्तपंक्ति में बुढ़ापे का कीट नहीं लग गया, उन्हें कच्चे आम में भी पक्के रसाल से अधिक रस मिलता है ।

इसी मानवता मे भारतीय सतोष की वृत्ति भी छिपी हुई है। देखिए :

आनन्द देवता के उदार हाथों से जब जो मिले उसी से सन्तुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है । नहीं तो हम में और सिर फोड़कर धरना देने वाले मंगतों में अन्तर ही क्या रहा ।

और देखिए :

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए । छोटा ही बड़ा होने का आधार है ।

ऐसी सूक्तियाँ किसका उत्साहवर्द्धन नही करेगी ? मुझे तो अपनी अपूर्ण-ताओ के लिए विशेषकर नये सस्करणो की काट-छाँट मे बडा सन्तोष मिलता है । गुप्तजी ने काका कालेलकर को श्रेय देते हुए सुझाया है कि दुष्यन्त जैसे धीरललित नायक को अपनी प्रियतमा शकुन्तला के चित्र बनाने मे काट-छाँट की आवश्यकता पडी थी और इस आधार पर वे कहते है कि कालिदास को भी अपनी रचनाओ मे सशोधन की आवश्यकता पडी होगी । क्योंकि कवियो के बहुत से कथन आत्मकथात्मक होते है । इस बात मे मै अपने को कालिदास से बढ़ा-चढा मानने का गर्व रखता हूँ । 'घोड़ाशाही' मे कवि ने मशीन युग के प्रति गाधीवादी प्रतिक्रिया का बड़े ज़ोरदार शब्दो मे परिचय दिया है । देखिए पिछले आक्रमणकारियो और आज के मशीन युग के आक्रमणकारियों की तुलना करते हुए वे लिखते है :

आज का घोड़ा और घुड़सवार वैसा नहीं है । शरीर उसका लोहे का, प्राण उसका दानव का । कल्पना का दानव उसमें साकार हो उठा है । सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जायँ, तब भी क्या संख्या, बल और क्या बर्बरता किसी बात में आज के घोड़ों का मुकाबला नहीं कर सकते···

कितने देश, कितनी सेनाएँ, कितने जन-समूह उसके खुरों के नीचे पिसे है और पिसेंगे, इसका हिसाब नहीं।

इन निबन्धो मे विषय-प्रतिपादन की ओर झुकाव कम है। पाठको को आत्माभिव्यक्ति द्वारा अपने हृदय के रस मे मग्न करने की प्रवृत्ति अधिक है। लेखक अपनी बात मे चर्वणानन्द लेता हुआ दिखाई देता है। इस कारण एक ही बात को कई प्रकार से व्यक्त करने की ओर झुकाव है। इसके लिए रूपको और प्रतीको का सहारा लिया गया है। इनके कारण गद्य भी कवित्वमय हो जाता है। बहुत से स्थानो मे बिना रूपको के भी रस-वर्षा होने लगती है। 'छुट्टी' की नीचे की पक्तियो में करुण रस मूर्तिमान हो उठा है। देखिए .

वह गायों के लौटने का स्वर सुनाई पड़ता है। संध्या हो गयी है। थनो में दूध भरकर बच्चों की माताएँ दौड़ी आ रही हैं। मार्ग में गोधूलि फैल गयी है। अंधेरा छाने लगा है। बच्चे मदरसे से लौटकर आ गये हैं। घर-घर में संध्या के दीपक जाग उठे। सब कुछ हुआ, वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसकी पोथियों का बस्ता बँधा पड़ा है। मदरसे में किसी ने उसकी सुधि नहीं ली। अध्यापक उसे भूल गया है। भूली नहीं है बच्चे की बेचारी माता। उसके हृदय-पट पर अब भी वह अंकित रहेगा। वहाँ स्थान है, वहाँ से छुट्टी उसे नही मिल सकती।

इसमे करुण रस के सभी अंग वर्तमान है। बच्चा आलम्बन है उसका बस्ता उद्दीपन है। और सब चीजो का भाव बच्चे के अभाव को उग्र रूप से हमारे सम्मुख ले आता है। माता आश्रय है स्मृति और विषाद सचारी है। 'वहाँ स्थान है, वहाँ से छुट्टी उसे नही मिल सकती' इससे शोक स्थायी का स्थायित्व झलक रहा है। सध्या के शोकमय वातावरण को कई रूपों मे उपस्थित करने से उसकी कालिमा के स्तर और भी गहरे हो जाते है। इस गद्य खण्ड मे सुनार की सी हलकी चोटें है, अन्त में लुहार की भी एक बडी चोट है। यह वातावरण गुप्तजी की शैली का सुन्दर नमूना है। कुछ वर्ष हुए एक चीनी औषध विक्रेता का एक विज्ञापन निकला था, उसमे एक मनुष्य के मस्तिष्क में कील ठोकी जा रही थी। गुप्तजी के छोटे-छोटे वाक्य इसी तरह कील ठोकने का सा काम करते है (उदाहरण की बीभत्सता को सियारामशरणजी क्षमा करेंगे।)

गुप्तजी की विचारधारा प्रायः जीवन की किसी साधारण घटना से आरम्भ होती है। इसी घटना के प्रस्तर खण्ड से विचारधारा की जाह्नवी का स्रोत बह चलता है। एक अंधेरी रात मे पड़े-पड़े विवाहोत्सव में छुटाई हुई फुलझड़ी के साथ ही साथ हमको विचारों की फुलझड़ी के दर्शन होते हैं :

विवाह के उत्सव में आज की फुलझड़ी की यह क्रीड़ा करके मनुष्य ने अपनी निर्भयता का ही प्रचार किया है। उसने कहा—भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे-छोटे बिन्दुओं से उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रखी है, जिसका अस्तित्व प्रलय मे भी समाप्त नहीं होगा, जो अथाह है, दुर्लङ्घ्य है, सुविस्तीर्ण है। जहाँ हमारे प्राचीन कवि विस्फोट से भरे हुए इस जीवन-ज्वालामुखी के शिखर पर बैठे हुए मानव को जीवन की क्षण-भंगुरता का उपदेश दे उसमें निराशा का संचार कर गये, वहाँ मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य की अमर क्रीड़ा-वृत्ति का स्तवन कर आज का कवि हमारे हृदय में आशा का संचार करता है।

चिरायु हो हमारे ऐसे कवि जिन्होंने मृत्यु मे भी अमरता के दर्शन करके 'मृत्यो: मा अमृतं गमय' की प्रार्थना को जीवन मे चरितार्थ किया है।

सियारामशरण के निबन्ध

[श्री शिवनाथ, एम० ए०]

श्री सियारामशरण गुप्त जैसे वैष्णव साहित्यकार के सम्बन्ध मे लिखने तो बैठा हूँ, मगर हूँ बहुत ही भीत ! लगता है काम सामान्य आदमी से नही पड़ा है !! ऐसे आदमी से काम पड गया है जो पहले से ही हमे नालायक समझ बैठा है !!! कहता है :

"हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परन्तु इस अधूरे के लिए तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा।" [झूठ-सच, पृ० ५२—६७] यहाँ मै इतना ही कह सकता हूँ कि आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृपा से श्री सियारामशरण का 'झूठ-सच' मुझे पूरा ही पूरा मिल गया है, वह क्षतिग्रस्त नही है ! इस 'पूरे ही पूरे' 'पूर्ण चन्द्र' मे मै क्या देखूँगा यह तो बाद की बात है ! इस समय तो देख रहा हूँ कि 'झूठ-सच' के पृष्ठ श्वेत है और उन पर काले-काले अक्षर छपे है—वैसे ही जैसे चाँद की पीठ पर ज़रा काला-काला लगा है ! मैं श्री सियारामशरण से भीत हूँ, मगर वे मुझसे भीत नही, क्योकि संबुद्धि-सम्पन्न कविकुल-गुरु कालिदास धीरज धरने की बातें कह गये है—**एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।** डरने की बात क्या ? श्वेत और कृष्ण एक साथ युग-युग से है और रहेगे। केवल श्वेत-श्वेत तो, कहा जाता है, देवताओ मे होता है, मगर उनकी कालिमा उघरी हुई है ! मानव के प्रति उनका ईर्ष्या-द्वेष जग-विदित है ! वे 'देखि न सकहिं पराइ विभूती !' अस्तु ! साहित्य के क्षेत्र मे खतरा तो तब उत्पन्न होता है जब समीक्षक भ्रांतिवश सुफेद को काला और काले को सुफेद देख लेता है। मेरा चश्मा साफ है, अतः डर की बात नहीं !

श्री सियारामशरण ने अपने विषय में एक बात कही है, कही हँसी-हँसी में ही है, मगर कही है, अतः उल्लेख्य है—**"कल के सम्बन्ध में विचार घोर नास्तिकों जैसे नहीं, तो सन्देहवादियों जैसे तो निश्चय ही हैं ! मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिए—कल के उधार का खाता खोलने की गुंजाइश**

मुझे कहाँ ?" [झूठ-सच, पृ० ६२] बात हँसी-हँसी मे ही कही गयी है, इसलिए मै गम्भीर ढग से कुछ नही कहना चाहता—यद्यपि बात कहना गम्भीर ही चाहता हूँ, और वह यह कि जहाँ तक सच्चे निर्णय की बात है, उसे करता 'कल' ही है, 'आज' को चाहे जितना महत्त्व हम क्यो न दे। 'आज' के सामने चीजे इतनी निकट रहती है कि वह तटस्थतापूर्वक उनके सम्बन्ध मे निर्णय नहीं कर पाता। इसी कारण हम देखते है कि 'आज' जिन साहित्यकारों की धूम रहती है, 'कल' वे अपने अस्थायी तत्त्वो के कारण आँखों से ओझल हो जाते है। 'ऐसे ही 'आज' जिन्हे कोई नही पूछता, कल वे साहित्यकारो के सिरताज बनते है—अपने स्थायी तत्त्वो के कारण तुलसीदास, शेक्सपीयर, आदि साहित्यकारों को विश्व-साहित्यकार 'कल' ने ही बनाया, क्योकि सच्चा निर्णायक 'कल' होता है। 'कल' की परिधि मे आकर अतात्त्विकता झड जाती है और कुछ सार रहा तो वही शेष रह जाता है, इस प्रकार साहित्य वा साहित्यकार का असली मूल्याकन होता है। अत 'मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिए,' यह कहने से लाभ क्या ? सच्चा मूल्याकन तो कल ही करेगा। फिर, सियारामशरण जैसे प्राणवत साहित्यकार ऐसा क्यों सोचे। वे बहुत कम लिख पाये, यह ठीक, मगर जो लिखा है और जितने ढंगों से लिखा है वह कम महत्त्वपूर्ण नही है। जीवन और समाज के तत्त्वो को लेकर उन्हे साहित्य का जो रूप उन्होने दिया है वह काफी प्राणवत है। इस प्रकार रूप देने का क्रम अभी टूटा नही है। यद्यपि क्रम की गति मध्यम है। एक बार उन्होने कहा भी है . **"साहित्य की मिट्टी लेकर उसमें प्राण-संचार करने की बात कुछ इसी तरह आज भी मेरे मन में चल रही है। कह नहीं सकता, इसी तरह कब तक चलती रहेगी।"** (झूठ-सच, पृ० ६८)

(२)

श्री सियारामशरण गुप्त ने अपने विषय मे ये बाते स्वरचित निबन्धों में व्यक्त की है, अन्य वैयक्तिक बाते भी इनमें कही गयी है। इनमे बाल्यकाल की स्मृति, गुरुजनो के सस्मरण, यात्रा तथा अन्य व्यक्तियो, वस्तुओं के वर्णन, भावात्मक अभिव्यक्ति, वाग्विलास, जीवन, समाज तथा साहित्य-सम्बन्धी तथ्य चिन्तन, आदि-आदि भी निहित है। इन निबन्धो द्वारा श्री सियारामशरण ने अपने को अभिव्यक्त किया है। लगता है कि काव्य, उपन्यास और कहानी में आत्माभिव्यक्ति के लिए स्थान अथवा अवकाश मिलता न देख इस कार्य की सिद्धि के लिए वे निबन्ध रचना में संलग्न हुए। वैसे साहित्यकार स्वरचित साहित्य में किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त होता है। साहित्य साहित्यकार

की छाया है ही। मगर साहित्य के सभी रूपो वा अगो मे वह अपने को खुलकर अभिव्यक्त नही कर पाता। काव्य मे काव्यतत्त्व की सन्निहिति, कथा तथा नाटक मे पात्र और वस्तु की सम्यक् सयोजना तथा उनके सुलझाव, आलोचना मे आलोच्य की मीमासा पर ही विशेष दृष्टि रखने के कारण उनमे अपने खुले व्यक्तित्व और अपनी चितना साहित्यकार स्वतन्त्र तथा निस्संकोच रूप से नही व्यक्त कर पाता। साहित्य के एक अग निबन्ध मे इस प्रकार की पूरी स्वतत्रता, सुविधा तथा पूरा नि·सकोच रहता है। इसी कारण साहित्यकार अपनी वैयक्तिकता तथा चितना को प्रस्तुत करने के लिए निबन्ध को साधन के रूप मे ग्रहण करता है। श्री सियारामशरण ने भी ऐसा ही किया है। ऊपर इसका निर्देश हुआ है कि साहित्य के अन्य अगो की अपेक्षा निबन्ध मे आत्माभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक अवकाश रहता है। कहना तो यह चाहिए कि निबन्ध की रचना इसलिए होती ही है। खुली अभिव्यक्ति पर ही प्रधान दृष्टि होने के कारण निबन्धो में पाठक, श्रोता तथा निबन्धकार के बीच काफी सीधा व साक्षात् सम्बन्ध स्थापित होता हुआ दिखाई पडता है। काव्य, कथा, नाटक, आलोचना मे ऐसा साक्षात् दर्शन कम होता है, कही-कही तो नही भी हो पाता। इस प्रकार ज्ञात होता है कि निबन्ध के दो प्रधान तत्त्व हे एक निबन्धकार की वैयक्तिकता तथा चिंतना की उसमे अभिव्यक्ति तथा दूसरा उसके द्वारा श्रोता, पाठक और निबन्धकार मे साक्षात् सम्बन्ध स्थापन। खुली अभिव्यक्ति ही निबन्ध का प्रधान लक्ष्य होने के कारण निबन्ध की अभिव्यक्ति-पद्धति में भी प्राय. सीधापन देखा जाता है। विशुद्ध कोटि के निबन्ध मे अभिव्यक्ति की अनावश्यक वक्रता कम मिलेगी, क्योकि उसमे विचारो की अभिव्यक्ति ही प्रायश: करनी पडती है। इसी कारण निबन्ध प्रधानत: विचार-सकुल ही होते है। स्मरण रखने की बात है कि यहा मै आधुनिक विशुद्ध निबन्धों पर दृष्टि रखकर ही ये बातें कह रहा हूँ। वैसे साहित्य के अन्य अंगों के तत्त्व एक दूसरे मे किसी न किसी रूप में मिलते ही हे। निबन्ध मे भी काव्य, कथा, नाटक के तत्त्व प्रसंगत: अल्प रूप में आ जाते है, परन्तु उसमे प्रधानता विचारो की ही होती है, और इसमे इनका होना ही इसकी सार्थकता है।

(३)

श्री सियारामशरण गुप्त ने अपने निबन्ध मे जो चिन्तनाएँ व्यक्त की है उन्हे स्थूलत: तीन कोटियो मे रख सकते हैं—जीवन, समाज, और साहित्य की कोटियो में। जीवन, समाज तथा साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने यथाप्रसंग अनेक उपज्ञात चिंतनाएँ उपस्थित की हैं। यहाँ प्रधान-प्रधान चिंतनाएँ ही सम्मुख रखना हमारा

लक्ष्य है। निबन्धकार अपनी 'छत पर' अनेक वस्तुओ और घटनाओं को देखता, सुनता और स्मरण करता है। वह तारे और उनका टूटना देखता है; विवाह की शहनाई और उस अवसर के गीत सुनता है; विवाह के उल्लास—विशेष रूप से वर-वधू के—का स्मरण और उसकी कल्पना करता है; आदि, आदि। इन सबका निष्कर्ष वह यह निकालता है—[**"भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रो के सामने वह क्षुद्र से क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे-छोटे बिन्दुओं से ही उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रखी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा; जो अथाह है, दुर्लंघ्य है, सुविस्तीर्ण है।"**] (झूठ-सच, पृ० १७२) इस प्रकार श्री सियारामशरण ने जीवन को शाश्वत माना है। इसका अन्त कभी नही होता। ऐसे ही विचार उन्होने 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष' नामक निबन्ध मे भी सम्मुख रखे है। उन्होने जीवन को एक अटूट धारा के रूप मे ग्रहण किया है, जिसकी कभी समाप्ति नही। जीवन जाता है, तो वह आता भी है। ऐसी हालत मे उसके जाने की चिन्ता क्यों करे ? और, 'नयी खेप' के लिए स्थान भी खाली क्यो न करे ? [**"हमारा जीवन निरन्तर प्रवाहशील है। हम जानते हैं, इसी कारण वह इतना निर्मल है। हम डरें किस लिए कि वह गया। वह गया तो पीछे से और आ भी तो रहा है।"**] (झूठ-सच, पृ० ३३) अतः निबन्धकार ऐसे विज्ञान के प्रति आकृष्ट नही है जो 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष' की भी कर सकता है।

जीवन के प्रति यह एक धारामयी दृष्टि और तद्गत आशावाद युग-युग से अनेक सघर्षो को जीतते हुए आगे बढ़े चले आने वाले मानव की विजय-यात्रा की स्वीकृति है, जो किसी भी रूप मे अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा नकली नही है। यह स्वीकृति स्पष्टत. घोषणा करती है कि मानव कितना महान् है! उसने क्या नही किया है; और उसके किये द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि वह क्या नही कर सकता ? श्री सियारामशरण ने मानव-जीवन के प्रति जो विचार प्रकट किये है वे आधुनिक युग की चिन्तना-धारा की प्रधान लहरे हैं।

सिद्धान्ततः मानव-जीवन के प्रति इतनी आशामयी दृष्टि के साथ ही व्यवहारतः समाज मे गिरी, दलित मानवता को देख श्री सियारामशरण के हृदय को धक्का भी लगता है। ऐसी स्थिति मे वे इसके प्रति सहानुभूति तथा समाज के प्रति रोष भी प्रकट करते हुए देखे जाते है। 'हिमालय की झलक' में कुली की गिरी अवस्था देख कहते है [**"कपड़े कुलियों के शरीर पर थे, पर क्या कपड़े ही उन्हें कहना चाहिए ? किसी मरणासन्न वृद्ध को बालक कह सकें, तो उन**

चिथड़ों को भी हम कपड़े कह सकते हैं। 'बाबू, हम आपका सामान ले चलेंगे, हमें ले चलिए, हमें!'—उनकी इस कातर प्रार्थना में न जाने क्या बात थी कि जी काँप उठा। उसमें कातरता थी, उसमें धिक्कार था, उसमें भर्त्सना थी क्या नहीं था उसमें?"] (झूठ-सच, पृ० २२०)

श्री सियारामशरण ने समाज मे व्याप्त आधुनिक सभ्यता के दुष्परिणामो पर भी कडे छीटे मारे है। 'बहस की बात' नामक निबन्ध का मूल विषय है आधुनिक शिक्षा-दीक्षा द्वारा पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व सिद्ध करने की मनोवृत्ति। विश्वविद्यालयो की शिक्षा-दीक्षा तथा न्यायालयो की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे एक स्थान पर कहा है—[**"इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाण-पत्र के साथ वे (हमारे विश्वविद्यालय) हमे छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राजदरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये-नये आदर्श अथवा साँचे हैं।**] (झूठ-सच, पृष्ठ ३) निबन्धकार का यह समाज-दर्शन अयथार्थ नही है।

'अन्य भाषा का मोह' मे श्री सियारामशरण ने अंग्रेज़ो की नकल की हमारी मनोवृत्ति का निर्देश कर छीटे मारे है। वे कहते है कि हमने अंग्रेज़ों की भाषा सुनी, उनके समान नही बोल सके, उन्होंने कहा—'तुम हमारी भाषा समझ नही सकते।' ऐसा सुन हमने अपने मे हीनता का अनुभव किया, और इस प्रकार अंग्रेज़ी भाषा की ओर दौड़े। यह हमारी मानसिक पराजय थी, यही घातक हुई; तलवार वाली पराजय तो मामूली थी। हमने अंग्रेज़ बनने की खूब नकल की—मन से भी और वेशभूषा आदि से भी, यद्यपि कभी सफल नहीं हुए। हमारी योग्यता-अयोग्यता की पहचान अंग्रेज़ी बोलना ही रह गया। हमने अंग्रेज़ों के गुणो की ओर ध्यान नही दिया **"फिर भी हमारे शिक्षित ने किया क्या है---अंग्रेज का फोटोग्राफ और ग्रामोफोन अपने ऊपर लादकर वह समझ रहा है, हमने अंग्रेज को पा लिया!"**] (झूठ-सच, पृष्ठ ४४) भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों ने हमारी इस मनोवृत्ति पर खूब लिखा है। द्विवेदी युग के पुनरुत्थानवादी वृत्तिवाले निबन्धकारों ने भी प्रधानतः ऐसे ही विषय लिये है। ऐसे सभी निबन्धकारो का लक्ष्य हमारे में अपनेपन का बोध कराना, उसे जगाना है। श्री सियारामशरण की दृष्टि भी यहाँ इसी पर है।

समाज-स्थित एक-दूसरे से अपने को दुराने-छिपाने, आत्मगोपन, की मनोवृत्ति पर लक्ष्य कर **'घूंघट में'** नामक निबन्ध में निबन्धकार ने कहा है कि [**"कितने कौशल में, कितने आडम्बर में, कितनी बनावट में हमने अपने को**

छिपा रखा है, यह हम तक नहीं जानते । उन महिलाओं की तरह ही हम सब के सामने से निकल जाते है और देखने वाले समझते हैं, हमने देख लिया, हमने पूरा का पूरा परिचय पा लिया ।"] (झूठ-सच, पृष्ठ ११६) मगर हमारा पूरा का पूरा परिचय कोई पाता नही है, यद्यपि पारस्परिक मेल-जोल का हमारा साबका नित्य पडता है । इसका कारण यह है कि हम अपने मन की बात साफ-साफ व्यक्त नही करते, हमारे मन मे कुछ रहता है और हमारी वाणी मे कुछ और । हमने अपने मन की बात को छिपाना खूब अच्छी तरह सीखा है । यही हमारी प्रगाढ़ आत्मगोपन वृत्ति है, जो आधुनिक सभ्यता की देन है । श्री सियारामशरण की दृष्टि इस पर है और वे इस मायावी वृत्ति पर चोट करते देखे जाते है।

सपादक ने 'धन्यवाद'-पूर्वक लेख लौटा दिया । इस 'धन्यवाद' की चर्चा करते हुए निबन्धकार कहता है—**"इसे सँभालकर रखूँगा । आधुनिक सभ्यता की यह एक बहुत बड़ी देन है । अच्छे मे और बुरे में, खोटे में और खरे में, कहीं भी यह बेखटके चलाया जा सकता है ।"]** (झूठ-सच, पृष्ठ २०६)

इस प्रकार हम देखते है कि जीवन तथा समाजगत—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—सभी तथ्यो पर निबन्धकार की दृष्टि यथाप्रसग गयी है । किसी भी विषय की चर्चा करते हुए जब-जब ये पकड़ मे आये है तब-तब उसने इनकी चर्चा और मीमामा भी की है । चर्चा और मीमासा वा चिन्तना की पद्धति निबन्धकार की अपनी है, उद्धरणो द्वारा यह बात स्पष्ट है । निबन्धकार सारी बाते अपनी दृष्टि से देखता, और अपने ढग से कहता है । उसकी दृष्टि और पद्धति मे मौलिकता का अभाव नही मिलेगा । चिन्तनाओ को देखने से यह स्पष्ट है कि श्री सियारामशरण समाज तथा जीवन की ओर प्रवृत्त हैं, उनसे न स्वयं हटना चाहते है और न दूसरो को हटाना चाहते है । जीवन और समाज मे लगे रहना ही वे मानव की सार्थकता मानते है । उनकी चिन्तनाएँ जीवन तथा समाज मे सघर्ष करते हुए आगे बढने-बढाने वाली चिन्तनाएँ हैं अत. वे प्राणदायिनी है ।

श्री सियारामशरण की दृष्टि वर्तमान जीवन तथा समाज पर विशेष है, इसे हमने देखा है । हमने देखा है कि हमारे वर्तमान जीवन तथा समाज के वे दूषित पक्ष जिनके द्वारा आज मानवता सही-सलामत नही रहती निबन्धकार के दृष्टि-पथ मे अवश्य आये है । मानव के साथ मानवता का बर्ताव न करने वाली वर्तमान स्वार्थ से दूषित वृत्तियो पर निबन्धकार के छीटे पड़े हैं । तात्पर्य यह कि प्रधानत· वर्तमान समाज तथा जीवन की पीठिका पर ही श्री सियाराम-

शरण की चिन्तनाएँ आधृत है। वर्तमान समाज मे सर्वत्र व्यापी 'घोडेशाही' वृत्ति का उल्लेख उन्होने इस प्रकार किया है—["**कौन है वह स्थान, कौन है वह देश, जहाँ का मानव कही खुले मे कहीं छिपकर, आज की घोड़ेशाही (पूँजीवाद, यन्त्रवाद, बर्बरता का प्रतीक) से पीसा न जाता हो। संसार की अन्तरात्मा का दम आज भीतर ही भीतर घुट रहा है। सारे का सारा आकाश आच्छादित है, चिमनियों के सफेद और काले धुएँ से। मनुष्य के ऊपर आज से बढ़कर संकट कभी नहीं आया।**"] (झूठ-सच, पृष्ठ १६२) ["**सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जायँ, तब भी, क्या सख्या बल और क्या बर्बरता—किसी बात में—आज के घोड़े का मुकाबला नहीं कर सकते।**"] (वही, पृष्ठ १६३)

(४)

जिस दृष्टि तथा पद्धति से श्री सियारामशरण ने जीवन तथा समाजगत तथ्यो के सम्बन्ध मे चिन्तनाएँ की है, उन्ही का उपयोग उन्होने साहित्यगत चिन्तनाओं में भी किया है। उनकी साहित्य-सम्बन्धी चिन्तनाएँ भी जीवन तथा समाज सम्बन्धी चिन्तनाओं की भाँति ही प्राणवती है। वे भी हमे आगे बढाने वाली है। साहित्यिक तथ्यों को सम्मुख रखते हुए श्री सियारामशरण ने जीवन तथा समाज को छोड़ा नही है, वे सदैव इनके साथ चले है। जीवन तथा समाज-गत यथार्थ पर उनकी आँखे सदैव और सर्वत्र गडी है। इसी कारण उन्होंने 'शुष्को वृक्षः' नामक निबन्ध मे बाणभट्ट के कनिष्ठ पुत्र को कल्पना-लोक का प्राणी कहा है, जिसने ठूँठ को भी देखकर कहा था—"नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।" जैसे उसने ठूँठ को देखा ही नही, यथार्थ को देखा ही नही और कल्पना द्वारा यह अभिव्यक्ति कर दी। ठूँठ का उसके ऊपर प्रभाव ही नहीं पडा, ज्येष्ठ पुत्र पर इसका प्रभाव पड़ा क्योकि वह यथार्थ-द्रष्टा है, इसी कारण उसने कहा "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" इसी प्रसंग मे निबन्धकार ने यह भी कहा है कि कोमलता में ही नही, कठोरता मे भी रस है।

जीवन तथा समाज के साथ ही साहित्य को ले चलने के हिमायती होने के कारण ही श्री सियारामशरण के विचारों का मेल कोरे साहित्यवादियो के विचारो से नही खाता जो साहित्य के क्षेत्र से निकलकर समाज के सघर्षों के बीच नही पड़ना चाहते, जो साहित्य को समाज के संघर्षों के बीच नही लाना चाहते, जो साहित्य को दरबार अथवा ड्राइंगरूम तक ही परिमित रखना चाहते हैं। श्री सियारामशरण का पक्ष है कि 'साहित्य' की रचना दरबार मे नहीं हो सकती। कोई भी जबरदस्ती साहित्य की रचना नहीं करा सकता, क्योंकि

"साहित्य की प्रकृति स्वतन्त्र है।" (झूठ-सच, पृष्ठ ८६) साहित्य को राजनीतिक पर अविश्वास नही करना चाहिए, उसकी बातें भी अनुचित नही है। वह कहता है—**"आओ बाहर निकल कर देखो। वह इतनी बड़ी मानवता उत्पीड़ित होकर भय से, अत्याचार से और सबसे बढ़कर अपमान की असह्य लज्जा से मूक होकर खड़ी है। उसे तुम अपना कण्ठ स्वर दो। इस विलास-गृह की अपेक्षा वहाँ तुम्हारी आवश्यकता अधिक है।"** (झूठ-सच, पृष्ठ ८७) 'साहित्य और राजनीतिक' नामक इस निबन्ध के अन्त मे निबन्धकार ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है· '"राजनीतिक स्वतन्त्रता का योद्धा है। स्वतंत्रता का मूल्य उससे छिपा नही। साहित्यकार स्वतंत्र भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा। बने हुए दरबारी से उसका समाधान नही हो सकता।" (वही, पृष्ठ ६१)

श्री सियारामशरण साहित्य के क्षेत्र मे चमत्कारवाद को रचमात्र भी स्थान नही देना चाहते। वे इसे साहित्य-क्षेत्र की वस्तु स्वीकार ही नही करते। साहित्यकार को भी वे इससे दूर हुआ देखना चाहते है। कहते है—**"साहित्य-साधक को हम पैगम्बर हुआ नहीं देखा चाहते। अपने आप में ही वह कुछ छोटा नहीं है। आशुरचना का चमत्कार दिखाकर किसी को मुग्ध करने की आवश्यकता ही उसे कौन-सी? उसकी अपनी साधना से बढ़कर दूसरा कोई चमत्कार नहीं हो सकता।"** (झूठ-सच, पृष्ठ १५४) **"साहित्य का उद्देश्य कोरे चमत्कार के ऊपर नहीं टिका है। यही गुण यदि उसका सर्वोपरि गुण होता, तब बाजीगरों के काम की गणना भी साहित्य में हुई होती। ऐसा साहित्य जीवित नहीं रह सकता।"** (वही, पृष्ठ १५३)

साहित्य-सम्बन्धी विशुद्ध सैद्धान्तिक बाते भी श्री सियारामशरण ने कही है। मगर स्मरण यह रखना है कि इस तरह की बाते सिद्धान्त स्थापन करने के लक्ष्य को दृष्टिपथ मे रखकर कभी नही कही गयी। ये प्रसग से ही अभिव्यक्त हुई है। अभिप्राय यह कि इन्हे अभिव्यक्त करते हुए श्री सियारामसरण साहित्य-शास्त्री के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नही होते, वरन् कारयित्री प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार के रूप मे सामने आते है, जो समीक्षा के क्षेत्र की बातें भी कह सकते है—अपने अध्ययन, मनन, अनुभूति, आदि के आधार पर। यहाँ ध्यान इस पर रखना है कि रचनाकार द्वारा कही गयी साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी बातो में शास्त्रीयता की चाहे कमी हो, मगर उनमे उसकी अपनी अनुभूति का प्राधान्य रहता है, क्योंकि रचना करने के दरम्यान एतत्सम्बन्धी उसे अनेक अनुभव होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार द्वारा कही गयी साहित्य-सिद्धान्त

सम्बन्धी बातों में आत्मकता (सब्जेक्टिविटी) अधिक होती है और परात्मकता (आब्जेक्टिविटी) कम। श्री सियारामशरण की साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी बातों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। कवि के सम्बन्ध में वे कहते हैं— **"कवि में यही एक बड़ा दोष होता है कि जाग उठने पर वह अपने भीतर का ही देखना सुनना पसन्द करता है, बाहर से जैसे उसे कोई सरोकार नहीं रहता!"** (झूठ-सच, पृष्ठ ७८)। रचना-वृत्ति के उदय होने पर रचनाकार में रचना की ओर जो संलग्नता होती है, उसी को दृष्टि-पथ में रखकर कवि के सम्बन्ध में ये बातें कही गयी हैं। रचना-वृत्ति के उदय होने पर रचनाकार सर्वत्र से अपने को समेटकर अपनी समान रचना में ही लगाता है—जैसे उसके चारों ओर कुछ हो ही न रहा हो। कवि के सम्बन्ध में ये बातें भी उन्होंने कही हैं—**"कवि विधाता की असाधारण सृष्टि है। अथवा कहना यह चाहिए कि कवि सृष्टि न होकर स्रष्टा के रूप में ही अपने आप प्रकट हुआ है। उसका गौरव उसी में है; किसी बाह्य सज्जा की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती।"** (झूठ-सच, पृष्ठ १२)

पद्य को 'साहित्य की वाणी' कहा है और गद्य को उसका 'कर्तव्य'। (झूठ-सच, पृष्ठ १२) 'पद्य कोमलता का प्रतीक है और गद्य पौरुष का।' (वही, पृष्ठ १३) निबन्धकार ने गद्य को 'दुनियादार' कहा है, जो तुरन्त किसी पर विश्वास नहीं कर लेता, 'तर्क-वितर्क' जिसका प्रधान आधार होता है, जिसके कारण किसी के "आँसू देखकर ही वह द्रवित नहीं हो जाता।" वही पृष्ठ है— **"आजकल की बहुत सी कविताएँ बिना नाम या बिना शीर्षक की भी दिखाई देती हैं। गद्य की परुषता से उन्हें बचाने के लिए ही ऐसा किया जाता है।··· वे छोटी कविताएँ जिनका नामकरण नहीं होता, कवि की हृदय-भूमि में इसी प्रकार उपस्थित होती हैं। नाम और पते के बिना ही वे अपना काम कर जाती हैं।"** (वही, पृष्ठ १४)। इसी सिलसिले में श्री सियारामशरण ने कहा है कि किसी रचना का 'उपयुक्त' शीर्षक लगाना बहुत ही समझदारी और कुशलता का काम है। "रचना के नामकरण में लेखक को कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।" ऐसा करते हुए "वह स्वयं अनुभव करता है कि उसने वस्तु के अपेक्षित मूल्य का आंशिक ही दिया है, सम्पूर्ण नहीं।" (वही, पृष्ठ ११) रचना के नामकरण की इस दुःसाध्यता के कारण ही कम ही रचनाओं पर उपयुक्त शीर्षक लग पाते हैं। निबन्धकार को 'एक शीर्षक' पर विचार करते हुए ही ये सारी बातें कहनी पड़ी हैं। एक कवि ने अपनी कविता का नाम 'उपेक्षिता सुनन्दा' रख दिया। श्री सियारामशरण का

कथन है कि 'सुनन्दा' से ही काम चल जाता, 'उपेक्षिता' भी लगा देने से तो रचनाकार की गद्य-प्रवृत्ति व्यक्त हो गयी, और इस गद्य के विषय में निबन्धकार के विचार हमने अभी देखे है। ऐसी स्थिति में निबन्धकार रचना को बिना शीर्षक के ही रहने देने की ओर रुजू है। यह श्री सियारामशरण का मत है। बिना शीर्षक की छायावादी, रहस्यवादी कविताओ का अर्थ निर्णय करने मे कितना अनर्थ हो जाता है और उनके कितने अर्थ हो जाते है, यह किसी अर्थ लगाने का व्यापार करने वाले— मतलब अध्यापक—से छिपा नही है ! श्री सियारामशरण को इस जाति के प्राणियो पर भी तनिक ध्यान रखना चाहिए था !

(५)

यथाप्रसग मैंने निबन्ध मे वैयक्तिकता तथा चिन्तना की अभिव्यक्ति की चर्चा की है। इसमे विचारात्मकता के प्राधान्य की बात भी कही गयी है। निबन्धकार तथा पाठक और श्रोता मे साक्षात्सम्बन्ध-स्थापन की वृत्ति के कारण इसमे प्राय अभिव्यक्ति के सीधेपन का उल्लेख भी हुआ है। निबन्ध की इस प्रकार की भूमिका मे हमने श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों मे प्रवाहित जीवन, समाज और साहित्य-सम्बन्धी चिन्तना-धारा को देखा है। अभिव्यक्त चिन्तनाओं के देखने से ज्ञान होता है कि वे उपज्ञात अथवा मौलिक हैं। उपज्ञात अथवा मौलिक इस दृष्टि से कि श्री सियारामशरण की सभी बातों तक पहुँच अपने प्रस्थान से चलकर हुई है। जीवन, समाज और साहित्य के क्षेत्र में उन्होने जो अनुभव किया है; जिसे उचित समझा है, जो मगलकारी है उसे नि सकोच भाव से और अपनी पद्धति से व्यक्त किया है। इन चिन्तनाओं की गहराई और ऊँचाई के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। इस सम्बन्ध में मेरा यही वक्तव्य है कि श्री सियारामशरण अपनी चिन्तनाओं के क्षेत्र में जितने गहरे और ऊँचे जा सके है उतने गहरे और ऊँचे जाकर पूरी सचाई के साथ उन्होने इन्हे हमारे सम्मुख रख दिया है। ऐसी स्थिति में निबन्धकार में चिन्तनाओ की अभिव्यक्तिगत सचाई, निःसकोच मौलिक पद्धति, आदि का ही महत्त्व है, चिन्तनाएँ चाहे उच्च कोटि की हो, चाहे मध्यम कोटि की। श्री सियारामशरण की चिन्तनाएँ निम्न कोटि की नही है, इसे तो स्वीकार ही कर लेना चाहिए। यही मौलिकता निबन्ध का प्राण है, यही निबन्ध को असलियत और खरापन देता है। इसके साथ ही विचारों की गहराई और ऊँचाई ज्यों-ज्यो बढ़ती जाती है त्यों-त्यों निबन्ध की विशेषता भी बढ़ती जाती है।

निबन्ध के विषय मे एक जिज्ञासा उठती है, जो स्वाभाविक भी है, वह

यह कि निबन्ध को रचनात्मक (क्रिएटिव) साहित्य मानें अथवा समीक्षात्मक (क्रिटिकल) साहित्य ? क्योंकि निबन्ध की परिमिति मे तो ये दोनों प्रकार के ही साहित्य आते है, समीक्षात्मक निबन्ध भी तो निबन्ध ही है। निबन्धगत मौलिकता, चिन्तना, आदि की चर्चा हम कर चुके है। वे विशुद्ध निबन्ध जिनमें ये तत्त्व मिलते है रचनात्मक साहित्य की कोटि मे स्वीकृत है ही, उनके सम्बन्ध मे तो विवाद है ही नही। मेरा मत है कि समीक्षात्मक निबन्ध भी एक प्रकार की रचनात्मकता होती है, अतः यह भी निबन्ध की कोटि मे रखा गया और रखा जाना चाहिए ही। समीक्षात्मक निबन्ध मे यदि निबन्धकार का अध्ययन, मननमात्र व्यक्त हुआ तो वह उसकी अर्जित वस्तु हो गयी; मौलिक नही। इस कोटि के निबन्ध में मौलिकता तो तब आयेगी जब निबन्धकार अपने अध्ययन, मनन के आधार पर कुछ नयी, अभूतपूर्व वस्तु कहेगा। यह नवीनता वा मौलिकता कई प्रकार की हो सकती है। साहित्य के सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक किसी अंग की व्याख्या (इण्टरप्रिटेशन) हो सकती है, नवीन सिद्धान्त का निर्धारण हो सकता है, आदि-आदि। समीक्षात्मक निबन्धगत इन तत्त्वो में क्या मौलिकता, नव-निर्माण नही है ? यदि है तो समीक्षात्मक निबन्धों मे भी रचनात्मकता स्वीकार करनी चाहिए; और इसी कारण वे निबन्ध की कोटि में आते भी हैं। ऐसे निबन्धों मे मीमासा का प्राधान्य होता है, रसात्मकता का प्राधान्य नही, इस कारण इन्हें रचनात्मक कोटि मे नही रखना चाहिए, एक पक्ष ऐसा कह सकता है। मगर इनमें जिस ढंग की मौलिकता वा रचनात्मकता है, उस पर हमारी दृष्टि क्यों नही जाती ?

(६)

श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों के प्रकारों की ओर एक स्थान पर मैंने संकेत किया है। स्थूलत· इनके प्रकार ये है ·

(१) स्मृति-सम्बन्धी अथवा संस्मरणात्मक—(बाल्यस्मृति, मुंशीजी नामक निबन्ध संस्मरणात्मक है जिनमें मुंशी अजमेरीजी के संस्मरण है।)सस्मरणात्मक निबन्धों की विशेषता यह होती है कि संस्मरण्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ ही निबन्धकार के व्यक्तित्व का भी काफी उद्घाटन होता है। इसमे श्री सियारामशरण के व्यक्तित्व का जितना उद्घाटन होना चाहिए उतना नहीं हो सका। मुंशीजी के व्यक्तित्व को व्यक्त करने पर ही निबन्धकार की दृष्टि रही।

(२) वर्णनात्मक (हिमालय की झलक, घूँघट मे)—ऐसे निबन्धों में वस्तुओं तथा व्यक्तियों आदि का वर्णन है। वर्णन की प्रधानता के कारण ऐसे

निबन्ध काव्य-तत्त्व से प्रभूत मात्रा में युक्त है। निबन्धकार की दृष्टि वर्णन करते समय प्रायः सजीव चित्र उपस्थित करने पर है।

(३) भावात्मक (छुट्टी, कवि-चर्चा)—ऐसे निबन्धो में निबन्धकार की भावुकता की अभिव्यक्ति प्रवाहमयी शैली मे हुई है।

(४) कथात्मक (झूठ-सच)—अनेक निबन्धों मे आशिक रूप से श्री सियारामशरण ने कथा का सहारा लिया है, जैसे 'बहस की बात', 'एक दिन', 'छुट्टी', 'उसकी बोली', आदि निबन्धो मे। 'झूठ-सच' नामक रचना को कथात्मक निबन्ध कह सकते हैं। यद्यपि यह मुझे कहानी ही लगती है।

(५) वाग्विलासात्मक (ऋणी, घोडाशाही, निज कवित्त)—श्री सियारामशरण के निबन्धो की यह कोटि निर्धारित करते समय मेरी दृष्टि विषय पर विशेष ध्यान न देते हुए मन की तरगवश कुछ कहते जाने वाले निबन्धो पर है। ऐसे निबन्धो मे विषय का सहारा मात्र ले वाग्विलास उपस्थित हुआ है। लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है, प्रो० मनोरजन ने अग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों (पर्सनल ऍसेज) को दृष्टि मे रखकर इस प्रकार के निबन्धो का स्वरूप-निर्धारण करते हुए 'विशाल भारत' में एक निबन्ध लिखा था। उसमे कहा था कि वैयक्तिक निबन्ध ऐसे ही लिखे जाते है, अर्थात् वे अप्रयत्नतः, स्वाभाविक रूप से मन की तरग में ही लिखे जाते है। वाग्विलासात्मक निबन्धों से मेरा तात्पर्य इसी प्रकार लिखे गये निबन्धो से है।

(६) आत्मप्रधान (आशु-रचना, अपूर्ण)—ऐसे निबन्धों से मेरा तात्पर्य ऐसी रचनाओं से है, जिनमे निबन्धकार के व्यावहारिक जीवन, उसके सामाजिक सम्बन्धो—मित्र-सम्बन्धी आदि, उसके जीवन की घटनाओ का उल्लेख यथाप्रसंग खुले-खुले होता है। स्मृति-सम्बन्धी तथा संस्मरणात्मक निबन्धों को भी इसी कोटि मे रखा जा सकता है। अग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों में इस प्रकार के आत्मतत्त्व को बहुत प्राधान्य देते है। उनमें आत्मतत्त्व (पर्सनल एलीमेण्ट) से प्रधान रूप से यही समझा जाता है।

(७) विचारात्मक (एक शीर्षक, मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष, अन्य भाषा का मोह, साहित्य और राजनीतिक, साहित्य मे क्लिष्टता)—श्री सियारामशरण के ऐसे निबन्ध अधिक है। इनके कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनमें विचारात्मकता के साथ ही यत्र-तत्र वाग्विलास भी है, जैसे, 'शुष्को वृक्षः', 'घोड़ाशाही' में।

(७)

अपने निबन्धों को प्रस्तुत करते समय श्री सियारामशरण गुप्त की दृष्टि प्रधान रूप से अंग्रेजी के वैयक्तिक निबन्धो की विधान-विधि पर है, ऐसा जान

पड़ता है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-रहस्यवाद-युग, और वर्तमान युग मे भी जो वैयक्तिक निबन्ध हिन्दी में प्रस्तुत हुए उनका स्वरूप वैयक्तिकता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है—विशेषत. भारतेन्दु-युग के निबन्धो का। अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धो की भाँति इस (भारतेन्दु) युग के निबन्धो मे भी निबन्धकार का खुला व्यक्तित्व आता था। यहाँ व्यक्तित्व से मेरा तात्पर्य निबन्धकार के सामाजिक सम्बन्धों, किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति, आदि के सम्बन्ध मे स्पष्टत बिना दुराव के उसके विचारो की अभिव्यक्ति से है। इस विषय में इस युग के निबन्ध—विशेषत: भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के—अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धो से खूब मेल खाते है। मगर छायावाद-रहस्यवाद-युग तथा वर्तमान युग के निबन्धो मे जो इस प्रकार की वैयक्तिकता आयी है वह अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धो की देखा-देखी। इन युगो के निबन्धकार अपने निबन्धों मे वैयक्तिक तत्त्वों की निहिति का ढंग देखने-सुनने भारतेन्दु-युग के निबन्धो के निकट नहीं गये। वे सीधे अंग्रेज़ी के इस प्रकार के निबन्धो की ओर ही मुड़े। इसका कारण यह है कि द्विवेदी-युग में इस ढग के वैयक्तिक निबन्ध एक प्रकार से रचे ही नही गये। इस युग में जीवन तथा समाजगत रूखी पवित्रता, ठोस वस्तुवाद, आदि की चिन्तना-धारा के प्रवाहित होने के कारण साहित्य मे विचारात्मकता का ही प्राधान्य रहा। अत: निबन्धों मे उक्त ढंग की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति के पक्ष मे निबन्धकार न जाकर अपने विचारों को सामने रखने की ओर ही गये, जो प्रधानत: अध्ययन-मनन-प्रसूत थे, जो स्वानुभूति की तुला पर नही रखे जा सके थे। द्विवेदी-युग में निबन्ध का मतलब ही था साहित्य का वह प्रकार जिसमें विचार ठूँस-ठूँस कर भरे गये हों, बस। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी किन्हीं अंशो में इस दृष्टि के भी कायल थे—यद्यपि निबन्ध के सम्बन्ध में वे अन्य तत्त्वो के भी पक्ष में थे। उस युग मे वैयक्तिकता का मतलब था किसी विषय मे अपने विचार व्यक्त करना। मगर यह तो निबन्धकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एक पक्ष हुआ। भारतेन्दु-युग तथा वर्तमान-युग में निबन्ध मे वैयक्तिकता की निहिति का जो तात्पर्य समझा जाता है वह यह नही है। तो, द्विवेदी-युग के निबन्धो मे विचारात्मकता के प्राधान्य के व्यवधान के कारण छायावाद-रहस्यवाद तथा वर्तमान युग में वैयक्तिकता देखने-सुनने के हेतु निबन्धकार भारतेन्दु-युग में नहीं गये, वे इसके लिए अंग्रेज़ी के आधुनिक निबन्धों की ओर गये। श्री सियारामशरण गुप्त ने भी ऐसा ही किया।

हिन्दी में उस प्रकार के वैयक्तिक निबन्ध लगभग दस-बारह वर्ष पूर्व से

लिखे जाने लगे है। इस क्षेत्र में सर्वश्री गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रो० मनोरंजन, जैनेन्द्र कुमार, प्रभाकर माचवे आदि निबन्धकारो ने काम किया है और इनमे से कुछ अब भी कर रहे है। श्री सियारामशरण गुप्त भी इनमें से एक है।

श्री सियारामशरण के निबन्धो मे विचारात्मक निबन्ध अधिक है इसे हमने देखा है। इनके निबन्धों के अन्य प्रकार भी हमने देखे है, उनमे भी तो विचार व्यक्त है ही। मगर उनके द्वारा द्विवेदी-युग के निबन्धों की भाँति श्रोता वा पाठक पर विचारो का बोझ नहीं लदता। उनमे विचारो की अभिव्यक्ति होते हुए भी श्रोता वा पाठक पर उनका बोझ लदा नहीं जान पडता। इसका कारण विचारों की अभिव्यक्ति की पद्धति मे हलकापन—सीधापन (लाइटनेस ऑव ट्रीटमेण्ट) है, जो अग्रेज़ी के आधुनिक निबन्धो की प्रधान विशेषता है। वस्तु-विधान-पद्धति पर ही अधिक ज़ोर देने के कारण यह भी कहा गया कि वस्तु की प्रधानता नही है प्रधानता वस्तु को जिस विशिष्ट ढंग से व्यक्त करते हैं उसकी है, अतः निबन्ध के विषय पर ध्यान ही नही दिया गया। सामान्य से सामान्य विषय लेकर भी ऊँची से ऊँची और गहरी से गहरी बातें कही गयी। ऐसी स्थिति मे विषयान्तर को भी आश्रय दिया गया, कहीं-कहीं महत्त्व भी। श्री सियारामशरण ने अग्रेजी निबन्धों के ये तत्त्व अत्यल्प रूप में लिये, यह अच्छा ही किया। वाग्विलासात्मक निबन्धो मे यत्र-तत्र विषयान्तर मिलेगा, अन्यत्र नही। विषय या वस्तु पर आप की दृष्टि बराबर है। ऐसा करते हुए सामान्य से सामान्य विषय लेकर भी आपने ऊँचाई तथा गहराई की बातें कही है। अग्रेजी निबन्धों की विधान-पद्धति पर आपकी दृष्टि अवश्य है। निबन्धों में विचारात्मकता होते हुए भी वे बोझिल नही हैं। श्रोता वा पाठक अनायास उनको ग्रहण करता जाता है।

विधान-विधि के हलकेपन व सीधेपन मे अन्य तत्त्व भी सहायक होते हैं जिनमे से कुछ ये हैं—खुले व्यक्तित्व की निहिति; श्रोता तथा पाठक और निबन्धकार में भावित नैकट्य, हास्य व्यग्य-विनोद, अविधान, काव्य-तत्त्व की निहिति; आकर्षक भाषा-शैली, आदि। कहना न होगा कि आधुनिक वैयक्तिक निबन्धो मे इन्ही तत्त्वो के कारण उनमें रचनात्मक साहित्य के गुण अधिक से अधिक आ सके है।

निबन्धों मे खुले व्यक्तित्व की निहिति के कारण उनमें कम मनोरंजकता नही आती। बात यह है कि श्रोता और पाठक जिस साहित्यकार की रचना पढ़ते हैं उसके व्यक्तित्व के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं और उसकी

ही रचना में उसी के द्वारा कही गयी अपने व्यक्तित्व-सम्बन्धी बातों से उनकी उत्सुकता की शान्ति हो जाने पर उन्हे एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव होता है। श्री सियारामशरणजी के निबन्धो मे इस प्रकार के व्यक्तित्व की निहिति सर्वत्र मिलेगी। (झूठ-सच, पृष्ठ १८, १६)

श्रोता तथा पाठक और निबन्धकार मे भावित नैकट्य के कारण निबन्धकार यथाप्रसग यह मानकर चलता है कि जिनके लिए वह लिख रहा है वे उसके सम्मुख है। वह उनसे कहता, बोलता, सलाप करता-सा जान पडता है। एक उदाहरण देखे : "जितने वर है सब इसी जैसे है। पर विस्मय हुआ, जब आज एक ऐसा वर भी दिखाई दे गया जो चाहता है उसके वे ढाई दिन कभी समाप्त न हो। समझ मे उसकी बात आ नही रही है। हो सकता है कोई गहरी बात हो। शायद आप मे से कोई साहब समझा सके। समझा सकेंगे ?" (झूठ-सच, पृष्ठ २०३)। आधुनिक निबन्ध का एक तत्त्व यह भी माना गया है कि निबन्ध ऐसा हो जो पढ़ने मे अपने सगे साथी का 'पत्र पढ़ने जैसा लगे, अर्थात् उसमें विचारो के बोझ का अनुभव न हो, उसके पढने में अपनेपन का अनुभव हो।

हास्य-व्यंग्य-विनोद तो श्री सियारामशरण के निबन्धो में सर्वत्र मिलेगा। जीवन तथा समाज के लिए अनावश्यक तत्त्वों पर वे व्यग्य तो बराबर कसते गये हैं। हास्य और विनोद की कमी भी उनमें नहीं है। एक स्थान पर वे कहते हैं— ["बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कही किसी को चोट न लग जाय, तो भला यह भी कोई बात हुई !"] (झूठ-सच, पृ० ५) ऐसे हास्य मे श्री सियारामशरण का सरल व्यक्तित्व झलक जाता है। कभी-कभी अपने को ही आलम्बन बनाकर उन्होंने हास्य की अभिव्यक्ति की है—"यह मेरी पहली मौलिक कल्पना थी। बड़े-बड़े पण्डित और बड़े-बड़े कर्मठ भी जिस समस्या का समाधान जीवन भर नही कर पाते है, सुनिए निरे बचपन मे उसे मैंने किस विचित्र रीति से सुलझाया था।" (वही, पृ० ६०)।

इनके निबन्धो मे काव्यात्मक स्थल प्रायः मिलते हैं। श्री सियारामशरण का कवित्व प्रसंग आने पर चूका नहीं है। (वही, पृ० ५६-५७, १७३)। आधुनिक निबन्धो के विषय मे यह भी कहा गया कि उनके पढ़ने मे वही आनन्द मिलना चाहिए जो काव्य के पढ़ने में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आनन्द की सृष्टि निबन्धों की विधान-विधि पर ही आश्रित है। श्री सियारामशरण के निबन्धों में यथाप्रसंग यह तत्त्व भी प्रभूत मात्रा में मिलता है।

श्री सियारामशरण की भाषा-शैली बहुत ही आकर्षक है। जैसे सीधे सरल वे है वैसे ही सीधे सरल छोटे-छोटे उनके वाक्य भी होते हैं। विचारों की भाँति ही वाक्यों में भी कही उलझन नही मिलती। अपने सीधे-सरल वाक्यों मे ही उन्होंने अभिव्यक्ति का स्वाभाविक—न चौकाने वाला बाँकपन भरा है, जो कम आकर्षक नही है। कहते है—"बहस कभी **बात की बात** पर चल पड़ती है।" (झूठ-सच, पृ० २)। एक सूत्रात्मक वाक्य देखिए—तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। (वही, पृ० ५)—अर्थात् तर्क वाद-विवाद, युद्ध, झगडे आदि की जड है। ये सभी इसके परिणाम होते है। अपनी भाषा-शैली मे भगिमा लाने के लिए उन्होने मुहावरों तथा लोकोक्तियो का प्रयोग मौजू जगहो पर किया है—"पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोडकर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया" (वही, पृ० ५०)। इस प्रकार शैली को आकर्षक बनाने वाले प्रायः सभी आवश्यक तत्त्व श्री सिया-रामशरण गुप्त की शैली में मिलते है।

भाग ३

प्रमुख कृतियाँ

.बापू-विमर्श

[प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०]

The man that hath no music in himself
Nor is moved with concord of sweet sounds,
Is fit for treason, stratagems and spoils,
The motions of his spirit are dull as night.

—SHAKESPEARE

श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू' कवि की अन्तरात्मा का सगीत है। कोई भी सहृदय व्यक्ति इस कृति की सगीतात्मकता से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। गुप्तजी शुद्ध मानवता के कवि है, इसलिए मानवता के प्रतीक उस महात्मा से घुल-मिलकर एकाकार होने मे उनकी आत्मा तल्लीन है। कवि की इस रचना मे वस्तुत. मानवता ही झकृत हुई है। सच्चा गीति-काव्य कैमरे के लेन्स की तरह कवि के मानस का चित्र उतार लेता है। श्री सियारामशरण के बारे में यदि हम कुछ भी न जानते हो तो भी केवल 'बापू' पढ़कर हम उनके अन्त:करण की झलक पा जायेंगे। यदि आन्तरिक भावों का स्पष्ट प्रकाश ही गीति-काव्य का प्रधान लक्षण है तो निस्सन्देह 'बापू' एक उत्कृष्ट गीति-काव्य है। इस काव्य मे ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी स्थल है जहाँ पाठको के उर की वीणा झंकृत हो उठती है, जहाँ वे रस-मग्न हो जाते है। बापू के प्रति पाठकों की श्रद्धा में अन्तर होने से सम्भवत: रसानुभूति मे भी अन्तर हो सकता है किन्तु कवि ने अपने आप को इतने सच्चे रूप मे उपस्थित किया है कि उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। प्रभु का सच्चा रूप क्या है, यह तो प्रभु ही जाने, भक्त तो अपनी भावना के अनुसार ही देखता है। इस काव्य मे बापू के दिव्य और अलौकिक गुणों का ही आख्यान है जिनका उपयोग मानवता की रक्षा के लिए हुआ है।

हिन्दी मे गीति-काव्य की परम्परा यों तो बहुत पुरानी है। विद्यापति, सूर और मीराँ के भाव-प्रवण गीत हिन्दी-साहित्य में अमर रहेगे; किन्तु हिन्दी-साहित्य पर पाश्चात्य और बँगला-साहित्य का जो प्रभाव पड़ा उससे लिरिक (Lyric) की शैली पर गीत लिखे जाने लगे। अंग्रेजी रसाचार्यों की दृष्टि से

गीति-काव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति-काव्य के रूप मे फूट निकलता है।" 'बापू' के गीत लय पर चलते हुए मालूम पडते है। कृष्ण और राम जैसे लोकनायको को लेकर सूर और तुलसी जैसे भावुक भक्तो ने कथा का आश्रय लेकर भी श्रेष्ठ गीति-काव्य की उद्-भावना की है; किन्तु 'बापू' जैसे मुक्तक काव्य हिन्दी-साहित्य मे दूसरे नहीं है। गांधी को अपने काव्य का आलम्बन बनाकर कवि ने अपने भावोच्छ्वासों को शुद्ध सच्चे रूप मे पाठकों के सम्मुख रखा है। बीस उच्छ्वासों मे बापू का गुण-गान करके २१वे उच्छ्वास में कवि सन्तोष की साँस लेता है। किन्तु गिने-गिनाये २१ साँस लेकर बापू को समाप्त थोड़े ही किया जा सकता है। 'कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना' कहकर सियारामशरण का काव्य-पुरुष आश्वस्त होता है और अपनी इसी कृति से उसे सर्वाधिक सन्तोष है, जैसा कवि के निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त होता है :

"अपनी किस रचना को विशेष महत्त्व देता हूँ, यह मुझी से पूछते हैं? जब जिस चीज को लिखता हूँ तब वही मुझे बहुत अच्छी जान पडती है। बाद मे अच्छी तरह याद भी नही रहता कि उसमें कैसी और क्या अच्छाई थी। शायद अभी तक मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति लिख ही नही सका हूँ। फिर भी कविता मे सबसे अधिक आत्म-तुष्टि मुझे 'बापू' से हुई है।"

एक-एक उच्छ्वास एक-एक भाव को पिरोये हुए है। 'बापू' रूपी विराट् तीर्थ के विपुल सलिल की गहराई में जाकर चाहे कवि की गगरी मुक्ताफल न ला सकी हो, किन्तु काव्य-रसिक के लिए यह कृति मंजु मुक्ताहार के रूप मे सुशोभित है। 'बापू' के प्रत्येक उच्छ्वास का यदि विश्लेषण किया जाय तो उससे भाव की एक-सूत्रता सहज ही सिद्ध की जा सकती है। पहले उच्छ्वास में यदि भाव-प्रवण जनता का समुज्ज्वल चित्र है तो दूसरे उच्छ्वास में प्रतीक्षोत्सुक शताब्दियो का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया गया है। कवि के समस्त उच्छ्वासों का आलम्बन चूँकि एक ही व्यक्ति है, इसलिए सम्पूर्ण काव्य में ही एक सुगठित एकता है जो सब उच्छ्वासों को अन्वित किये हुए है। प्रत्येक उच्छ्वास में एक ही भावना अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है।

'बापू' के गीतों मे शब्दों का अपव्यय नहीं है; कवि की प्रौढ़ कृति होने के कारण वैसे भी थोड़े में बहुत कह दिया गया है। किसी गीत में अनावश्यक विस्तार नहीं है। आकार की दृष्टि से १५वाँ गीत (जिसमें सत्याग्रही के आत्म-बलिदान का गौरव-गान किया गया है) तथा १९वाँ गीत (जिसमें भारत-माता की विश्व-माता के रूप में कल्पना की गयी है) अपेक्षाकृत बड़े हैं,

किन्तु ये गीत और भी अधिक मर्मस्पर्शी बन पडे हैं। १५वे गीत मे जहाँ कवि की हार्दिकता फूट पडती है :

कवि रे, अरे, क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर-तार सभी ढीले ये ?

वहाँ वास्तव मे इस कविता का गीति-तार छिन्न-भिन्न होकर ढीला नही पड़ता। जिस वेदना-व्यथा से कवि व्यथित है, उस वेदना की कसक राग को और भी सगीतमय बना देती है।

यह तो सच है कि गीति-काव्य मे कवि के भाव-प्रवण हृदय का चित्रण रहता है, किन्तु जिन गीतो मे कोरी भावुकता रहती है वे चिरकाल तक नही जीते, जिनमें हृदय-तत्त्व के साथ बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्व मिला होता है, उन्ही गीतो की छाप लोक-मत के अन्तर्पट पर चिर-अकित रहती है। 'बापू' के कवि की श्रद्धा कोरे भावुक कवि की श्रद्धा नही, वह दार्शनिक कवि की श्रद्धा है। इस काव्य में दार्शनिक तत्त्वो का कई स्थानो पर चित्रण हुआ है।

अन्त ! अरे कौन कहाँ-कहाँ कैसा अन्त ?
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का,
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का;
नाश नहीं जीवन का
बीज उसमें है चिरन्तन का;
हिंसा के उपद्रव से सम्भव विनाश नहीं नर का,
अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का।

१८वें गीत में कवि का देश-प्रेम बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है। किन्तु यह देश-प्रेम संकुचित नही है, यह अन्तरराष्ट्रीय रूप धारण करने के लिए आकुल है। गाधीजी महानता के प्रतीक है और गाधीवाद इस महानता का पोषण करने वाला संगठन; भारत का यह सौभाग्य है कि उसे हिमालय-सा महान् रक्षक, गगा सी महती माता (देश, अरे मेरे देश, तेरी उच्चता मे दृढ़ है नगेश, मन की पवित्रता मे गंगा की लहर है) और वस्तु-जगत् से बहिष्कृत सत्य को पाने के लिए काव्य निर्माण करने वाले कवि मिले। महानताओं के इस क्रम का चरम विकास हुआ है गांधीजी मे—वस्तु-जगत् से बहिष्कृत सत्य जैसे फिर धरती पर उतर आया है और यह सौभाग्य भारत को प्राप्त है :

तेरे धरा धाम-मध्य निर्मलिन
आज का नवीन दिन
लाया है प्रफुल्लित प्रकाश गिरा।

इस मुक्तक काव्य को पढते समय कवि की काव्य-प्रतिभा का आतंक पाठक पर छा जाता है और वह ज्यो-ज्यो इसके अर्थ को हृदयंगम करता जाता है त्यो-त्यों उसके अन्तःकरण मे आनन्द की लहर-सी उठती है; एक प्रकाश-किरण का सा उसके हृदय को स्पर्श मिलता है।

'बापू' की शब्द-योजना सरल नही है, सामान्य पाठक के लिए बोधगम्य भी नही। स्वय बापू को भी इसे समझने के लिए शायद कोश की शरण लेनी पडे। भाषा क्लिष्ट होते हुए भी उसमे अस्पष्टता नही है। किन्तु नारियल में जिस तरह ऊपर जटा, फिर कडा कोश और नीचे ही नीचे गिरी मिलती है, उसी तरह बापू तत्त्व को समझने के लिए गहराई मे जाना होगा।

कवि के हृदय को गांधी-दर्शन से प्रबल प्रेरणा मिलती है। मानवता के इस कवि को 'बापू' मे मानवता की चरम अभिव्यक्ति दिखलाई पडती है। इसलिए वह अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर भी अपने उच्छ्वासो को गीतों का रूप देता है। (Ode) के ढंग की सम्बोधन-पद्धति और विषय की गरिमा प्रायः सर्वत्र देखने को मिलेगी।

जन्म-जात उच्च स्वर्ग कुल के,
मर्त्य-कुलशाखा मे हुए हो गोद सप्रमोद।

× × ×

आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र,
दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर की ज्योति से छलकता;

बापू का चरित्र स्वयं ही एक काव्य है। एक विदग्ध कवि के लिए उसमें से भाव-राशि का चयन करना सहज सम्भाव्य है। प्रथम बिन्दु मे प्रतीक्षोत्सुक जनता की भावना का सुन्दर चित्रण है :

गूँज उठा जै-जैकार
फिर-फिर दूर तक आरपार······

दूसरे बिन्दु में अद्भुत रस छलक रहा है। शताब्दियाँ एक संग स्थित हैं—"नूतन शताब्द-शिशु-हेतु वे सभी अशान्त।" इतने युगो के बाद नूतन शताब्द शिशु ने जन्म ग्रहण किया है। ठीक भी है, बापू-जैसा नर-रत्न शताब्दियों बाद इस धरा पर अवतीर्ण होता है।

तीसरा बिन्दु और भी अद्भुत है। आगे की शताब्दियाँ एक गवाक्ष खोल कर भविष्य के निकेतन में झाँक-झाँक कर देख रही है और कान लगाकर सुन रही हैं। बापू का उदात्त स्वर भविष्य की शताब्दियों को भी सुनाई पड़ रहा

है । वे आश्चर्य से हैरान है कि यह कैसा अद्भुत अलौकिक स्वर है ! इतने दूर से आ रहा है और फिर भी इतना पास-पास सा लगता है ! बापू की दृष्टि मे कितनी दूरदर्शिता है ! उसकी सत्य-अहिंसा का गीत देश-काल की सीमाओ का उल्लघन कर सर्वव्यापी हो रहा है ।

यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं,
दूरी के अनन्त सिन्धु जल में

'बापू' विभु का वरदान है । यह बिना प्रयास हमे प्राप्त है । जो हमारे सामने सूर्य की रोशनी की तरह प्रत्यक्ष है, उसकी शक्ति का अनुमान हम नही लगा सकते; 'होता नही रंच परिमाप मान; वह है दिवा-विभास हमको ।' 'यह बात सच है कि मनुष्य जब तक हमारे पास से दूर नही जाता, तब तक उसके मूल्य को सम्पूर्ण भाव से हम उपलब्ध भी नही कर पाते । सूर्य-चन्द्र का आकार गोल है—यह बात दूर होने से ही हम समझ पाते है । पृथ्वी भी तो गोल है, वैसे ही गोल है, किन्तु निकट होने के कारण हम उसकी बन्धुरता ही देख पाते है, उसके वर्तुलाकार को समझ नहीं पाते । इसी तरह मनुष्य जब तक हमारे बीच जीवित रहता है, तब तक हम उसके जीवन की समग्रता को ठीक पकड़ नही पाते ।'

भयंकर-से-भयंकर परिस्थितियों में भी बापू अचल है, वे पर्वतराज हिमालय की तरह अडिग है । कुछ रौद्र चित्र देखिए :

झंझावात आते है प्रचण्ड रोष गति से,
मुक्त असंयति से,
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से पकड़ के,
ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते है निम्न भूमितल की ।

× × ×

खसखस पड़ते समुन्नत महीध्र शृंग,
अचला के अंक में लिपटते;
करके प्रवाह भंग नित्यमार्ग में से नित्य नीर नद हटते
उच्च हर्म्य हेम धाम छिपते उजाड़ में नगर-ग्राम;
चाहते अशान्त-उर विस्तृत सुनीर निधि
कौन विधि ओट लें सपाट मरुस्थल की ।

न जाने कौन से अतल की शान्ति इस मनस्वी को प्राप्त है । ऊपर अप्रस्तुत भूमिचाल के वर्णन द्वारा देश की राजनीतिक हलचल की ओर संकेत किया गया है । 'कम्पन विभीति तुम्हें एक भी न झलकी ।'

बापू को 'ईधन-रहित शुद्ध अग्नि-ज्वाला' कहा गया है। निम्नलिखित पद्य मे श्रृगार की झलक लिये हुए हास्य का पुट भी है :

नित्य के अनंग की अरुणिमा,
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा !
उस परिणीता से,
पुण्य की प्रतीति-भरी प्रीता से
वय की दुरन्त झकझोर-झोर,
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर ?

वृद्ध पुरुष को युवती स्त्रियाँ छोड देती है। 'पुरुष पुरातन की वधू, क्यो न चंचला होय ?' किन्तु नित्य के अनग की अरुणिमा से बापू का परिणय हुआ है और इस वृद्धावस्था मे भी बापू के अचल को पकडे हुए है।

बापू ने अपने व्यष्टि को समष्टि मे लीन कर दिया है। वह दिव्य है और मर्त्य कुल शाखा मे खुशी-खुशी गोद आया है। देही होते हुए भी वह विदेह है, गेही होते हुए भी वह अगेह है। धन्य है, वह सीपी जिसने बापू-जैसा मोती पैदा किया :

ये नारियाँ हैं सीपियाँ जिनका मोल न तोल
ना जाने किस कोख में छिपा रत्न अनमोल।
भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूँद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुम में हुई है धन्य धन्य धन्य !

न जाने कौन से दुर्लभ सुयोग से बापू-जैसा धरा का लाल पैदा हुआ है !

'बापू' के चित्र का बैक ग्राउण्ड लाल-काला है; उसके पीछे दृश्य है कारागार का, हिंसा-क्षेत्र का। उस रौद्र और बीभत्स को प्रकाशित करती हुई बापू की सात्त्विक शान्त मूर्ति अवतरित होती है। चित्र सजीव हो उठता है। यहाँ कवि ने बाह्य का वर्णन करके अन्तर अथवा उसके प्रभाव का अंकन किया है। इस बिन्दु में कारागार का मर्मस्पर्शी वर्णन है, जो भावों को उद्वेलित करता है। 'भय का अवाक् रोर घोर घनीभूत हुआ उनमें जड़ित है।' सब ओर निस्तब्धता है, आतक और भय के कारण रोर अवाक् हो गया है। यह कारा-गार कोई तृष्णातुर अंध-कूप है जो दीन-हीन मानव के सत्य शील को लील लेगा। किन्तु

'भीति का कठोरातंक टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में।'

देश में राजनीतिक चेतना जागृत कर निर्भयता का मन्त्र फूंक देना बापू की सबसे बड़ी देन है। 'सजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय मे।' बापू की कृपा से कारागार आज देवगृह हो गया है।

६वें बिन्दु मे मानव की पाशविकता का चित्रण है। एक राष्ट्र किस तरह दूसरे राष्ट्र को पददलित कर साम्राज्यवाद की करालमुखी तृष्णा का शिकार हो रहा है, इसका भावपूर्ण काव्यमय वर्णन है। यह वर्णन कितना सामयिक है :

जाती है समुद्र ग्रास करने को स्थल से,
और फिर छिप के अतल से
बढ़ती है ऊपर अनन्त शून्य पथ में,
आरूढ़ा महा विनाश-रथ में,
बरसा रही है प्रज्वलन्तांगार;
कैसा घोर हाहाकार !

बापू मे सब काल और देश की विभूतियो का समन्वय है। उसे हरिश्चन्द्र की अटलता, श्री प्रह्लाद की भक्तिसमुज्ज्वलता, कृष्ण का निष्काम ज्ञान-कर्म-योग, भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता, बुद्ध का परमार्थ-भाग, ईसा का नरानुराग, महावीर का हिसा-त्याग, मुहम्मद की दृढता, नरसी की पराई पीर, रामचरित-मानस की धवलता, ताल्सताय का प्रेम-प्रतिरोध विरासत मे मिला है। महात्मा गाधी की सुप्रसिद्ध जीवनी मे प्रकारान्तर से यही बात रोम्याँ रोलाँ कह रहे है :

His principle of Ahimsa (non-violence) has been inscribed in the spirit of India for more than two thousand years. Mahavira, Buddha and the cult of Vishnu have made it the substance of millions of souls. Gandhi has merely transfused heroic blood into it. He called upon the great shadows, the forces of the past, plunged in mortal lethargy, and at the sound of his voice they came to life. In him they found themselves. He incarnates the spirit of his people. Blessed the man who is a people, his people entombed, and then resusciated in him.

—ROMAIN ROLLAND

धरित्री मे जागृति का मांगलिक सुप्रभात हुआ है। बापू का सत्य और अहिंसा के रूप में जो उदार दान है वह फैलकर समस्त भुवन का हो जाय, यही कवि की अन्यतम इच्छा है।

भारतमाता की विश्वमाता के रूप मे कल्पना की गयी है। विश्व भर का दु ख, शोक, ताप इसके भीतर उमडा-सा आता है। हिंसा की अग्नि में जलते हुए विश्वमाता के लाल—मानव—को बचाने के लिए एक लाल पैदा हुआ है जो गति मे दुरन्त वेग भरके हिंसानल के बीचोबीच अपने सिद्धान्तों का प्रयोग कर रहा है, और सबकी यही कामना है .

अक्षत ही लौटे वह होकर सफल काम।

'बापू' का अन्तिम गीत एक सुन्दर भाव-चित्र है; सगीत की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। छन्द मे परिवर्तन है, शैली की विभिन्नता है, कवि का इसमे आत्माभिव्यंजन है।

रौद्र—भयानक—निम्नलिखित दृश्य भी दर्शनीय है :

कैसी कुपिताएँ ये अनल शिखाएँ, क्षुधिताएँ ये
मिट्टी ईंट-चूना तक चाटने को टूट पड़ीं
सन्न निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं;
भय से विषण्ण मन, दाह-दग्ध तन है।

शान्त रस के तो अनेक चित्र अनायास ही मिल जायेगे।

भाषा और शैली—इस काव्य की ओजस्विनी भाषा का प्रवाह कहीं भी मन्द नही पड़ा है। वह उत्साह और स्फूर्ति, जिससे प्रेरित होकर कवि रचना मे प्रवृत्त हुआ था, अन्त तक अक्षुण्ण है। 'बापू' मे शायद ही कोई शिथिल पक्ति मिल सके। 'बापू' कवि की प्रौढ़ता की वाणी है। भाषा उक्ति-वैचित्र्य-पूर्ण, सारगर्भित एवं लाक्षणिकता लिये हुए है। कहीं-कही भाव-गाम्भीर्य शब्दों की परिधि को पार करके बहुत आगे बढ़ गया है। जैसे छोटे से क्षितिज, बाहर-विहीन, अवाक् रोर आदि। 'बापू' की कुछ पंक्तियाँ तो इतनी सुन्दर हैं कि शायद कहावतो के रूप मे चल पडें। उदाहरणार्थ—'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो।' 'मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु।' 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय मे।' भाषा सर्वत्र भावानुगामिनी रही है। उसमें लय का बल और गति का वेग है। उसमें रौद्र और बीभत्स की कँठोरता तो है ही, उपयुक्त स्थल पर शान्त रस की स्वच्छता और प्रसन्नता भी है। 'मुक्ति बीज फूट पडा बाहर है, लाली लिये ले रहा लहर है।' कवि ने लय के लिए पुनरावृत्ति और तुकान्त शब्दो की सहायता ली है। यथा :

फिर फिर दूर तक आर पार······
यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं······

कवि को अपने शब्दो के लिए संस्कृत के अक्षय भण्डार की शरण लेनी

पड़ी है। सम्भवतः संस्कृत-शब्दों की सहायता के बिना वह अपने हृद्गत भावों की सफल व्यंजना न कर सकता। उसने देव-वाणी का अधिकतर आश्रय लेकर देवोपम 'शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल' बापू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इस काव्य में तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। लम्बे-लम्बे संस्कृत समासों का भी अभाव नहीं है। हेम-हीर-मणि-मुक्ताहार, रजनि-उपान्त-निभ, अतन्द्र-प्रेम-प्रियता, ज्ञान-गरिमा-विशिष्ट, नूतन-शताब्द-शिशु-हेतु, प्रेम-फुल्ल-पुष्प-मालाएँ, स्वर्ण-लाभ-योग आदि। किन्तु शुद्ध संस्कृत पदावली के साथ-साथ 'उछाह, लूट-पाट, खर्व, खस-खस गिरते, हाँप-से उखड़ते' आदि साधारण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'बैर मोल लेकर लड़ेगा, बाट जोहती थी, घर के तुम्हारे वे चरण-चिह्न' आदि मुहावरे भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। 'चलाचल' शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर है। कहीं-कहीं अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से शब्दों द्वारा ही अर्थ ध्वनित हो जाता है :

हो उठी पयोद घटा गहरी,
एक साथ बिज्जु-छटा छहरी,
वायु बही सर-सर, काँप उठे वन्य वृक्ष थर-थर
सहसा अकाल वृष्टि घन-घन घहरी।

× × ×

धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग !
धाम वह धाँय-धाँय,
धूप का गुँगाटा भरे भाँय-भाँय।

× × ×

कल कल्लोलित धारा पाकर तट पर ही यह तरी-तरी।

पृथुल, अजस्र, ध्वान्त, हर्म्य, उत्स, आवर्जन, अतद्र, तमिस्र, असंवित् आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग होने से संस्कृतज्ञ पाठक ही 'बापू' का सम्यक् रसास्वादन कर सकेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि बँगला, मराठी आदि प्रान्तीय संस्कृत-बहुला भाषाओं के पाठकों के लिए 'बापू' अवश्य ही सहजगम्य हो सकेगा। इस काव्य की भाषा संस्कृत-प्रधान व्याकरण-सम्मत खड़ी बोली है। कहीं-कहीं 'उछाह' आदि शब्दों का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि के लिए किया गया है। कुपिताएँ, अनल-शिखाएँ, क्षुधिताएँ में विशेषण शब्दों का भी बहुवचनान्त रूप प्रयुक्त हुआ है, जो प्रसंगानुकूल फ़िट बैठने से अच्छा लगता है। 'आयी अहा ! मूर्ति वह हँसती !' में 'मूर्ति' शब्द स्वयं एक मूर्ति लाकर आँखों के सामने खड़ी कर देता है। भाषा पर कवि का आधिपत्य है। 'बापू' में गिरा अर्थ से और अर्थ गिरा से सादर

समलकृत है। 'खसखस पडते समुन्नत महीध्र-श्रृंग' आदि मे ध्वनिशील शब्दों के प्रयोग के कारण शब्द-योजना बहुत समीचीन है। मालूम होता है जैसे पहाड़ खस-खस गिर रहे है। 'जड़ से पकडकर धूलि खिला जाते है निम्न भूमितल की' पढने पर लगता है, जैसे किसी के सिर के बालों को पकड कर उसे जमीन पर दे मारा हो। 'बापू' मे अर्थ-गौरव की प्रधानता है। थोडे मे कवि बहुत कह गया है। यह बिना भाषा पर प्रभुत्व हुए सम्भव नहीं। इतने थोड़े शब्दों में अर्थ-गुम्फन शायद कवि की अन्य किसी भी कृति मे न मिले। शैली मे विरोध-पद्धति प्राय. सर्वत्र देखने को मिलेगी। 'बापू' के प्रादुर्भाव-काल मे बहुत-सी विषम परिस्थितियाँ दिखलाकर उनसे लोहा लेने के लिए इस कृशकाय तपस्वी की असीम शक्तियो का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उसमें एक प्रकार की ऐसी अभिव्यक्ति की तरलता आ गयी है जिसमे स्नान करने से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है।

विरोध-पद्धति

'तुम में पुरातन है नूतन में, नूतन चिरन्तन।
लघु अवतीर्ण है महत्तम में,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में।'
'मित है अपरिमाण'
'भय का अवाक् शोर'
'अन्त लिए
अथ में,' 'मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्यकेतु'
'निद्रा के विराग में जागृत किये थी अनुराग की गहनता।'
'नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता
मृत्यु में हिली-मिली अमरता।'

अग्रेजी अलंकार (Oxymoron) और विरोधाभास के राशि-राशि उदाहरण 'बापू' मे मिलेगे। और सच तो यह है कि बापू स्वय एक विरोधाभास है।

प्रसंग-गर्भत्व का प्रयोग शैली को चमत्कृत कर देता है, किन्तु प्रसिद्ध का प्रयोग ही कवि-परिश्रम को सार्थक बनाता है! 'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो' 'Child is the father of man' की याद दिलाता है।

अचल प्रतिष्ठ हे, तुम्हारे पुण्य सागर में,
ज्ञान-गुणागर में,
शान्ति के समस्त प्रभ्रमित स्रोत,
आकर हैं पूर्यमाण, पूर्णकाम ओत-प्रोत।

इन पंक्तियों को पढ़कर गीता का यह श्लोक अनायास स्मरण हो आता है :

अपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।

श्रेष्ठरथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के ।

(आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु) [कठोपनिषद्]

सुप्त सर्वभूत निशा हो रही है जागृति की पूर्व दिशा ।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' [गीता]

'बापू' मे अभिव्यंजना-कौशल सर्वत्र दिखलाई पडता है। इस काव्य में अभिव्यजना के अनुभूतिमय होने से इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। मनुष्य के हृदय मे जैसे भाव होते है, उन्ही के अनुसार उसके मुख की आकृति भी बदल जाती है। इसलिए शैली के सर्वत्र भावानुकूल होने से ही उसमे स्वाभाविकता आ सकती है।

व्यक्ति के स्थान पर गुण का प्रयोग—

'कायरता करने लगी पुकार—
लौट अरे लौट, वहाँ नाश का महा प्रसार !'

मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत—

'झंझावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से
मुक्त असंयति-से'

यहाँ झंझावात को 'मुक्त असंयति-से' कहा गया है।

अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत

जागी धृति सुस्मृति समान किसी विस्मृति में ।

विशेषण-विपर्यय

माता का व्यथित रोर ।

चपलातिशयोक्ति

भीति का कठोरातंक टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में

श्लेष

विरज समीर की लहर-सा
सारी रात निद्रा के विराग में जागृत किये थी अनुराग की गहनता,

[विरोध और श्लेष का चमत्कार]

रूपक

मुक्ति बीज क्रूर भक्ति-भूमि भेद,
फूट पड़ा बाहर है ।
लाली लिये ले रहा लहर है [वृत्यनुप्रास]

सुन्दर-उपमा

'दुर्गम दुरूह में से शंका-समाधान सम'

अभिव्यजना-कौशल के सब प्रकार हमारे यहाँ लाक्षणिक और व्यंजनात्मक प्रयोगो मे अन्तर्भूत हो जाते है। अभिव्यक्ति की तरलता की दृष्टि से 'बापू' हिन्दी-साहित्य का एक उत्कृष्ट काव्य है। अभिव्यक्ति के सम्यक् विवेचन के लिए एक स्वतन्त्र लेख ही अपेक्षित है।

आज जब हिन्दुस्तानी के आन्दोलन को लेकर इतने प्रवाद चल पडे है और स्वय बापू समय-समय पर अपने विचार प्रकट करते रहते है, नही कहा जा सकता 'बापू' की भाषा पर स्वय बापू क्या कहेगे ?

अन्त मे 'बापू' के सम्बन्ध मे हिन्दी-ससार के मर्मज्ञ आलोचक प्रो० रामकृष्ण शुक्ल के सारगर्भित शब्दों को उद्धृत करना यहाँ अनावश्यक न होगा :

'बापू' प्रधानतः एक वीरपूजात्मक काव्य है और इस दृष्टि से आधुनिक समय के मुक्तक छन्दो में चारण काव्य (Ballad Poetry) के ढंग का है, जिसमे कुछ गीति-तत्त्व-सा भी पाया जा सकता है। इसकी प्रत्येक कविता अलग-अलग मुक्तक है परन्तु क्योंकि समस्त ग्रन्थ एककालीन रचना है, इसलिए इसके मुक्तकों मे ध्येय की एकसूत्रता या समरसता भी मौजूद है, तथापि इसके कारण यह प्रबन्ध-कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योकि इसमें कथा या कथागो का कोई अनुसन्धान नही है। एककालीनता और तद्धेतुकी समरसता के प्रतिफल में हमे 'बापू' काव्य मे, नायक की प्रत्येक विभिन्न परिस्थिति में, कवि की एक-सी मनोवृत्ति बराबर काम करती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक स्थिति में नायक का भी जैसे एक ही रूप दिखाई देता है। नायक का यह रूप त्याग-वीर और अहिंसा-युद्ध-वीर का ऊर्जस्वल रूप है। इस रूप के प्रभाव में अखिल पशुताओ, दानवताओ, भीतिओ आदि के दल को विजेता के सामने हम पलायन करते देखते है तथा अत्याचारी से पदाक्रान्त प्रजा को शान्ति, आशा और पुनर्जीवन का स्वागत करते देखते है। इस व्यापार में भी जहाँ प्रजाओं और शताब्दियों या कारावासों आदि का चित्र है वहाँ मानो उनका प्रस्तुत काव्य-नायक ही है जो प्रत्येक वर्णन मे पर्दे के पीछे खड़ा-सा झलकने लगता है।

चारण-काव्य (Ballad Poetry) का सन्देश स्वभावतः उदात्त रहता है। 'बापू' भी एक उदात्त रचना है। परन्तु नायक की अपनी विशेषताएँ हैं—अहिंसा-संग्राम और नायक की अकिंचनता, निरस्त्रता के कारण चारण-काव्य का जो एक अन्य परिचित लक्षण (Chivalry) वीरता और वीरतापूर्ण (Chivalrous) शृंगार प्रायः देखने में आया करता है, उससे 'बापू' सर्वथा मुक्त है।

'बापू' (नायक) का चरित्र और व्यक्तित्व मानो युग की पुकार का ही सलक्ष्य स्वरूप है। बापू मे और युग मे ऐकात्म्य है। उसके नाते बापू भारतीय आदर्श के लिहाज से, युगपति कहे जायँ तो क्या हर्ज है? अपने-अपने समय के युगपतियों—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि सबका कवि ने 'बापू' मे समाधान और समाहार कर लिया है; पर फिर भी—या शायद इसीलिए—बापू बापू ही है।

"स्वाभाविकतया ही वीर-काव्य मे हम 'स्थायी उत्साह' या वीर रस की ही परिस्थितियो की आशा करते है। 'बापू' स्थायी भाव उत्साह से ओतप्रोत है। परन्तु इसके उत्साह मे एक नवलता है, जो चारण काव्य (Ballad Poetry) या कल्पित काव्य (Romance) के अद्भुत-तत्त्व का स्थान ग्रहण करती है। एक सर्वस्वत्यागी, अर्द्धनग्न अकिचन, जिसकी मूर्ति से 'शम' की प्रेरणा ही उसका कल्पनीय सत्त्व जान पडती है, जब शान्ति का हाथ उठाता हुआ हमे बढ चलने के उत्साह से उद्दीप्त करता है तो हम जैसे. बडे कौतुकचकित-से रह जाते है। साहित्य-पद्धति मे 'शम' और 'उत्साह' विरोधी है। बापू में इन दोनो का एकत्र रुचिकर समाधान ही जैसे 'अद्भुत' की विश्रब्ध भूमि बन जाता है। इसके अतिरिक्त 'रति' और 'उत्साह' दो ऐसे भाव है, जिनकी परिचर्या मे लगभग अन्य समस्त भाव संचरण (सचारियो के रूप मे) कर सकते है। 'रति' और 'उत्साह' का तो आपस में भी जैसे बड़ा सन्निकट सम्बन्ध हो। एक दूसरे का हमेशा पोषक होता है। परन्तु 'बापू' में मानो उत्साह ही एकमात्र स्वय-सिद्ध सत्ता है, जिसे संचारियों की कोई जरूरत नही। यदि कोई संचार दिखाई भी देता है तो युग की वेदना—आशामयी विकलता और उत्कण्ठा के रूप में—नायक की किसी संचारिणी भावना के रूप मे नहीं। नायक के व्यक्तित्व से जो शान्ति का सन्देश-सा मिलता है वह भी उसके 'उत्साह' का सचारी न होकर मानो उसका एक गौण उद्दीपन ही-सा दृष्टिगोचर होता है।

'बापू' की कविता मे माधुर्य या प्रसाद की अपेक्षा ओज अधिक है, जो वीर काव्य मे होना स्वाभाविक है। इस ओज का साहित्यिक रूप उसकी शैली है, जिसके उपकरणों में उसकी अत्यन्त तत्सम पदावली तथा सयुक्ताक्षर-प्रबल स्फोटमयी वाणी है। इसके अतिरिक्त, सम्भव है, ग्रन्थ की मुक्तक छन्द-रचना भी ओज-विधान में सहायक हो सकी हो।

'बापू' की सारी रचना अलंकारमयी है, जिसमे सांग-रूपकों को विशेष स्थान दिया गया है।

उपसंहार—"इनकी प्रसिद्ध रचना 'बापू' काव्य-पद्धति में अन्तर्वृत्ति-

निरूपक मुक्तक-प्रधान ठहरती है।·· ···इन मुक्तकों को कुछ-कुछ सानेट के समानान्तर मान सकते है, क्योंकि सानेट मे भी एक ही विषय रहता है और वह कई छन्दो मे वर्णित होता है।

"शास्त्र-प्रतिपादित किसी छन्द को ग्रहण न करके इसमें सारी रचना केवल लय के आधार पर की गयी है। इसके चरणो में जो कुछ चमत्कार है वह लय के उतार-चढाब मे ही है। अत्यनुप्रास मे भी किसी विशेष नियम का पालन नही किया गया है। कही अत्यनुप्रास पास-पास मिलता है और कही-कही तो अंत्यनुप्रास का पूरा-पूरा अभाव मिलता है। सम्भवत: अंग्रेजी सानेट में मिलने वाले अत्यनुप्रास के अव्यवस्थित नियम के ढग पर 'बापू' में भी किसी एक नियम का पालन नहीं किया गया है। १९वी शताब्दी के मध्यकाल मे अमेरिका मे एक नवीन ढग की अतुकान्त छन्द-विहीन कविता का आरम्भ हुआ। बँगला द्वारा हिन्दी-जगत् में भी उसके अनुकरण पर इस नवीन कविता-प्रणाली का श्रीगणेश किया गया।"

'बापू' के अनेक गीतों में (Ode) जैसी शैली मिलेगी; 'देश अरे मेरे देश' जैसे देश-प्रेम-मूलक गीत भी मिल जायेंगे, किन्तु समस्त रचना को वस्तुत: साहित्यिक वीर-काव्य (Literary Ballad) का नाम देना ही अधिक उपयुक्त होगा। इस काव्य का प्रारम्भ भी गीति-काव्य की तरह न होकर वीर-काव्य की तरह होता है और सच कहा जाय तो 'बापू' विधि-विधान (Technique) की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय काव्य है। स्वयं बापू का वर्गीकरण जिस प्रकार टेढ़ी खीर है, उसी प्रकार यह काव्य भी सहज ही किसी श्रेणी में अन्तर्भुक्त नही किया जा सकता। 'बापू-विचार' के विद्वान् लेखक का ध्यान भी इस काव्य के वीरपूजात्मक रूप की ओर नहीं जा पाया है। 'बापू' वास्तव में मानवता का काव्य है। इस काव्य में कही भी गांधी जी का नामोल्लेख नहीं हुआ है। सम्भवत: लेखक ने जान-बूझकर ऐसा किया है। गांधी आज एक व्यक्ति नही, वह मानवता का प्रतीक है, एक मूर्तिमन्त आदर्श है। इसलिए इस काव्य को क्या हम मानवता का स्तवन (Ode to Humanity) नहीं कह सकते ?

उन्मुक्त

[डॉ० नगेन्द्र]

'उन्मुक्त' का विश्लेषण करने से पूर्व उसके रचयिता के व्यक्तित्व का थोडा विश्लेषण करना संगत होगा। कवि सियारामशरण का व्यक्तित्व पीडा से बना हुआ है। उनका श्वास-रोग और एकाकी जीवन ये दोनो आज एक सुदीर्घकाल से उनके जीवन-सहचर है। स्वभावत: उनमें करुण-चिन्तन का प्राधान्य है। हिन्दी-जगत् से उपेक्षा पाकर यह पीडा अवश्य ही उनका कम्पलैक्स बन जाती, यदि कवि के अतर्क्य आस्तिक संस्कारो का प्रतीप प्रभाव उस पर न होता। यही आस्तिकता उसे पीडा को आनन्द का माध्यम मानने के लिए बाध्य करती है और वह दु:ख मे सुख, पराजय में विजय, और निर्बलता मे बल प्राप्त करता है। ऐसी मन.स्थिति के कवि के लिए गाधीवाद का आकर्षण अनिवार्य है। गांधीवाद पीडित एव पराजित देश की जितनी शुद्ध और स्वस्थ अभिव्यक्ति है, कवि सियारामशरण का काव्य गाधीवाद का उतना ही सच्चा प्रतीक है।

बुन्देलखण्ड की शस्य श्यामला भूमि, रुग्ण कवि का एकान्त-वास, युद्ध के भीषण समाचारो को मोटे-मोटे अक्षरो मे देने वाले दैनिक पत्र। कवि श्वास-रोग से पीड़ित है। पत्रो मे हत्याकाण्ड के समाचार पढ़कर उसकी व्यथा द्विगुण हो जाती है। जी घुटने लगता है। मन के बोझ को हलका करने के लिए वह बाहर देखता है। वसुन्धरा का अंचल उसे शरण देता है और वह कुछ स्वस्थ होकर कविता लिखता है जिसका सुफल होता है 'उन्मुक्त'।

'उन्मुक्त' रूपक है। लौहद्वीप के अधिपति ने समस्त संसार को अधिकृत करने का रक्तमय अनुष्ठान किया है। ताम्र-द्वीप, रौप्य-द्वीप ध्वस्त हो चुके। अब कुसुम-द्वीप पर आक्रमण हुआ है। कुसुम-द्वीपवासी वीरतापूर्वक लड़ते है। उनका सेनानी पुष्पदन्त अपनी समस्त शक्ति लगा देता है—यहाँ तक कि भस्मक किरण का भी उपयोग करने को बाध्य हो जाता है। परन्तु भाग्य साथ नहीं देता। भस्मक किरण से संयुक्त उनका विमान बीच ही में खराब होकर शत्रु के हाथ मे पड़ जाता है और तुरन्त ही कुसुम-द्वीप भी अधिकृत हो जाता है।

कुसुम-द्वीप के शक्ति-संचालक तीन व्यक्ति हैं। पुष्पदन्त, गुणधर और

मृदुला । वैसे तो ये तीनों ही अहिसा मे विश्वास रखने वाले है, परन्तु पुष्पदन्त और मृदुला आत्म-रक्षा के निमित्त हिसा का प्रयोग न्याय्य समझते है । इसके विपरीत गुणधर एकान्त अहिसा का उपासक है । आरम्भ मे वह भी देश की विपत्तियो का विचार कर शस्त्र ग्रहण कर लेता है । परन्तु युद्ध की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त, साथ ही पुष्पदन्त को भी भस्मक किरण का अवैध उपयोग करते देख वह एकदम युद्ध से विरक्त हो जाता है । पुष्पदन्त उसे मृत्यु-दण्ड देता है, परन्तु दण्ड-विधान पूर्ण होने से पूर्व ही ये तीनो समभोगी के रूप मे मिलते है । अब पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार कर लेता है, और अहिसक मरण को ही जीवन की मुक्ति मानकर ये तीनो वीर उन्मुक्त हो जाते है । अतः उन्मुक्त हिसा की निष्फल भीषणता प्रदर्शित करता हुआ सत्य और अहिसा की स्थापना करता है । आधुनिक युद्ध का एक मात्र प्रतिकार अहिसा है, क्योकि उसी में सबका हित सुरक्षित है और विजय वही है जिसमे सबका हित हो—'सर्वोदय' हो ।

"सब के हित मे लाभ करो निज विजय श्री का !" यही 'उन्मुक्त' का सन्देश है । पराधीन देश के दार्शनिक और कवि विश्व को और क्या सन्देश दे सकते है ? हो सकता है कि इसे सुनकर कुछ लोग (और उसमें किसी अंश तक मै भी शामिल हूँ) उसी प्रकार खिन्न हो उठें जिस प्रकार कतिपय पिछली लडाई के दिनो में अग्रेज गाधीजी के ऐसे ही सन्देश को सुनकर खिन्न हो उठे थे । परन्तु उसके पीछे मानव-करुणा से ओत-प्रोत एक तपोमयी आत्मा की तड़प है, जिसका प्रभाव अनिवार्य है ।

इस प्रकार 'उन्मुक्त' की कथा उपलक्ष मात्र है और उनकी समस्त घटनाएँ प्रतीक है कवि की उन भावनाओं की जो युद्ध के नृशंस समाचार सुन-सुनकर उसके एकाकी मन में जागृत हुई है । आप सहज ही उन्हें कथावस्तु में से पृथक् कर देख सकते हैं ।

पहला चित्र आधुनिक युद्ध के सूत्रधार का है :

देखा मैंने सभी ओर घनघोर तिमिर है ।
उड़ गये ज्योतिष्क-पिण्ड शशि ग्रह तारावल,
नहीं कहीं कुछ, शून्य धरातल, शून्य नभस्थल ।
फिर भी, फिर भी बोध हुआ ऐसा कुछ मन में,
कोई कुटिल कराल निखिल के प्रेत विजन में
शवसाधन में लीन; एक बस एक वही है,
और अन्य वह अचल पड़ी आक्रान्त मही है ।
किसी लोभ के ज्योतिहीन जन्मान्ध अतल में,
हुआ निखिल खग्रास !

आगे स्वयं अभियान का अवलोकन कर लीजिए .

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ-सौ यानों से।
उनका क्या मै कहूँ—घोष दुर्घोष भयंकर;
प्रेतों का-सा अट्टहास; शतशत प्रलयंकर;
उल्काओ का पतन, वज्रपातों का तर्जन,
नीरव जिनके निकट,—हुआ ऐसा कटु-गर्जन।
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधनाफल वह नर का,—
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय,
गिरकर अपनी ध्वस चिताओं मे थे जलते।

चौथा चित्र है युद्ध मे होने वाले नारीत्व के अपमान का—

सुनो हुआ, हेमा का फिर क्या;
सद्योधिक उस मांस-पिण्ड का, उष्ण रुधिर का
लोभी नरपशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर मे! पढ़ो पढ़ सको यदि धीरज धर
तो पढ़ लो यह पत्र।

कवि की पुण्य भारती उस अत्याचार का वर्णन करने मे शरमा जाती है और वह एक तीखा व्यग्य कसकर रह जाता है·

धिक् धिक्।
कुत्सित घृण्य जघन्य अरे ओ उच्च सांस्कृतिक!
तुम ऐसे हो!

'उन्मुक्त' का सबसे मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग है सुश्रूषालय। यह रुग्ण कवि की आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति है। कवि के समान ही आहत गुणधर (जो सचमुच उन्ही का प्रतिरूप है) सुश्रूषालय मे पड़ा हुआ पिछले दिन की घटना का स्मरण कर रहा है। यह घटना भी युद्ध-सम्बन्धी एक कठोर विचित्रता ही की प्रतीक है। आज से बहुत दिन पूर्व—लगभग १०० वर्ष पूर्व कार्लायल ने इस पर व्यंग्य किया था :

...For example, there dwell and toil in the British Village of Dumdrudge usually some five hundred souls. From these by certain natural enemies of the French there are successively selected say thirty able bodied men...And now to that same spot in the south of Spain are thirty similar French

artisans from a French Dumdrudge in like manner wending; till at length, after infinite effort the two parties come in to actual juxtaposition. Straightway the word 'Fire' is given, and they blow the souls out of one another... ..Had these men any quarrel? Busy as the devil is not the smallest! They lived far enough apart; were the entirest strangers. How then? Simpleton! their governors had fallen out, and instead of shooting one another had the cunning to make these poor block-heads shoot.

—CARLYLE

यही तथ्य कविता की गहराई लेकर इस प्रसग में व्यक्त हुआ है। एक मरणासन्न शत्रु-सैनिक को किसी अपरिचित भाषा में कराहते देखकर गुणधर को युद्ध की विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसकी मानवात्मा पिघल पड़ती है :

अब यह किसका शत्रु पड़ गया मैं संशय में।
अविकृत मानव-मात्र सभी का सहज सगोत्री
हम सब-सा ही मरण-यज्ञ में एक सहोत्री।

अतः यह भेद-भाव भूलकर सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए उस सैनिक के पास जाता है, परन्तु आह रे वचित मानव! मरणप्राय यह सैनिक अपनी बची हुई शक्ति समेटकर गुणधर पर वार कर बैठता है। बस यही पर मानवता की चरम विजय है—गुणधर उस पर रोष नही दया करता है :

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल। आत्म-विस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
रोष करूँ या दया ?

जिस प्रकार बरसात में विद्युत अथवा आँसुओं के बीच आँख की ज्वाला जल उठती है, उसी प्रकार इन द्रवित भावनाओं मे वीरता भी कहीं-कहीं चमक उठी है और युद्ध का गौरव-पक्ष भी उपेक्षित नही रहा :

—याद ऐसा भट आया
छिन्न शीर्ष जो कटे हुए धड़ का मन भाया
देख रहा हो समर-पराक्रम खुले नयन से।
आ उतरा ज्यों वहाँ मरण के वातायन से
लोचन का फल-लाभ।

आगे कुछ ध्वस के चित्र है, जिनमे से एक मे अबोध शिशुओ की हत्या का दृश्य है—वहाँ स्वर्गगत बच्चो के द्वारा मानव नृशसता की आलोचना करायी है। इसके उपरान्त पराजय है—कुसुम-द्वीप ने शस्त्र समर्पित कर दिये। अधिकार सौपते हुए यूरोप के अनेक प्राइम-मिनिस्टरो की रुद्ध वाणी मानो 'उन्मुक्त' के महामात्य के कण्ठ मे फूट पड़ी है :

प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नहीं है हार, हार यह मेरी है।
आप में से कोई किसी मांगलिक वेला में
आकर नवीन बल-बुद्धि से, महत्ता से
आज की पराजय को जय में बदल दें,
मेरी यही कामना है।
भावी उस नेता को
आज का पराजित मैं रुद्ध निज वाणी से
अर्पित प्रणाम किये जाता हूँ विनय से,
अच्छा नमस्कार !

परन्तु सचमुच यह पराजय कुसुम-द्वीप की नही है। यह हिंसा की पराजय है। पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार करता है :

अच्छा ही यह हुआ कर सके निज में अनुभव
है कैसा पाशविक हिंस्र ज्वाला का ताण्डव।

अन्त में इस युद्ध की समस्या का समाधान है .

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

बस यही कवि की आस्तिकता उसको मुक्त करती है। अन्यथा दैहिक, दैविक और (युद्ध की) आत्मिक—तीनो प्रकार की पीडाएँ मिलकर उसे कुछ और ही बना देती। इसी के बल पर विनाश मे भी माँ वसुमती की सृजन-शक्ति को क्रियाशील देखकर उसे परितोष होता है :

आश्वसित समाश्वसित हूँ,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ।
देख रहा हूँ जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का
रूप विकट वीभत्स, जहाँ मूर्छित मानव का

शतशः खण्डीकरण दलन विदलन कर कर के;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।
जिसे घृणा की गयी उसी के लिए नमित है
धरणी की वह सुमन मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर उधर सब ओर।

युद्ध की विभीषिकाओ का वर्णन पढ-सुनकर ऐसी ही भावनाएँ कवि के मन मे उठी है, जिनको उसने अपूर्व कौशल के साथ अन्वित कर एक कहानी का रूप दे दिया है। यद्यपि वास्तविक गौरव इन भाव-चित्रो का ही है, फिर भी कथा का संघटन एकदम निर्दोष है, उसके विकास मे सहज क्रम, गति में अनुकूल प्रवाह और वृत्त-वर्णन मे रोचकता लाने का सफल प्रयत्न है—उदाहरण के लिए मृदुला और जागरिता का अवचेतनात्मक वार्तालाप लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहानी का आधार भी उसी के योग्य है। कवि ने इसके निमित्त अखण्ड देश-काल को चुना है, जिसका विराट् आकार समस्त दिङ्मण्डल को समेटे हुए वर्तमान, भूत और भविष्य के तीन पदों पर स्थित है। सियारामशरणजी अपने ढंग के अकेले टेकनीशियन है। उनकी टेकनीक मे श्रीविलास चाहे अधिक न हो, परन्तु उसका 'सहजगुण' असदिग्ध है। आज के जैसे एकान्त कवित्व-शून्य युद्ध को भी उन्होने न केवल प्राणों की पीडा में डुबोकर ही, वरन् कवि-कौशल के द्वारा भी काव्यमय बना दिया है। आज अनेक प्रगतिवादी कलाकार प्रत्यक्ष को काव्यमय बनाने की कला 'उन्मुक्त' से सीख सकते है। इसी प्रसग मे मै कुछ उदाहरण कवि की नित्य प्रौढतर होती हुई अभिव्यजना-शैली के उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

१—रौप्य-द्वीप तो है ध्वस्त; नाम अब उसका
और कुछ हो गया है,—जैसे किसी जन की
मृत्यु हो गयी हो, वह निम्न किसी योनि में
जाकर दिखाई पड़े, पोंछकर स्मृति से
अपना अतीत एक साथ।

२—स्वेद-सनी बन गयी सलोनी तेरी रोटी।

अन्त में हमें यह देखकर सुख होता है कि सियारामशरणजी की कविता उत्तरोत्तर गम्भीर और प्रौढ़ होती जा रही है। उनकी पिछली कृति 'बापू' एक

महान् कविता थी—'उन्मुक्त' उससे भी महत्तर है। इस श्रेणी की कविता पिछले दो-एक वर्षों में कष्ट-प्राप्य ही रही है।

कवि सियारामशरण की काव्य-साधना अन्तर्मुखी है। उसमे चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है। बाह्य जीवन का उपभोग कम होने के कारण उसमे जीवन का वह खट्टा-मिट्ठा रस नही है जो उनके अग्रज मैथिली बाबू के काव्य मे है। परन्तु हर एक स्थान पर आपको तप पूत आत्मा का छना हुआ विशुद्ध रस मिलेगा, जिसमे चाहे स्वाद बहुत अधिक न हो, परन्तु शान्ति अनिवार्य है। गाधीवाद के दो पक्ष है—एक व्यवहार-पक्ष, दूसरा दर्शन-पक्ष। व्यवहार-पक्ष के कवि है मैथिलीशरण गुप्त और दर्शन-पक्ष के कवि है सियारामशरण। अथवा हम यह कह सकते है कि गांधीवाद के दो पक्ष है—एक ओज-पक्ष, दूसरा तप-पक्ष। ओज-पक्ष के कवि आज अनेक है। जिनमे नवीन अग्रणी है, तप-पक्ष का एक अकेला कवि है सियारामशरण गुप्त।

नकुल

[डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्]

सियारामशरण गुप्त अपनी लोकप्रिय कविता के लिए प्रसिद्ध हो चुके है। यह प्रसिद्धि उन्हे 'एक फूल की चाह' जैसी रचनाओ के कारण मिली थी। इन रचनाओ मे एक लघु-कथा रहती है, उसमे अत्यन्त सवेदनशीलता का मधुर स्पन्दन भी। करुणा का तीव्र मनोवेग कथा की रोचकता में मिलकर काव्य को आकर्षक बनाता है। सामाजिक स्थूल ऊँचा आदर्श उसे महत्त्वशाली बनाता है। इन काव्यो की लोकप्रियता का कारण वाक्वैदग्ध्य भी था।

पर, कवि मे विकास मिलता है। 'बापू' काव्य में कवि की कल्पना ने सान्तमूर्त मानव गांधी में विराट् को आश्रय देकर अपनी ऊर्ध्वगामिता सिद्ध की है। यह उसकी मेधा का दूसरा विकास है।

कवि, वह भी प्रगतिवादी कवि, ठहर नही सकता था। 'बापू' में 'गांधी' को समझकर और उस गाधी के द्वारा विश्व-जीवन के मर्म को समझकर वह उसी मर्म के सूत्र के साथ दूसरी भूमियो पर जाने को प्रस्तुत हुआ। 'नकुल' की यही उद्भावना हुई।

'नकुल' से हम सभी परिचित है। 'नकुल' पाँचों पाण्डवों में से एक है। 'महाभारत' मे 'नकुल' का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त मिल जाता है—जन्म से लेकर अन्त तक का। प्रस्तुत 'नकुल' काव्य में वह समस्त वृत्त नही मिलता—वह होता तो 'नकुल' एक महाकाव्य हुआ होता। इस नकुल में तो कवि ने 'महा-भारत' का एक बहुत छोटा कथानक लिया है। उस छोटे कथानक में नकुल के जीवन का कोई विशेष कार्य-कलाप महाभारत में भी प्रकट नहीं हुआ—गुप्तजी के इस 'नकुल' मे भी नकुल का कोई उल्लेखनीय वृत्त नहीं आया। फिर भी गुप्तजी ने इस खण्डकाव्य को 'नकुल' शीर्षक दिया है। ऐसा केवल इसलिए हुआ है कि कहानी का चरम-उत्कर्ष जहाँ पहुँचता है, वहाँ अनायास ही नकुल महत्त्वपूर्ण हो उठता है, और 'नकुल' जीवन-व्यापार की एक नयी व्याख्या की कुजी बन जाता है। नकुल के इसी महत्त्व को दृष्टि में रखकर नहीं, इसी महत्त्व को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित करने और उसकी नयी व्याख्या करने

के लिए ही प्रस्तुत काव्य की रचना कवि ने की है। नकुल का अर्थ कवि के समक्ष नये रूप मे उद्घाटित हुआ है और उसी के कारण काव्य मे एक नया प्रकाश आया है।

महाभारत के 'वनपर्व' मे यह कथानक इस प्रकार है·

पाण्डव अपना चौदह वर्ष का बनवास समाप्त कर चुके है। उन्हे अब अज्ञातवास करना है। इसी अवसर पर एक घटना घटी। पाण्डवो के पडोसी एक याज्ञिक ब्राह्मण की अरणि-मथनिका को सीगो मे उलझाकर एक हिरन भागा। तपस्वी ब्राह्मण को दु.ख से मुक्त करने के लिए पाँचो पाण्डवो ने हिरन का पीछा किया। हिरन लुप्त हो गया—पाण्डव चलते गये। इस दीर्घ प्रधावन के कारण उन्हे प्यास लगी। दूर पर एक तालाब था—वहाँ से पानी लाने का निश्चय हुआ। सबसे छोटा पाण्डव भेजा गया। वह तालाब मे पानी पीने और तूणीर भर कर ले जाने को तत्पर हुआ कि एक वाणी हुई कि रुको, पहले मेरे प्रश्नो का उत्तर दो, अन्यथा मृत्यु होगी। पाण्डव ने अवहेलना की, जल से हाथ लगाया और मृत्यु का ग्रास बना। दूसरा पाण्डव आया, तीसरा आया, चौथा आया—सभी का एक ही परिणाम हुआ—मृत्यु! तब युधिष्ठिर आये। उन्होने चारो भाइयो को तालाब पर निर्जीव पडा पाया। एक बार, कुछ क्षण के लिए, यह विचार उठा कि क्या दुर्योधन ने अपने गणो से यह तालाब विषाक्त करा दिया है। तालाब मे देखा एक सारस खडा है। उन्हे भी वह वाणी सुनाई दी। उन्होंने प्रश्नो के उत्तर दिये। प्रश्नकर्ता अदृश्य था। वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वरदान मे युधिष्ठिर से कहा—'मैं तुम्हारे एक भाई को जीवित कर सकता हूँ। जिसे तुम कहो उसी को जीवन-दान दूं।' युधिष्ठिर ने कहा—'नकुल को'। प्रश्नकर्ता ने पूछा—"यह क्यो ?" युधिष्ठिर ने कहा कि धर्म की प्रतिष्ठा यह चाहती है कि मेरी दोनों माताएँ पुत्रवती रहे। एक माता का पुत्र मैं स्वयं जीवित हूँ, दूसरी माता का पुत्र 'नकुल' और जीवित हो। इस उत्तर से प्रसन्न होकर प्रश्नकर्ता ने सभी को जीवन प्रदान किया। प्रश्नकर्ता स्वय धर्म था, वही हिरन बनकर पाण्डवों को यहाँ लाया था और इस तालाब का यक्ष बनकर उसने युधिष्ठिर के धर्म की परीक्षा ली थी।

यहाँ हमें यह बताने की आवश्यकता नही कि प्रश्न अथवा पहेलियों के उत्तरों से अभीष्ट-प्राप्ति की लोक-कहानी विश्व-व्यापी है—और महाभारत में उसी विश्व-लोक-वार्ता का एक रूप हमें मिलता है। हमारा भी प्रकृत विषय यह है कि गुप्तजी ने उस वस्तु का 'नकुल' काव्य में कैसा उपयोग किया है।

गुप्तजी के ये 'प्रारम्भिक' कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य है .

" 'नकुल' का आधार महाभारत का वनपर्व है। रचयिता ने मूल वस्तु का उपयोग स्वतन्त्रता से किया है । ऐसा उसने इस मान्यता से किया है कि देश, काल और अपनी रुचि के अनुसार पैतृक धन का उपयोग करने की छूट सन्तति को है ।···और यही कारण है कि इस रचना मे 'अपनी भावना के और अपनी कल्पना के अनुसार चलने मे' रचयिता को सकोच नही हुआ ।"

इसी 'प्रारम्भिक' मे अन्त मे कवि ने यह भी कह दिया है कि

"प्रस्तुत रचना को यदि अपने मे उल्लिखित उस पर्णकुटी का ही सौभाग्य मिल सका जिसे कुछ समय टिकने के उपरान्त पाण्डव-जन सूनी छोडकर चल देते है तो रचयिता का परिश्रम सफल है ।"

कवि के इन उद्धरणो से स्पष्ट विदित होता है कि कवि ने मूल कथानक मे अपनी कल्पना से घटाया-बढाया है । वह उसने देश, काल और निज रुचि के कारण किया है । उसका इस रचना के निर्माण मे प्रथम और प्रधान उद्देश्य सामयिक उपयोगिता है । किसी सामयिक उपयोगिता की पूर्ति के लिए जिस प्रकार पाण्डवो ने अपनी पर्णकुटी बनायी थी, उसी प्रकार की ही किसी उपयोगिता के लिए ही इस काव्य की रचना हुई है, वहाँ बन में पाण्डवों की कुटी भी थी, और फूल भी । कवि ने काव्य के लिए कुटी की उपयोगिता को उपमान चुना है, पुष्प की सुन्दरता को नही । यदि सामयिक उपयोगिता की पूर्ति इससे होती है तो कवि सफलता समझेगा—दूसरे शब्दो मे, वह शाश्वत अथवा युगयुगीन आदर को इस रचना में विशेष महत्त्व नही देता ।

प्रश्न यह है कि कवि ने मूल में क्या परिवर्तन किये है । इन परिवर्तनों को स्पष्ट करने के लिए पहले संक्षेप मे कथा-वस्तु देनी होगी । वह इस प्रकार है :

पाँचों पाण्डव और द्रौपदी जिस कुटी मे रहते थे, उसी के पास एक तपस्वी भी रहता था । उसके यज्ञ करने की 'अरणि-मथनिका' पेड पर टँगी हुई थी । एक हिरन आया, उस वृक्ष से उसने शरीर रगड़ा कि वह 'अरणि-मथनिका' सीग में उलझ गयी । वह व्यग्र होकर भागा । जैसे-जैसे वह भागता था 'अरणि-मथनिका' उछलती थी, और उसकी पीठ पर चोट करती थी । उस ब्राह्मण ने यह देखा तो बडा दुःखी हुआ । पाण्डवों की कुटी पर गया । वहाँ अकेले युधिष्ठिर थे । शेष चारो भाई और द्रौपदी आज बनवास के अन्तिम दिन इस बन के सुन्दरतम स्थल को देखने चले गये थे । यह स्थल अमृतह्रद नाम का एक तालाब था, जो अमृताचल पर्वत के एक शिखर पर था । आज प्रात. ही जब द्रौपदी स्नान करने गयी थी तो मार्ग में एक वज्रसेन से भेंट हुई । उसने

बताया था कि अमृतह्लद पर दानव रहता है, वह मनुष्यों को कष्ट देता है। पाण्डव समस्त दानवो को मार चुके थे—यह दानव कौन है ? उसे देखने और उस रमणीक स्थल का अवलोकन करने के लिए वे अमृतह्लद की ओर प्रस्थान कर चुके थे। युधिष्ठिर ने ब्राह्मण की कष्ट-कथा सुनी और वे हिरन का पीछा करने को चल पडे। हिरन की एक झलक उन्हे दिखाई पडी—बस। वे अपनी धुन मे चलते चले गये। यहाँ तक कि उन्हे प्यास लगी। पानी की खोज मे वे एक आश्रम मे पहुँचे। यह आश्रम अलकापुरी से निष्कासित मणिभद्र नामक यक्ष का था। युधिष्ठिर की यक्ष से बाते हुई। उसने बताया कि यहाँ का जल मत पीना। हस्तिनापुर का कोई मनुष्य इसमें विष डाल गया है। उसने यह भी बताया कि वह इन्द्रपुरी मे अर्जुन के दर्शन कर चुका है और तब से वह अर्जुन का भक्त है, और उनकी नगरी हस्तिनापुर के प्रति भी उसका आदर-भाव था। उसे आश्चर्य और खेद है कि उसी हस्तिनापुरी के मनुष्य ऐसा घृणित कार्य करते फिरते है। उसने यह भी बताया कि वह हिरन उसी का आश्रम-निवासी है, और वह 'अरणि-मथनिका' सुरक्षित है। यक्ष स्वय जब ब्राह्मण को अरणि-मथनिका लौटाने गया तब वह ब्राह्मण से जान पाया कि जिस महानुभाव से वह अभी बाते करके प्रभावित हुआ था वह कोई और नही युधिष्ठिर थे—अर्जुन के बडे भाई। अर्जुनादि चारों भाई और द्रौपदी अमृतह्लद गये है। इस सूचना से मणिभद्र को स्पष्ट हो गया कि हस्तिनापुर का जो मनुष्य जल में विष डाल रहा था, वह दुर्योधन का गण होगा और पाण्डवो को मार डालने के लिए ही वह ऐसा कर रहा होगा। तो अमृतह्लद भी विषाक्त हो सकता है। यह विचारकर वह तीव्रता से अमृतह्लद की ओर गया। सम्भव है, वह दुर्घटना होने से पूर्व ही उन्हे सचेत कर सके, यक्ष का अनुमान सत्य था। दुर्योधन के दुर्वृत्त नामक महत्त्वाकांक्षी गण ने वज्रबाहु नाम के एक व्यक्ति के सहयोग से अमृतह्लद को भी विषमय कर दिया था। इसी वज्रबाहु ने वज्रसेन बनकर द्रौपदी के मन मे अमृतह्लद देखने की इच्छा उत्पन्न की थी। ये दोनो अपने षड्यन्त्र मे पूर्णत: सफल हो चुके थे, क्योंकि चारो पाण्डव और द्रौपदी अमृतह्लद पहुँचकर विष पीकर प्राण दे चुके थे। इस सफलता ने दुर्वृत्त के मन में जो भावी ऐश्वर्य के मनोचित्र प्रस्तुत किये उनसे वह मदोन्मत्त हो उठा, वज्रबाहु उससे भी बढना चाहता था। दोनो मिले और झगड पडे, और परस्पर एक-दूसरे पर विष प्रयोग करके मर गये। उनके लड़ने की ध्वनि से आकर्षित होकर युधिष्ठिर अमृताचल पर चढ़े और मार्ग मे दोनों को मृतक देखकर वे समस्त रहस्य समझ गये। उन्हें भी भाइयों की चिन्ता हुई। वे

अमृतह्लद की ओर लपके। वहाँ भाइयों और द्रौपदी को मरा पाया। तभी यक्ष भी वहाँ पहुँचा। उसके पास, पुरस्कार में मिली हुई, अमृत की एक बूँद थी। वह बूँद एक को जीवित कर सकती थी। युधिष्ठिर ने कहा, नकुल को जीवन दो। यक्ष को आश्चर्य हुआ। युधिष्ठिर ने समझाया। यक्ष समझा और उसने नकुल को अमृत दिया। पर वह अक्षय अमृत था। नकुल को जिलाकर अमृत की वह बूँद फिर लौट आयी—इस प्रकार सभी पाण्डव जीवित हुए और प्रात होने से पूर्व ही 'अज्ञातवास' के लिए प्रस्थान कर गये।

कवि ने महाभारत के कथानक मे उक्त परिवर्तन क्यो किया, उससे क्या उपयोगिता सिद्ध की, आदि बातो के विवेचन से पूर्व तो यह विचारना आवश्यक है कि महाभारत के इस अंश ने ही कवि को क्यों आकर्षित किया ?

इसके लिए यह अनुमान करने मे तो कोई कठिनाई ही नहीं हो सकती कि चिरगाँव के इस कवि-कुटुम्ब मे इतिहास से अधिक महाभारत-रामायण आदि का विशेष गौरव रहा है। सियारामशरणजी का कुटुम्ब ही कवि है, और स्वाध्यायी भी है। महाभारत का पठन-पाठन होना अस्वाभाविक नही। जिस युग और जिस काल में कवि उत्पन्न हुए है, उसमे उपेक्षितों की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति विशेष लक्षित हुई। इस प्रभाव के कवियों ने अपने विषय के निर्वाचन मे पहले तो इस बात पर ध्यान दिया कि वह भारतीय गौरव का एक उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करने वाला हो। उसका कोई पात्र या स्वयं घटना उपेक्षित रही हो, अथवा बहुत प्रकाश में न आयी हो, और नयी-सी लगे। उसमे कुछ अद्‌भुत भी हो, और उसके द्वारा बुद्धि और हृदय को तुष्ट करने वाला कोई मानवता का सिद्धान्त और आदर्श प्रतिपादित तथा प्रतिष्ठित किया जा सके, और वह सामाजिक उपयोगिता के योग्य हो। तो सियारामशरणजी ने महाभारत पढ़ा होगा और वनपर्व में इस स्थान पर आये होंगे। इस कथानक के चरम-उत्कर्ष के स्थल पर 'नकुल' को अनायास ही पाकर वे चौंके होंगे। उन्हे इसमें उक्त बाते और सम्भावनाएँ विदित हुई होंगी। इस कथानक की ओर वे, हो सकता है, कुछ अग्रेजी पुस्तको के पृष्ठों से भी आकर्षित हुए हों। जिस अवस्था के श्री सियारामशरण गुप्त हैं, उस अवस्था के सभी विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी मे अनुवादित महाभारत का यह अंश कही न कहीं पढ़ने को अवश्य मिला है, और उसकी छाप भी अवश्य पड़ी है। पर उस अनुवाद से 'नकुल' नहीं उभरता—युधिष्ठिर की वह योग्यता और तत्पर-बुद्धि प्रभाव डालती है, जिससे वे यक्ष को, उसके प्रश्नों का उत्तर देकर, सन्तुष्ट करते हैं। यथार्थ यह है कि महाभारत की इस कथा को पढ़ते-पढ़ते 'नकुल' शब्द ने उन्हें आकर्षित

किया। वे इसका समय-परक एक अद्भुत अर्थ कर गये। उसी अर्थ मे सामयिक उपयोगिता का भाव उन्हे समझ पडा।

कोश की दृष्टि से 'नकुल' शब्द का अर्थ 'न्यौला', चतुर्थ पाण्डव, पुत्र, शिव आदि होता है। तो इस कोश के चतुर्थ पाण्डव तो नकुल थे ही—कवि ने इसके द्वारा 'न-कुल' इस समास विग्रह से 'कुल-गोत्र-हीन' का अर्थ भी ग्रहण किया। कृष्ण के वशीधारी बालरूप के दर्शन के समय कवि ने युधिष्ठिर के मन मे यह भाव पैदा किया है

ग्राम ग्राम में घाटबाट में भीतर-बाहर,
सुलभ रहेगा बाल रूप वह सबको घर घर।
न कुल न गोत्र न जाति सभी को होकर निज जन
देगा सबको भव्य भविष्यत का आश्वासन।

यहाँ 'नकुल' शब्द से वही अर्थ लिया गया है। कुल-गोत्र-हीन का अर्थ हुआ ओछा, छोटा, नीच, लघु। इस अर्थ से एक ओर छोटो का प्रतिनिधि 'नकुल' हुआ; दूसरी ओर छोटों से भिन्न बडे। इस प्रकार नकुल के आश्रय से कवि की दृष्टि मे मानव-समूह दो वर्गों में बँट गया—एक छोटो का वर्ग, दूसरा बडों का वर्ग। किन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि कवि ने दो वर्गों की कल्पना से 'वर्ग-सघर्ष' का वर्णन किया होगा। नही, कवि ने वर्ग-सघर्ष की स्थिति सर्वथैव स्वीकार नही की। उसने ऐसे दो वर्ग पृथक्-पृथक् नही माने जिनमे न तो परस्पर कोई नेह-सम्बन्ध है, न जिनमे कोई निजत्व है। कवि गांधीवादी है, उसकी मौलिक मान्यता जग को कुटुम्ब मानने की है: "वसुधैव कुटुम्बकम्", वह परस्पर-विरोधी हितों वाले वर्गों को खडा कर उनके नाश द्वारा वर्गहीन समाज का संदेश नही देना चाहता। वह 'हृदय-परिवर्तन' के धर्म में विश्वास करता हुआ 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' (ईशोपनिषद्) का हल प्रस्तुत करना चाहता है। इस सिद्धान्त की दृष्टि से 'नकुल' गुप्तजी के आकर्षण की वस्तु बना, अब उन्होंने इसी दृष्टि से कथानक का सशोधन प्रस्तुत किया। पहले तो उन्हें 'नकुल' को सबसे छोटा मानना पडा। महाभारत के युधिष्ठिर ने तो धर्म यही माना कि प्रत्येक माँ का ज्येष्ठ पुत्र जीवित रहे। युधिष्ठिर कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र थे, 'नकुल' माद्री के। किन्तु गुप्तजी तो नकुल की नयी व्याख्या करने चले है। उन्हे तो 'नकुल' को सबसे छोटा बनाना था। उन्होंने 'नकुल' से स्वयं ही ये शब्द कहलाये हैं :

पीछे आकर नहीं किसी विधि से मैं वंचित,
मेरा भाग्य सुदीर्घ चार अंकों तक संचित।

जिसका अर्थ स्पष्ट है कि वह चारो से छोटा था। इतना परिवर्तन उसने स्वीकार किया तो यह अडचन आयी कि कथा-सूत्र को किस प्रकार स्वाभाविक और सामयिक बनाया जाय। धर्म द्वारा यक्ष-रूप धारण करना और माया से सबको मूछित करना उसे 'धर्म' के स्वरूप की रक्षा के लिए ग्राह्य न हो सका। महाभारत की कथा के तात्त्विक अश की रक्षा तो उसे करनी ही थी—वह अंश द्वैधा था—एक तो एक ह्रद अनिवार्य, जिसका जल पीकर चारों भाइयो की मृत्यु हो, युधिष्ठिर बचे रहे। यह ह्रद मायावी न हो। दूसरे यक्ष हो, जिससे वार्तालाप हो युधिष्ठिर का; इसी यक्ष के द्वारा चारो भाई जिलाये जायँ। 'अरणि-मथनिका' वाला प्रसग भी अक्षुण्ण रहे। इस दृष्टि से 'ह्रद' तो उसने अमृताचल पर्वत के ऊपर 'अमृतह्रद' नाम से स्थित किया। पर्वत की कल्पना से वन की शोभा बढी, और ह्रद तक पहुँचने मे पात्रों को इतना समय भी लगा कि एक दीर्घ व्यापार समाप्त हो सका। उसके जल को पीने से मृत्यु भी स्वाभाविक हो सकती है जब जल विषमय हो। यहाँ 'महाभारत' में ही जो संकेत था कि युधिष्ठिर ने अनुमान किया कि क्या दुर्योधन के गणो ने जल विषाक्त कर दिया है ? इसी को कवि ने यथार्थ माना है और दुर्वृत्त को नियुक्त करके ह्रद को विषाक्त करा दिया, पर अब युधिष्ठिर की रक्षा कैसे हो ? इसी के लिए यह कल्पना की गयी कि इतने ऊँचे पर्वत पर भ्रमणार्थ ही वयोवृद्ध युधिष्ठिर क्यों जायँ ? वे कुटी मे ठहरें, शेष आनन्द प्राप्त करें। इस प्रकार दो दल हो गये। अब 'अरणि-मथनिका' का प्रसंग भी ज्यों-का-त्यों रह सकता है। हिरन सींग मे लेकर भागा और अकेले युधिष्ठिर ने पीछा किया। उन्हें यक्ष से मिलना आवश्यक था, अतः अवतारणा हुई कि वह यक्ष धर्म नहीं 'मणिभद्र' है। 'मणिभद्र' कौन ? युधिष्ठिर ने बताया है :

होगा पर मणिभद्र नाम से कौन न परिचित ?
गुंजित हैं वे वचन आपके गिरि-गिरि बन-बन,
जन-जन में सर्वत्र कर रहे हैं मधुवर्षण
धनपति ने जब पुरस्कार में किसी कार्य के
बहुत-बहुत मणिरत्न किये थे भेंट आर्य के
फेर दिया था उन्हें आपने निस्पृह रहकर;
वेतन से अतिरिक्त लाभ उत्कोचन कहकर।
'इष्ट नहीं है अधिक, मिल रहा है बहुतेरा;
मेरा अपना कार्य पारितोषिक है मेरा।'
इसी कथन पर मिला आपको यह निर्वासन

निर्वासित मणिभद्र अमृताचल के नीचे आश्रम बनाता है । वह हिरन उसी के आश्रम का है, वह विचरता हुआ पाण्डवों की ओर जा निकला है, तभी 'अरणि-मथनिका' की घटना घटती है, और युधिष्ठिर उसका पीछा करते हुए 'मणिभद्र' से मिलते हैं । किन्तु मणिभद्र महाभारत का धर्मरूप यक्ष नहीं । वह युधिष्ठिर की परीक्षा नहीं ले सकता । यही कारण है कि मणिभद्र के प्रश्न उसकी वास्तविक जिज्ञासा के द्योतक हैं । दुर्वृत्त और वज्रबाहु को कवि ने परस्पर लड़ाकर मार डाला है ।

ये परिवर्तन कवि ने मूलकथा में संशोधन करने के लिए किये । इन संशोधनों के साथ उसने कुछ परिवर्द्धन भी किये । दुर्वृत्त और वज्रबाहु भी परिवर्द्धन में ही माने जायेंगे । पर वे कथा की स्वरूप-रक्षा के लिए आवश्यक हो गये थे । पर काव्य के संदेश को पूर्ण, पुष्ट और कलामय बनाने के लिए कुछ और परिवर्द्धन करने पड़े । ये परिवर्द्धन दो प्रकार के हैं—एक तो कथा के शून्य की पूर्ति के लिए—कवि केवल कहानी कहने नहीं बैठा—उसे काव्य प्रस्तुत करना है । उसके लिए उसे कहानी के ढाँचे को भरना पड़ेगा । यह कथात्मक सज्जा ऐसी होनी चाहिए कि कलात्मक भी हो, उद्देश्य में सहायक भी हो, और कथा को गति भी दे । फलतः जब पाँचों पाण्डव और द्रौपदी बन में हैं, तो वे कुछ-न-कुछ करेंगे ही । क्या करेंगे उसकी कल्पना कवि ने यों की है :

द्रौपदी प्रातः उठकर सरिता-स्नान करने जायगी । वह मिट्टी की मूर्ति तो है नहीं, कुछ देखेगी, कुछ सोचेगी । देखेगी प्रातः शोभा, नदी, वन, अपनी कुटी—और क्योंकि चौदह वर्ष के बनवास का अन्तिम दिन है, और कल यह स्थान और कुटी उसे छोड़नी होगी—वह इसी दृष्टि से समस्त प्रकृति को देखकर विचार करेगी । स्नान करके लौटने के समय उसे वज्रसेन के रूप में वज्रबाहु मिल जायगा । वह अपनी बातों से अमृतह्लद देखने की उत्कण्ठा द्रौपदी में उत्पन्न कर देगा; अब द्रौपदी युधिष्ठिर की पूजा के लिए पुष्प-चयन करेगी ।

किन्तु आज द्रौपदी को समय से अधिक देर लग गयी है । कारण स्पष्ट है । तब युधिष्ठिर भाइयों से बातें करने लगेंगे, और बातें होंगी पारस्परिक प्रेम की और क्योंकि काव्य को 'नकुल' होना है, इसलिए इन बातों में घुमा-फिरा कर नकुल को महत्त्व देना पड़ेगा । यहाँ वात्सल्य का परिपाक होगा । उधर अर्जुन द्रौपदी को खोजने निकल पड़ेंगे, और फूल चुनते उसके प्रातःकालीन सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होते हुए उससे बातें करने लग जायेंगे और सरिता के किनारे भ्रमण करने चल पड़ेंगे । सामने पर्वत को अड़ा देखकर रुकेंगे, यहीं

द्रौपदी को उस पर्वत पर स्थित अमृतह्रद का पुनः स्मरण होगा, और वह आज अन्तिम बार उस स्थान की आनन्दयात्रा का प्रस्ताव कर देगी। वे लौटेंगे और युधिष्ठिर से आज्ञा पाकर अमृताचल यात्रा को चल पड़ेगे—युधिष्ठिर यह कहकर कुटी मे ही रह जायेंगे

हलके हो तुम तात, तुम्हीं चढ़ सकते ऊपर;
मुझे बहुत यह, रहूँ पार्वती के पद तल में।
कब अब मेरा भाग अम्बिका स्तन्य अमल में।

हम यह माने लेते है कि जब अर्जुन और द्रौपदी अकेले भ्रमण कर रहे है तब वे पति-पत्नी भाव से बाते करेंगे, विविध मनोरजक और प्रेम-पवित्र बाते। जब वे सब पर्वतारोहण कर रहे होगे तो बाते विनोद की होते हुए घूम-फिरकर फिर नकुल पर केन्द्रित हो जायेंगी, नकुल वंशी बजाना जानते है। उनका स्वर गूँज उठेगा। फिर थकावट आरम्भ होगी, फिर प्यास और फिर मृत्यु-ग्रास !

इस प्रकार कथान्तर्गत शून्य की समस्त पूर्ति हो जायगी, कवि को सन्तोष होगा, पर एक दूसरा परिवर्द्धन भी इस कवि ने किया है। उसने तीन प्रसंगों की अवतारणा स्मरण अथवा सस्मरण के रूप मे और करायी है। ऐसा उसे उद्देश्य को और सन्देश को पुष्ट करने के लिए तथा काव्य की एकरसता को दूर करने के लिए भी करना पडा है।

(१) युधिष्ठिर हिरन के पीछे चल पडे है। चलते-चलते उन्हें भी तो कुछ सोचना है। वन-वृक्ष-लता-पता-प्रकृति उनको कुछ देर उलझाती है, पर उनका ध्यान तो एक अद्भुत सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हो चुका है। वे वृन्दावन में पहुँच चुके है, वे बहुत पहले की बात स्मरण कर रहे है। वहाँ वंशी बजाते बालकृष्ण की अनोखी शोभा वे देखते है। गोपी मुग्ध है, हिरन भी मुग्ध हैं; और वे हिरन के अपने बन जाते है। हिरन के प्रसंग से यह स्मरण उन्हें हो आता है। इस दृश्य के द्वारा हृदय की प्रेमभरी मधुरता की शक्ति की छाप पड़ती है। युधिष्ठिर इस संदेश को शाश्वत समझते है।

(२) युधिष्ठिर और मणिभद्र मिल चुके है। मणिभद्र के लिए हस्तिनापुर नाम में विशेष आकर्षण है। युधिष्ठिर की जिज्ञासा पर मणिभद्र अमरपुरी का अपना वह संस्मरण सुनाता है, जब अर्जुन वहाँ गये थे, और इन्द्र के अतिथि बने थे। वहाँ उसने अर्जुन को देवताओं के चमत्कार और वैभव और ऐश्वर्य से बिना प्रभावित हुए अपने साधारण वेष में अविचलित और हृष्ट भाव से बैठे देखा था। उससे उसे कितना सुख और आत्मबल मिला था :

वहाँ—जहाँ जग रही महोत्सव दीपक-माला।
अन्तस् की यह ग्लानि, संगिनी इस जीवन की;
निराभरणता,—छाप दीनता की इस तन की—
गयी न जाने कहाँ निमिष में ही भीतर से,
रिक्त वेश में यहाँ पार्थ के दर्शन भर से।

वस्तुतः कवि ने इस प्रसग मे मणिभद्र के व्याज से स्वय गाधी जी की उस ऐतिहासिक इगलैण्ड-यात्रा का वर्णन किया है जिसमें गाधी जी अपने साधारण दैनिक वेष मे ही वहाँ के सम्राट् से मिले थे, और सम्राट् को उनके लिए सहस्रो वर्षो की पुरानी परम्परा तोड देनी पड़ी थी। इसमे मानव की महन्ता का भाव कवि ने अमर कर दिया है।

(३) पुष्प-चयन करती द्रौपदी से बातें करते समय—वन, लता, पुष्प के साथ द्रौपदी को देखकर अर्जुन को अपनी एक कैलाश-यात्रा का स्मरण हो आया। वहाँ, पार्वती के यहाँ उन्होने इसी भारतभूमि की एक कटकिता लता देखी—पार्वतीजी से वे पूछ बैठे—यह क्यो ? पार्वतीजी ने राम के साथ वनवास भोगती हुई सीताजी के दर्शन कर नेका अपना संस्मरण सुनाया—उन्होने देखा :

सीता सह श्री रामचन्द्र रघुवश दिवाकर,
इसी विजन में बैठ गये हैं एक शिला पर।
भाभी के क्षत चरण-कमल अवलोक व्यथायुत,
आगे पथ की टोह में गये हैं लक्ष्मण द्रुत।

× × ×

सीता के सन्निकट सुभागिनि लता यही थी,
शूल-शयन पर स्वर्ण-सुमन में फूल रही थी।
"आर्यपुत्र, यह विजन-लता फूली है कैसी,"
बोले राघव "विजन बीच शोभित तुम जैसी,"
सीता ने सप्रेम तभी वह पुष्प चयन कर,
किया समर्पित समाराध्य के पद-पद्मों पर।
जैसी भी हो देव—अधिक इससे क्या चाहे,
सीता अपना भाग्य इसी सा सतत सराहे।

और इस संस्मरण के द्वारा पुनः मानव की प्रतिष्ठा के साथ स्त्री का भाग भी इस छोटे से काव्य में कवि ने दिला दिया है। सकटों में घर-बार त्याग कर, वन और बीहड़ में, पर और अपरिचित प्रदेश में ही टकराती और भटकती

नारी को ही इसमे सदेश नही वरन् नारी के अमर समर्पण को कवि ने यहाँ वाणी दे दी है। 'नकुल' का यह संक्षिप्त स्वरूप है।

यह 'नकुल' काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। इसमें मानव की, लघु मानव की जय ही नही घोषित है, समग्र सृष्टि के प्रेम की पावनता का अधिकार सिद्ध किया गया है। कवि ने मनुष्य, पशु और प्रकृति का एक मनोरम कौटुम्बिक रूप खड़ा कर दिया है। वृक्ष, नदी, पर्वत सभी जैसे जीवन मे एक स्थान रखते है, उनमे भी जैसे एक उदारता है, पारस्परिक सहानुभूति का भाव जैसे उनमें व्याप्त है—हिरन का पीछा युधिष्ठिर कर रहे है—और चारों ओर अगम्य वन है—वहाँ उन्हे यह अनुभूति होती है

आगे पीछे इधर-उधर झाड़ी ही झाड़ी,
नीचे-ऊँचे सरस-शुष्क वृक्षों की बाड़ी।
इनमें मृग का हितू हुआ वह कौन अयाचित,
जिसकी छाया—यथा उठी उँगली का इंगित।
बता रही थी उसे सुरक्षित पथ आगे का ?

इसमें प्रकृति का यह सहानुभूतिपूर्ण सहयोग केवल अलंकार्य नही। वह यथार्थ व्यापार है, हिरन उस अगम्य वन में सुरक्षित मार्ग पाता चला गया—यह क्या बिना प्रकृति के सहयोग के सम्भव हो सकता था ? युधिष्ठिर की अनुभूति में प्रकृति का वह यथार्थ सहयोग एक सम्भावना के रूप में ही हुआ है, और उस सम्भावना मे वे विश्वास करके उस अज्ञात को धन्यवाद दे उठे है :

धन्य बन्धु अनजान प्राण लेकर भागे का,
नमस्कार है उसे !

पशु-पक्षियो के साथ यह कौटुम्बिक भाव कुछ ही आगे और स्पष्ट होता है, जब युधिष्ठिर के मन मे वहाँ की स्थिति से ये भाव जागृत होते हैं :

किस रहस्य की किये वनाली है रखवाली,
दिये हुए हैं अधर पल्लवों पर अँगुली-सी !
इसकी छाया-लटें लहरती हुई खुली सी,
उस जननी का स्मरण दिलाती यह मनभाया।
जिसका छौना कहीं उपद्रव कुछ कर आया,
इस डर से,—ले जाय न कोई शिशु को धरकर।
व्याकुल हो जो करुण भाव नयनों में भर कर,
'यहाँ नहीं वह !' ध्वनित यहाँ की नीरवता में।

प्रकृति की वन-शोभा में इस वात्सल्य-भाव की व्याप्ति प्रकृति के कौटुम्बिक

भाव को दृढ कर रही है। यह अवस्था प्रकृति की पशुओ के लिए ही नही, जो अपने है, सभी के लिए है—द्रौपदी पहले-पहल वन मे आयी तो उसे यह अनुभव हुआ :

इस वन मे, इस वनस्थली में मै जब आई,
मैया की-सी गोद यहाँ आते ही पाई।

प्रकृति के प्रति यह भावना भारत की दीर्घ परम्परा मे आती है। वनदेव और वनदेवी की कल्पना कितनी प्राचीन हे। तुलसी ने सीता के आश्वासन के रूप में कहा है :

वनदेवी वनदेव उदारा।
करिहहिं सास-ससुर सम सारा॥

और, गुप्तजी मे उसी प्रकृति की वनदेवी को साक्षात् 'माँ' रूप मे हम देखते हैं। यही नही, कवि इस बाह्य वात्सल्य के मनोमुग्धकर भाव से और भी ऊँचा उठकर प्रकृति के इस सम्पर्क को दिव्य बना देता है—विकल द्रौपदी वन की गंगा मे अनायास ही अपने को भूलकर एक आध्यात्मिक अनिर्वचनीय अनुभूति की लहर मे परिप्लावित हो उठती है। द्रौपदी विचार कर रही है :

तेरे तट पर इधर उधर इन तरु पुंजो में,
मृदु मारुत-मर्मरित विहग-कूजित कुंजों मे,
बैठी बैठी दूर देखती हुई दिगन्तर,
पाया जब तब, भरा भरा है मेरा अन्तर,
सुख था अथवा दुःख न निर्णय कर पाई वह।
अनुभव भर कर सकी अनिश्चित वह, निश्चित वह !
कह लो कुछ भी उसे भले उसके पल दो पल,
इस जीवन के अमृत बिन्दु बनकर है झलमल।

द्रौपदी अनुभव कर रही है, उन क्षणों में आत्मा में अमृत-भाव का संचार अवश्य हुआ—तभी वह कहती है :

पल दो पल वे, पता नहीं, किस ऊर्ध्व धरा से
टपके थे ज्यों काल वृक्ष के सुफल त्वरा से—

प्रकृति के इस वर्णन में कलाकार का उत्कर्ष स्पष्ट जगमगा उठा है। हमे साहित्य में प्रकृति के कितने ही रूप मिलते है। प्रकृति का उद्दीपन रूप हमे साहित्य मे बहुधा मिलता है, पृष्ठभूमि वाली प्रकृति का भी अभाव नहीं, अलंकार-रूप में प्रकृति को हँसते-रोते भी देखा गया है, कोई-कोई दार्शनिक नदी-नालों और वृक्षों में पठनीय पुस्तकों के दर्शन भी कर सका है, किसी-

किसी को प्रकृति पुरुष के आध्यात्मिक सम्पर्क का सकेत लिये मिली है। किन्तु सियारामशरण के कलाकार कवि ने प्रकृति को मनुष्य और पशु से अभिन्न कर कौटुम्बिक स्नेह और सहानुभूति के रस से ही अभिमण्डित नही किया, उसके द्वारा उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होने की शक्ति का भी उद्घाटन किया है, जो अभिनव है। प्रकृति के सौन्दर्याकन में इससे सात्त्विक भाव का जो रग चढ़ता है वह अनुपमेय है, आत्म-बल को दृढ करने वाला है और रुचि का परिमार्जक है। यही कवि की कला की परीक्षा होती है। यों प्रकृति को इसने भी कही-कही उद्दीपन, पृष्ठभूमि अथवा उपमान रूप मे प्रस्तुत किया है, उसकी आकार-सुषमा का आकर्षण प्रस्तुत किया है, पर वह सब प्रासंगिक हैं, यही भाव मौलिक है, और कवि के साथ यही यथार्थ है।

पर 'ऊर्ध्वधरा' के उल्लेख से यह भ्रम नही हो जाना चाहिए कि कवि किसी ऊर्ध्व से बहुत प्रभावित है। भावो के ऊर्ध्व धरातल मे विश्वास करते हुए कला में वह मानव और मानव मे ही 'न-कुल'-दीन-हीन किंकर की प्रतिष्ठा प्रस्तुत करता है। कवि और कलाकार ने अब तक मनुष्य से अधिक देव, और भूमि से अधिक स्वर्ग को महत्त्व प्रदान किया था। इसलिए हमारी समस्त प्रेरणाओ का उद्रेक इन्ही के द्वारा होता है।

कोई बहुत प्रसन्नता का प्रशंसनीय कार्य हुआ तो कहा जाता था·

बरसि सुमन हर्षहिं अमर

देवी-देवताओ द्वारा पुष्प-वर्षा हिन्दी-सस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध कवि-समय की भाँति गृहीत थी। स्वर्ग-प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य था। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि जीतने पर पृथ्वी भोगोगे, युद्ध में काम आने पर स्वर्ग भोगोगे। मनुष्य-देव का यह भेद जहाँ देवताओ को उत्कर्ष प्रदान करता था वहाँ मनुष्य में हीनता-बुद्धि और अकर्मण्यता को जन्म देता था। यद्यपि ऐसे भी स्वर साहित्य मे विद्यमान रहे हैं, जिनमें भारतभूमि की प्रशसा की गयी है और 'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' ऐसा भी कहा गया है। पर ये स्वर अत्यन्त मन्द और अस्पष्ट रहे। मानव और धरा में श्रद्धा का लोप और देवताओं तथा स्वर्ग-अपवर्ग में विश्वास—यह अब तक के समस्त भारतीय धर्मों का ध्येय रहा। अवतारवाद ने कुछ संशोधन तो किया, पर इससे भूमि का महत्त्व तो बढ़ा; भूमिपुत्र, पृथ्वीपुत्र, का महत्त्व नही बढ़ा। इस परम्परा ने तो मानव-आस्था नष्ट कर दी थी, और इधर आधुनिक वैज्ञानिक युग के बुद्धिवाद ने अमर और स्वर्ग मे से आस्था नष्ट कर दी। फलतः मनुष्य की पूर्ण मृत्यु हो गयी—न उसे इस लोक में विश्वास रहा, न उस लोक में। वह

छाया और प्रेतो में भ्रमने लगा। उसकी नीति का पेदा फूट गया। टाल्सटाय और गाधी ने मानव के इस महान् पतन को देखा—ये दोनो महान् कवि और द्रष्टा थे। जिसे न स्वर्ग का सहारा है, न मृत्यु का; वह अतल होकर कहाँ जायगा! तभी मानव की पुन प्रतिष्ठा की बात कही जाने लगी—मैथिली-शरण गुप्त ने पहले तो यह कहा कि मैं मनुष्यत्व को सुरत्व की जननी कह सकता हूँ। फिर राम को पृथ्वी पर अवतीर्ण करके कहा कि मै मनुष्यो को स्वर्ग ले जाने के लिए नही आया, वरन् यही स्वर्ग स्थापित करने आया हूँ। इसी कवि ने पहली बार 'नहुष' मे स्वर्ग को मनुष्य का भुक्तोच्छित—भोग करके त्यागा हुआ—जूठन कहा था। और तब उन्होने पहली बार खोये मानव को पुन प्रतिष्ठित करने का एक उद्योग किया था। इस युग का खोया मानव कैसे पुन. पाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है? सियारामशरणजी ने कहा कि उसका साधन यही है कि मानव और भूमि मे पुनः आस्था स्थापित की जाय। तभी उनका कवि अर्जुन के साथ दो बार दिव्यलोक मे गया है—एक बार इन्द्रपुरी मे—देवताओं के राजा के यहाँ, दूसरी बार कैलाश पर माता भवानी के पास। और प्रत्येक बार वह 'मानव की प्रतिष्ठा' के भाव में पुष्ट होकर लौटा है। पृथ्वी को वह स्वर्ग ले गया है, और वहाँ से पृथ्वी अपने गौरव के साथ, गौरव की छाप छोडकर अपने मे पूर्ण आश्वस्त लौटी है। मणिभद्र ने अर्जुन की उस स्वर्ग-यात्रा का वर्णन किया है—उस देवलोक में अलकापुरी का यह यक्ष भी हीनताभाव अनुभव कर रहा था—मणिभद्र ने उस अद्भुत दृश्य का वर्णन यो किया है :

बढ़कर आता गया पार्थवाही गज ज्यों-ज्यों,
लर-लर होता गया तरंगित मानस त्यों-त्यों।
अब समीप से देख धनंजय को मैं पाया,
नर तो पहली बार कहीं दर्शन में आया।
मुख में थी मुस्कान कि थी मुस्कान समुखमय,
उलझ गये उस एक सत्य में संकल्प-द्वय।
वह दिव-वैभव, प्रभामयी मणियों का मेला,
सुरपुर की सौंदर्य - तरंगों की वह खेला।
चकित नहीं कर सकी पार्थ को जैसे कण भर,
दमित न था ज्यों किसी हीनता में वह क्षण भर।
समासीन उस देव-द्विरद पर ऐसे वह था,
मानों उसके लिए सतत साधारण वह था।

और इस दर्शन ने मणिभद्र को अपने से तुलना करने पर बाध्य किया :

मै यह जो हूँ धनदपुरी का छोटा चाकर,
जड़ित तुल्य रह गया खड़ा विस्मय में आकर।
जिसके तनु पर न हो क्षुद्र मणि का भी गहना,
जिसने कर्कश कठिन वसन वल्कल का पहना।
धन में जिसके पास धनुष भर हो साधारण,
कर कैसे वह सका वहाँ निज दैन्य निवारण !

यही तो मनुष्य का, पृथ्वीपुत्र का, यथार्थ महत्त्व सिद्ध हुआ, और पृथ्वी-पुत्र मानव में यो पुनः आस्था लौटी :

धन्य धनंजय ! धन्य तुम्हारा शुभागमन यह
ऊर्ध्व लोक मे धन्य तुम्हारा समुन्नयन यह।
प्रकटित तुमने किया सहजपन से ही आके,
सच्चे सुत हो तुम्ही मृण्मयी वसुन्धरा के
उसके निम्न नितान्त सर्वसाधारण जनसम,
आये हो तुम यहाँ स्वर्ग में मान्य महत्तम।
करके निज को राज-वेश-भूषा से सज्जित।
किया न तुमने किसी धरित्री-सुत को लज्जित—

यह फिर वही स्थल है जहाँ कवि की कला के उत्कर्ष की परीक्षा होती है। मानव के इस उत्कर्ष में मानव के 'निजत्व' का आदर है, और इस निजत्व में मानव की अडिग आस्था ! इसी मानव के स्वभाव के धर्म में कवि ने यथार्थ उत्कर्ष अंकित किया है। देवताओ को उसने गिरने नहीं दिया। उनका अपना वैभव है, उनका अपना निजत्व है। उसमें साधारणतः हीनता-भाव उपन्न करने का आतंक है—और मानव उससे बचता है और अप्रभावित रहता है तो देवत्व स्वयमेव उस मानव के समक्ष दीन हो जाता है, अपने समस्त ऐश्वर्य की चकाचोध रहते भी चित्र मे यदि विकृत और कुटिल रेखाएँ डाले बिना सात्त्विक भाव महमह महक उठे, उभर उठे और सप्राण खड़ा हो सके तो कलाकार को आप क्या कहेंगे ? यहाँ तो उस मानव की इस विजय का उद्घोष एक यक्ष—एक अ-मानव कर रहा है—एक अन्य पुरुष—और उसकी यह विचारणा अर्जुन को समस्त मानवो का प्रतिनिधित्व प्रदान कर देती है :

उस दिन का सत्कार उन्हीं का न था अकेला।
इस अवनी में जहाँ कहीं भी हैं जितने जन,
न कुल न गोत्र, न जाति किसी में जिनका आसन
वे सब उसके संग हुए थे उच्च अधिष्ठित

जो कला यहाँ है, वह कैलाश-यात्रा मे पार्वती के मुख से सीता की प्रतिष्ठा मे भी है। एक चित्र मे इस कलाकार ने मनुष्य के वास्तविक महत्त्व को चित्रित किया है, दूसरे मे स्त्री के स्त्रीत्व को ! यथार्थ मे ये सब विशद व्याख्या चाहते है। प्राचीन चित्रो को नयी रेखाओ से इस प्रकार चित्रित करने की कला का बल क्या सहज ही आँका जा सकता है।

कवि का यह कला-सौष्ठव मानव-स्वरूप की यथार्थ अनुभूति में बाधा डालने वाले तत्त्वो को हटाने मे है। उसने देखा है कि मानव के स्वरूप की अनुभूति के स्पष्ट होने मे सबसे बडी बाधा 'हीनता' भाव के कारण है। यही हीनता-भाव मनुष्य के पतन का प्रधान कारण है। छोटे-बडे का, क्षुद्र-महत् का भेद ससार मे अवश्य रहेगा—वह किसी भी विधि, किसी भी प्रणाली से मिटाया नही जा सकता—'होगा निश्चय क्षुद्र-महत् का भेद भुवन मे' फलत 'लघु' अपने अहकार मे 'महत्' से, बडे से, स्पर्द्धा कर सकता है।

यह स्पर्द्धा-भाव हीनता-भाव-मण्डल पैदा करेगा ही। विषमता के कारण अनेक रोग और अनेक सघर्ष उत्पन्न होगे ही। आर्थिक विषमता दूर करने मात्र से मनुष्य समाज में सुख और शान्ति नही आ सकती। कवि की जो पक्तियाँ ऊपर उद्धृत की गयी है, उनमें से जैसे इसी आर्थिकवाद का प्रतिवाद झलक रहा है। आर्थिक विषमता तो अन्य अनेक अनिवार्य विषमताओ का एक परिणाम है। मनोविश्लेषण-शास्त्र की प्रतिष्ठापक फ्रायड-ऐडलर-जुग की आचार्यत्रयी मे से एक ने भाव-मण्डल (Complex) को भी सहजात माना है। यहाँ हमें आर्थिक विषम-वितरण के सिद्धान्त मे विश्वास रखने वालों के दर्शन की आलोचना नहीं करनी। कवि निश्चय ही यह मानता है कि मनुष्य के दुख का मूल कारण उसका हीनता-भाव-मण्डल (Inferiority Complex) है। इसी से उसमें तृष्णा, असतोष और अशान्ति होती है। मूल कारण स्वयं प्रकृति में है, वह अनिवार्य है, वह मनुष्य दूर नही कर सकता। उसको दूर करने का मूल-मंत्र एक है—उस मौलिक विषमता को यथार्थत. ग्रहण करना, और स्वस्थत· उस पर विचार करना। न तो अपने लघुत्व पर हीनता अनुभव करना, न महत्त्व पर अहकार। प्रत्येक का अपना गौरव है, उस गौरव को उसे निर्भ्रान्त उसकी निजी गरिमा के अनुकूल मूल्य प्रदान करना है। ऐसा करने से ही इस द्विविधा के युग मे मानव की अपनी खण्डित प्रतिमा का उद्धार सम्भव है। अर्जुन को अविचलित, अप्रभावित और प्रसन्न भाव से अपने ही दरिद्र-वेष में ऐश्वर्य के समक्ष उपस्थित कराके कवि ने यहीं हीनता-भाव दूर करने का प्रयत्न किया है। सुख और दुःख के सम-असम वितरण की चर्चा के वातावरण

में, जबकि दमित काम-कुण्ठा के चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हों, काव्य-कला द्वारा मानव-प्रतिष्ठा का यह स्वर अभिनव है, सौम्य और गहरा है ।

मानव को मानव बनाकर कवि ने अपनी भूमि की प्रतिष्ठा भी लौटायी है—अर्जुन ने अपनी कैलाशयात्रा के संस्मरण सुनाकर सीता के समर्पण का मर्म प्रकट किया । पुष्प के बहाने सीता ने राम के चरणों में जो समर्पण किया उसके स्मरण से पार्वती भी गद्‌गद हुई, और द्रौपदी को तो आत्मविभोर होना ही था । यह उस रसमय स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था, तभी उसने भी सीता की भाँति अर्जुन से कहा .

बोली वह—"प्रिय, और अधिक कृष्णा क्या चाहे,
इन सुमनों-सा भूरि भाग्य वह सतत सराहे ।"

पर इस समर्पण से ही पुरुष को यथार्थ बल मिलता है । अर्जुन भी गद्‌गद हैं :

और प्रियतमे, कृती आज अर्जुन भी है यह,
जो यों गिरि वन पार कर रहा है साध्वी सह ।

इस भाव-विमुग्ध मनोस्थिति में वह प्राकृतिक सुषमा, और उसी समय कोकिल की कूक ! द्रौपदी के हृदय में सुख और आनन्द का सागर उमड पडा ! उस क्षण के सुख से अधिक सुख फिर कभी मिल सकता है क्या ? वह क्षण सुख का चरम था । और तभी क्षणजीवी उमरखय्यामियों की भाँति द्रौपदी कह उठी ··········

प्राणेश्वर

यह वेला, यह सङ्ग और यह मंजुल मर्मर !
ऐसे ही में क्यों न प्राण-पिक भी उड़ जावें,
कूक चुका भरपूर, लोभ क्यों वृथा बढ़ावें ।

कवि ने प्रेमी के हृदय के सुख और आनन्द की मदोन्मत्तता यहाँ जैसे अविकल प्रस्तुत कर दीं है । हम द्रौपदी के हृदय में उठने वाली कोकिल की कूक-सी एक हूक का अनुभव करते हैं, उसके अन्तर में एक प्रकाश की झलमलाहट अनुभव करते है । द्रौपदी ने जो चाहा है, उससे अधिक और क्या चाहा जा सकता है ?

तभी कवि इस उन्माद को धीरे-धीरे अर्जुन की वाणी से उतारता है । यही वह अपनी भूमि का महत्त्व प्रतिपादित करता है, यहीं वह प्रतिष्ठित, अखण्डित मानव के कर्म का महत्त्व प्रतिपादित करता है, यहीं वह पलायन का विरोध करता है; क्यों हम इस भूमि को छोड़कर स्वर्ग जाने की सोचें ?—

निःशेषित क्या हुआ रसा का था जो जितना,
शूल-फूल का सुरस न जाने अब भी कितना।
एक अवधि गत हुई, दूसरी अभी अजित है,
यह दुर्गम उत्तीर्ण, अन्य वह समुपस्थित है।
सोहेगा क्या यहीं हमें यह भाव-पलायन,
लेने को है काल-करों के विपुल उपायन।

यहाँ तो एक के बाद एक काम प्रस्तुत है, उन्हे छोड़कर स्वर्ग की चाहना पलायन है—अर्जुन ने इसीलिए कहा :

विधि ने विरचे नहीं सिंह-सिंही उड़ने को,
उनके गौरव इसी मृण्मयी से जुड़ने को।

कायर ही पृथ्वी को, मैदान को, छोडकर भाग सकते है। वीर तो भूमि के ही लिए है—हमें अपनी भूमि और अपने स्तर पर ही रहना शोभा देता है·

यही उचित है, इष्ट हमें अपना ही स्तर हो;
भू पर उल्कापात, स्वस्ति-गृह है ऊपर जो !
हम अपने ही धरा-धाम के हैं अभिलाषी
मर्त्यभूमि में चाह चिरन्तन के आश्वासी,
फूल रहे हम इसी मेदिनी के फूलो में
झूल रहे ज्यों कण्ठहार बिध कर शूलों में।

दुःख और सुख में हमे अपनी मर्त्यभूमि ही वरेण्य है, अपनी मातृभूमि ही सेव्य है।

इस प्रकार आज के इस कवि ने मानव की 'खण्डित मूर्ति' पुनः अभिमण्डित की है, और अपनी ही इस भूमि और अपने ही कर्म में पुन. आस्था उत्पन्न की है। इतने महत्त्व की उद्भावना इनमें भरकर भी यह द्रष्टव्य है कि कवि ने इस प्रतिष्ठा को प्रासंगिक स्थान ही दिया है। वस्तुत· यह तो 'मानव' की प्रतिमा, विग्रह, वपु या रूप-रेखा है—अब तक तो यह भी कही नही था। मूल 'प्राण' तो आधिकारिक वस्तु में स्पन्दित मिलते हैं—दो स्थलो में वे 'प्राण' प्रकट हुए है। एक कृष्ण के बाल-दर्शन में, वंशीधारी कृष्ण के दर्शन मे, और उस दर्शन के सन्देश मे, दूसरे नकुल के वंशीधारण में। आदि का कृष्ण-दर्शन नकुल के वशीधारी अन्तिम दर्शन से मिलकर जैसे इस काव्य के आदि-अन्त को एक कर रहा है।

हीनता-भाव-रहित हो जाने पर स्वस्थ मानव-निर्माण मात्र से कर्म-व्यापार में अभीप्सित सुख नहीं मिल सकता। इस दुःख-सुखपूर्ण, प्रपंच-छलपूर्ण

गरल-अमृतपूर्ण वसुधा मे वशी का वह मधुर प्रेम भरा स्वर ही सार है, वही इस जग के समस्त भेद मे अभेद का विश्वास भर सकता है। युधिष्ठिर ने कृष्ण की वशी का वह स्वर सुना और वे उस स्वर मे रँग गये—युधिष्ठिर ने उस मुरली का ऐसा कौनसा विमोहक स्वर सुना और समझा था ?—युधिष्ठिर सोच रहे है :

> माधव, माधव, मात्र तनिक यह ध्यान तुम्हारा,
> बहा गया है रोम रोम में सुस्वर धारा,
> इस भव में बस जहाँ शर-क्षेपण की दूरी
> मानी जाती माप वीर के गुण की पूरी;
> लय-स्वर हैं निःशेष धनुष की टंकारों में,
> आक्रन्दित है हृदय पुरुष की हुंकारों में,
> वहाँ एक बस तुम्हीं अधर पर मुरली धरकर,
> फूंक रहे हो प्राण-प्राण में निज प्राण-स्वर,
> इतने में रस-धार बह उठी वह उर-उर की
> उस कदम्ब के तले बज उठी मोहक मुरली।
> × × ×
> दूर-दूर तक गयी वेणु-वादन की द्रुत लय
> जड़ तक चेतन हुआ, निखिल चेतन ज्यों तन्मय

मुरली का स्वर जड़-चेतन का प्राण था। पर इससे भी अधिक युधिष्ठिर ने अनुभव किया :

> वह मुरली जो खींच वनमृगी को भी लायी
> देकर जिसने अभय प्राण की भीति भगायी,

यह मुरली-स्वर का गूढ रहस्य है— उस स्वर से आकर्षित होकर वनमृगी क्यों चली आयी ? उस मुरली-ध्वनि में अभय का सन्देश था। प्रेम-माधुर्य के अतिरिक्त और 'अभय' का भाव कहाँ है ? कहाँ है अन्यत्र वह स्थान जहाँ प्राणो की भीति भाग सकती हो ? सेना, शौर्य, अस्त्र-शस्त्र और आतंक में विश्वास रखने वाले एक क्षण रुककर युधिष्ठिर की भाँति विचार तो करें—ससार के इतने दीर्घ इतिहास मे अस्त्र-शस्त्र का बल कब कितने प्राणियों को निर्भय कर सका है ? अस्त्र-शस्त्रों पर हम जितना अधिक विश्वास करते गये हैं, उतना ही अधिक विश्वासघात हुआ है—उतना ही भय अधिक बढ़ा है। वह भय बढ़ते-बढ़ते आज यहाँ तक पहुँच गया है कि अब कोई भी प्राणी अपने को कहीं भी निरापद नहीं समझता ! युद्ध प्रतिदिन घहरते सुनाई पड़ते

है, और उनके दुष्परिणाम को जीवन-यापन में प्रतिक्षण आज अनुभव किया जाता है। हाय री मृगतृष्णा! इसी मे तो विश्वास कर मणिभद्र ने अन्त में युधिष्ठिर से कहा था कि आप 'नकुल' को क्यो, अर्जुन को क्यो प्राण-दान नही दिलाते—मणिभद्र ने युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा :

ऐसे पुरुष प्रवीर (भीम, अर्जुन से अभिप्राय है) उदित होते हैं कब-कब,
इस जगती का दुरित दैन्य खोते हैं कब-कब ?
होते हैं अवतरित मूर्ति बनकर त्राता की
× × ×
रक्षक सब के और सभी से संरक्षित वे
होते है युग-काल-पुरुष ज्यों परिलक्षित वे।
छोटों का प्रतिपाल, वही उनका जीवन-प्रण।

जीवन-प्रण ही तो मनुष्य का धर्म होता है। तभी युधिष्ठिर बड़ों के धर्म का मर्म यो स्पष्ट करते है :

छोटे के भी लिए बड़े से बड़ा समर्पण—
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का सरक्षण !

छोटे के लिए बड़े से बडा त्याग करना ही यथार्थ धर्म है, किन्तु हो रहा है उलटा :

सरल सत्य यह, तदपि हाय ! उलटे पर मरती,
गरल ग्रहण कर निज-विरुद्ध जगती आचरती।
कथित बड़े जन सोच रहे हैं—इस भूतल के
जन जितने हैं जहाँ कहीं हलके से हलके,
रहने उनके लिए न देंगे संजीवन-कण,
सुख सब अपने अर्थ, अन्य का शोषण, शोषण।

यहाँ आकर कवि 'शोषण' शब्द का प्रयोग करता है, और इस शब्द द्वारा ही आज की स्थिति को भी उभार कर दिखाता है। तभी, वह आगे यह निदान प्रस्तुत करता है :

उन दलितों में प्रतिक्रिया विस्फोटित होती
दुःशासन में उभर शान्ति वसुधा की खोती
करना है यदि हमें यहाँ यह पाप निवारण
हो अभीष्ट सर्वत्र प्रेम का पूर्ण प्रसारण,
करना होगा बड़ा त्याग निज सुखजीवी को,
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को—

इसी को और परिपुष्ट करते हुए वे कहते है :

लेना होगा निखिल क्षेमव्रत निर्भय हमको,
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।
लघु से लघुतम कौन, नहीं यदि हों हम खोटे,
वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे,
उनका वह गाण्डीव घहरता रहता जब तक,
दुष्टजनों का हृदय हहरता रहता तब तक।
लुप्त हुए यदि वही, नीच होंगे उच्छृंखल,
फैल जायगा निखिल लोक में उनका शृंखल।

कैसी प्रभावोत्पादक युक्ति मणिभद्र ने दी है। ससार की रक्षा गाण्डीव और गाण्डीवधारी ही कर सकते है। और तब युधिष्ठिर अपनी स्वाभाविक दृढता से इस मृगतृष्णा को विच्छिन्न करते होते है :

सोच रहे हैं आर्य कि गाण्डीवी के खरशर—
कर सकते हैं शान्ति प्रतिष्ठित इस पृथ्वी पर।
मुझको तो विश्वास नही है रचक इसमें,
वेंगे कैसे अमृत बुझे, स्वयमपि जो विष में!

भला युद्ध से शान्ति मिल सकती है? युद्ध से युद्ध मिल सकता है, शान्ति नही। और संसार के इतिहास ने इसे सदा सिद्ध किया है। शान्ति का मार्ग तो त्याग का और प्रेम का मार्ग है :

धरना होगा आत्मदान के पावन मग को,
नवजीवन परिपूर्ण जिन्हें करना है जग को।

इस आत्मदान के भाव ने ही तो उन्हे 'नकुल' के जीवन की याचना के लिए प्रेरित किया और इस आत्मदान के साथ मानव-प्रतिष्ठा के साथ मानव-नव-निर्माण का सन्देश पूर्ण होता है। लघु को अपनी लघुता का क्षोभ नहीं होना चाहिए—पर मानव के नव-निर्माण के लिए जो बड़े है उनका एक स्वाभाविक दायित्व है—युधिष्ठिर कह रहे है :

उन्हें (बड़ों को) दैव ने दिया जन्म के साथ बड़प्पन,

छोटो के महत्त्व का एक और कारण भी युधिष्ठिर ने दिया है :

जितना आगे उदित हुआ है जो जन हम में
उतना आगे चला गया वह जीवन-क्रम में

अक्षय जीवन स्रोत हमारा उसके भीतर
चला गया है बहुत दूर तक इस अवनी पर।
यथाशक्ति सब भाँति उसे रक्षित रख निर्भय,
होती है उपलब्ध काल के ऊपर सुविजय।

छोटे की रक्षा, उसके लिए बडे-का-बड़े मे बडा त्याग ही वह मार्ग है, जिससे ससार मे कभी अशान्ति नही हो सकती; जिससे काल के ऊपर सुविजय प्राप्त होती है। त्याग ही हल है, सम-वितरण नही, यह भी यहाँ ध्वनि है। प्रस्तुत दृष्टान्त मे 'मणिभद्र' के पास अमृत की केवल एक ही बूँद तो है—और पाँच है वहाँ जिन्हे उसकी आवश्यकता है। सम-वितरण का सिद्धान्त यहाँ समस्या का हल कैसे प्रस्तुत कर सकता है। यहाँ त्याग ही हल है, और त्याग समस्त समस्याओं का हल है, और सब काल का हल है। और यह त्याग छोटों के पक्ष मे होना चाहिए। बड़प्पन का यथार्थ उपभोग इसी त्याग मे है—यही उपनिषद् के अमर वाक्य का सत्य सिद्ध होता है: 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'। यह त्याग स्वेच्छा से विचारपूर्वक युधिष्ठिर की भाँति होना चाहिए—और इसमें प्रेम परिप्लावित होना चाहिए। युधिष्ठिर ने मणिभद्र से आगे कहा है:

नकुल पड़ा है वेणु लिये जो अपने कर में,
उसे देखकर याद आ रहा इस अवसर में।
सोच रहा था बाल आज मैं मुरलीधर की,
मिले प्रथम वे मुझे फूँकते वेणु अधर की।

उस वेणु का अमर सन्देश ही तो युधिष्ठिर मे व्याप्त हो गया था और उनकी आस्था अटल हो गयी थी; तभी वे यह अपना अभिमत प्रकट कर रहे हैं:

देखा है, अब लिया उन्होंने चक्र सुदर्शन,
क्या इस हेतु कि पूर्व भ्रान्ति का करें प्रदर्शन?
नहीं-नहीं, वे प्रकट करेंगे—प्रेम प्रबल है,
ध्वनित करेंगे स्वयं, अन्य पन्था निष्फल है।

और यह है वह संदेश, वह स्वर, वह प्राण जो 'मानव' का, उसके कल्याण का यथार्थ रहस्य है। आज हमारे कवि युद्ध पर विचार करते हैं, किसी-न-किसी बहाने मणिभद्र की भाँति युद्ध का पोषण करते है—कोई उसे बायलाजिकल आवश्यकता बताता है, कोई उसे विकास की आवश्यक सीढ़ी समझता है, कोई उसे ऐतिहासिक और प्राकृतिक औषध सिद्ध करता है, कोई उसे प्राथमिक उपचार के रूप में ग्रहण करने का आग्रह करता है और भी न जाने कितने

'वाद' और कितनी युक्तियाँ युद्ध को पोषण करने के लिए साहित्य मे अवतीर्ण हुई हैं। पर इस कवि की यह कलामय वाणी, मूर्त, साकार, विचित्र चित्रों मे से अभिव्यक्त और प्रतिध्वनित होती हुई एक लघु किन्तु दृढ संकेत से मूल रहस्य को उद्घाटित कर रही है।

इस काव्य में कथानक भी है, घटनाएँ भी हैं, विविध चरित्र भी है और विविध रस भी; भाषा का मार्दव और अलकारों की कोमल साभिप्राय छटा भी, किन्तु इन सब मे से भी एक बात विशेष लक्षित होती है कि मूल-वस्तु और मूल-काव्य 'युधिष्ठिर-मणिभद्र' सवाद मे है। इसी का प्राधान्य है। वस्तुत· आज का कवि सवाद-प्रिय हो गया है। वह सवाद भी नाटकीय नही, 'जिज्ञासा-समाधान' का सवाद। युग मे उसका कारण निहित है। बौद्धिक प्राणी कार्य को महत्त्व नही देता, 'विचार' को महत्त्व देता है। युक्ति-तर्क-प्रमाण से वह जीवन-क्रम के सिद्धान्त को सुनिश्चित कर लेना चाहता है। उसी युगीन आवश्यकता की दृष्टि से कवियो को महाभारत-पुराण से ऐसे-ऐसे दृश्य निर्वाचित करते पड़ते है। ऐसे स्थलों और संवादों के नियोजन में सुकवि को बड़े कौशल का उपयोग करना पडता है, कही ऐसे वार्तालाप मात्र बातचीत, विचार या भाषण का रूप न ग्रहण कर ले? उसे इन संवादों में पात्रों के चरित्र का शील परिपूर्ण कर देना है। इस काल में गुप्तजी इस युग के समस्त कवियो को पीछे छोड़ गये है। काव्य-विधान मे इस 'नकुल' की समस्त घटना एक दिनभर की है; प्राय. सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक की। समस्त काव्य में युधिष्ठिर के चरित्र का सत्त्व मार्दवपूर्ण औदार्य के साथ अभिव्यक्त हुआ है। मैं इस कवि की इस कला को, जो अभी तक उपेक्षित रही है, उस समस्त श्रद्धा के साथ प्रणिपात करता हूँ, जिस श्रद्धा से समस्त जगद् के समस्त श्रद्धालु महात्मा गांधी के समक्ष नत होते थे।

'नारी' और 'त्यागपत्र'

[डॉ० नगेन्द्र]

प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास हिन्दी के मूर्धन्य पर आसीन होने योग्य नही है। 'गोदान' उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'गबन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि' आदि मे भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी मे इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नही प्रकाशित हुए। जो हुए वे उँगलियो पर गिने जा सकते है, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' इनमें कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

'त्यागपत्र' और 'नारी' दोनो ही मे एक नारी की कहानी है। त्यागपत्र एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और नारी जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल मे अतृप्ति है। दोनो ही हमारे सम्मुख एक अभुक्त वासना लिये आती है। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नही है। भाई का स्नेह, उसके स्नेह की कमी को भर नही पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है। पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताडना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एव पति की यन्त्रणाएँ इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती है। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रहकर उसके जीवन में एक अद्भुत गति और शक्ति का संचरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता, और वह एक उद्दाम तीव्रता लिये झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानो चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ

जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही एक तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंगमय नही है। कारण यह है कि उसमे आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नही मिला। आरम्भ मे पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद मे पति की उपेक्षा मे, गाँव वालो के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार मे उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कही हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नही खो पाती, जीवन की स्वीकृति का अपमान नही कर पाती। जीवन की चरम परिणति मे भी—जब वह पति का ध्यान छोड़ एक दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नही करती। उसके जीवन मे अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव मे अतृप्त और अभुक्त रहती है। परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप मे उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल थाले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नही रह गयी; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआँ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआँ बिलकुल नही है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल-प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों के रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली मे, गांधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते है। दोनों ही एक स्वर में कह उठते हैं :

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते हैं कि इसे दुख है। किसी को दुख ही दुख हो

तो वह ज़िन्दा कैसे रहे ? आज तो पूरा उपास करने की सोच ली है। आनन्द इसमे भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाय तो वास्तव में इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनो उपन्यासों मे आत्मव्यथा मे जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणो से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर उसमे आनन्द की भावना करना अहिसा है, और अहिसा यही सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त मे जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने मे अपनी मुक्ति समझती है। जमुना मे यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है। परन्तु दोनो के दृष्टिकोणो मे एक अन्तर है—नारी की विचारधारा मे समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु त्यागपत्र मे यह बात नही है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने मे भी वह समाज-नीति का उल्लघन न कर पाये। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमे पुर्नविवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज हे। इसके विपरीत त्यागपत्र मे सामाजिक मानो की अन्तिम स्वीकृति नहीं है। पति के होते हुए भी मृणाल अपने प्रति सद्‌व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती हे। और उत्तेजना मे आकर नही, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड़ जीवन मे प्रवेश करना शायद आत्मकल्याण के लिए उचित समझते है, परन्तु सियारामशरणजी समाज की मर्यादा भग करना श्रेयस्कर नही मानते।

दोनों उपन्यासों के मूल प्रश्नों को ऋजु-शैली से समझिए :

सबसे पहले दो नारियाँ अपने जीवन का सघर्ष लेकर हमारे सामने आती है और हमारे मन मे प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किसमे है—विवाह की मर्यादा मे, या प्रवृत्ति के उपभोग में ? प्रत्यक्ष रूप मे यही धारणा होती है कि सियारामशरणजी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष मे है और जैनेन्द्रजी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए भी प्रवृत्ति के ही समर्थक है। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मजिल है। त्यागपत्र और नारी का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नही आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमे मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वों के पार देखना पडेगा क्योकि त्यागपत्र और नारी स्पष्टत: ही सामाजिक समस्या के उपन्यास नहीं हैं। उनका—विशेषकर त्यागपत्र का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

त्यागपत्र के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि नारी में पाठक की दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक ठहरती है । मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज्यादा है, उसके जीवन मे सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्त्व तो रखती ही है । लेकिन फिर भी यह पहली मंजिल तो आपको पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा मे प्रवेश कर सकेंगे । यहाँ आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते है—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पाकर जैसे ये दोनो शुद्ध व्यक्ति रह जाते है और जीवन का समाधान ढूँढने मे व्यस्त दिखाई देते है ! विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है ।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप मे आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँचकर उसका निषेध कर देते हैं । सर एम. दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है । वह महसूस करते हैं : 'कहीं कुछ गडबड है । कही क्यों ? सब गड़बड ही गड़बड है । सृष्टि गलत है । समाज ग़लत है······इसमें तर्क नही है, सगति नही है, कुछ नही है । इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा ।"

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या···आ ?' यहाँ आकर अधिकांश संक्रान्ति-काल के विचारकों की भाँति वे घबराकर रुक जाते है । परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गांधी-नीति से प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का समाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उनके घट में उतर जाती है, इसमें मुझे सन्देह है । उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशरणजी के पास भी है । दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है; परन्तु क्रिया भिन्न है ।

सियारामशरणजी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा अनुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं । उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नही होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते है—लेकिन अन्त में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है । वे मानो इस प्रकार सोचते हों—पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है ।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फ़िलासफ़ी में विश्वास रखने वाले ये लेखक

दो विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूंढ निकालते है—जैनेन्द्रजी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरणजी प्रवृत्ति से लडते हुए।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनो व्यक्तित्वो के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अह स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान मे आस्था रखने वाले सियारामशरणजी मे अधिक आत्म-निषेध होना उतना ही स्वाभाविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरणजी की साधना अधिक हार्दिक है, नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व का अग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अह अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरणजी की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन मे संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन मे जमुना की अपेक्षा। सियारामशरणजी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक है। जैनेन्द्रजी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन मे सन्देह का सघर्ष अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं—सियारामशरणजी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरणजी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्रजी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल है। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं, अथवा किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहाँ तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नही। निदान, त्यागपत्र में जहाँ तीव्रता है वहाँ नारी में आर्द्रता है।

शैली में भी दोनो की वही सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी त्यागपत्र की शैली में तीखापन और वक्रता है, नारी की शैली में कोमलता और सरलता है। त्यागपत्र की कहानी जैसे दिल और दिमाग़ को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और नारी की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर-मधुर घुल

उठती है। त्यागपत्र की शैली में कठोर निर्ममता है, उसके कुछ क्षणो की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुँह की रंगत को बिगाडता हुआ तकलीफ के साथ जहर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे ? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ ज़हर को गट-गट कर जाय, तो आपको कैसा लगेगा ? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएँ ऐसी ही है। इसके विपरीत नारी की शैली मे घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्म-व्यथा मे विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव नारी की कहानी मे कोमल-स्निग्ध गति है। उसमे हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक है, हृदय को चीरने वाले स्थल नही है। नारी की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है—यहाँ तक कि कही-कही इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुकदमे कुछ कम होते तो अच्छा था, क्योंकि कहीं-कही वे कहानी को उलझा लेते है। नारी की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहाँ पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है।

त्यागपत्र मे जब मृणाल पति के घर से निकलकर एक कोयले वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठको की भाँति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षिता मध्य-वर्गीय बाला के लिए यह स्वाभाविक है ? क्या वह अपने पैरों पर नही खडी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिए किया ? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता थी तो क्या कोयले वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुजाइश नही थी ? यह सन्देह एक बार जरूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी समझदार पाठक के लिए असम्भव नही है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनशील मन अतिशय संवेदनशील हो गया है। बस, उस आखिरी धक्के से वह एक बार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बडे करोड़पतियों की स्त्रियाँ फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं ? और मृणाल के साथ तो यह स्थिति

मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेंज का परिणाम भी हो सकती है !! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रो को ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही होगी।

नारी मे भी एक स्थान सन्देहप्रद है। ज्यो ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरणजी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास मे प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नही है, परन्तु कथा के विकास मे इसका महत्त्व असदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नही मिल पाया।

यहीं आकार जैनेन्द्रजी और सियारामशरणजी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्रजी अपनी शैली के प्रति जागरूक है, प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होने इसीलिए सवेदना के मापक रूप मे सर एम. दयाल की सृष्टि की है। वे प्रभाव को तीव्र करते जाते है और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त मे मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम. दयाल जजी से इस्तीफा दे देते है। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसीलिए, जब कभी जैनेन्द्रजी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते है तो हँसी आ जाती है।

उधर सियारामशरणजी का लक्ष्य—कम-से-कम नारी मे—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नही किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नही होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहाँ एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिलकुल नही चौकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमे कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है ! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झनझनाता हुआ प्रवेश करता है।

त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और नारी का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

अप्रकाशित काव्य : 'गोपिका'

[डॉ० सावित्री सिन्हा]

'गोपिका' स्व० सियारामशरणजी गुप्त की अप्रकाशित काव्य-कृति है, जिसे उन्होने अपने स्वर्गवास से कुछ ही दिनो पहले पूरा किया था। इसे देव-कृपा ही समझना चाहिए, नही तो शायद 'गोपिका' भी प्रसाद की 'इरावती' और प्रेमचन्द के 'मंगलसूत्र' की तरह अधूरी ही रह जाती। 'गोपिका' का आरम्भ लगभग बारह वर्ष पहले किया गया था। ग्रन्थ के 'उपक्रम' मे उसकी रचना-प्रक्रिया का निर्देश कवि ने इस प्रकार किया है—'बीज रूप मे आकर गोपिका धीरे-धीरे अंकुरित हुई और दीर्घकाल तक पल्लवित होती रही। वास्तव में इसका निर्माण नही स्वत· प्रस्फुटन हुआ है। इसके पूरे होने पर मन में यथेष्ट सन्तोष है। पर परीक्षार्थी का कुछ आतंक भी मन में है, अच्छा ही है। परीक्षार्थी का यह भाव तभी फूटता है जब नम्रता के साथ यह विश्वास भी हो कि मेरी अर्जन-क्षमता यहीं समाप्त नही हो गयी और अभी और भी आगे का क्षेत्र मेरे सामने है।' उपक्रम का यह वाक्य इस बात का साक्षी है कि गोपिका उनकी साहित्यिक-योजना की अन्तिम कृति नहीं थी। अस्वस्थता और रुग्णता के अन्धकार को पार कर उनकी आत्मा प्रकाश की खोज में निरन्तर आगे बढ़ रही थी। शारीरिक अक्षमताओ से उन्होने अन्त समय तक हार नहीं मानी। अनेक आलोचक उनकी रचनाओं का मूल्याकन करते समय यह निष्कर्ष देते रहे हैं कि मैथिलीशरणजी की 'वट-छाया' से उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो गया और उनके साहित्य का उचित मूल्यांकन नही हो सका परन्तु स्वयं उन्होंने अनेक बार इस वट-छाया को वरदान कहकर स्वीकार किया है। गोपिका के उपक्रम मे भी इसी की आवृत्ति की गयी है—'आपका आशीर्वाद न होता तो सारी प्रक्रिया सम्भव न होती।' आनन्द की बात है कि श्रावण शुक्ला तृतीया को यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है जो आपकी जन्मतिथि है।'

कृष्ण-भक्त कवियों का शृंगार-काव्य आध्यात्मिक है ?

गोपिका एक उद्देश्य-प्रधान काव्य है; अपार्थिव, मधुर भाव जिसका प्रतिपाद्य विषय है। अपार्थिव आलम्बन के प्रति पार्थिव भावनाओं के उन्नयन की जो अभिव्यक्ति मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य में हुई, उसे अलौकिक या

उज्ज्वल अनुभूति के रूप में ग्रहण करना आज के बुद्धिवादी के लिए तनिक कठिन पड़ता है। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत वर्णित शृंगार-काव्य के अध्ययन-अध्यापन में सदैव यह समस्या मेरे सामने रही है, क्योकि उसका रसास्वादन हम लौकिक अनुभूतियों के आधार पर ही कर सकते है। सूर द्वारा वर्णित सयोग-शृगार की लौकिकता के आध्यात्मिक प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए जब-जब रसमयी व्याख्याओं के बीच, ब्रह्म और जीव, आत्मा और परमात्मा को लाने का प्रयास किया गया है, तभी कक्षा के सभी छात्र-छात्राओ के ओठो पर उनके अविश्वास और उपहास की द्योतक मुस्कान फैल गयी है। खण्डिता-प्रसंग, मिलन-लीला, आँख-समय तथा इससे भी अधिक अनुल्लेखनीय अश्लील प्रसगो की स्थूलता में 'मधुर' रस और अपार्थिव आलम्बन की अलौकिकता लुप्त होकर रह जाती है। 'मोदलता', 'चचलता', 'प्रेम-सखी', अथवा 'चन्द्रसखी' बनकर कृष्ण को प्रियतम, जेठ या देवर मानकर उनकी उपासना की आध्यात्मिकता में विश्वास बडी मुश्किल से भी नही होता; 'गवाक्ष-दर्शन', 'कुंजलीला' और भी अन्य लीलाएँ, आज के बुद्धिवादी को मध्यकालीन विकृतियों और विलास-प्रधान जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति मात्र जान पड़ती है। तद्-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों से मस्तिष्क को सस्कृत करके इस काव्य के अलौकिक रस को ग्रहण करने का जितना ही अधिक प्रयत्न मैंने किया है, मेरे हृदय और मस्तिष्क की खाई उतनी ही बढ़ती गयी है। अलग-अलग इस दर्शन की ऊँचाई और गहराई दोनों का प्रभाव पडता है, तथा कविता भी शृंगार की दृष्टि से हृदय को अभिभूत कर देती है, लेकिन, दर्शन और रस इस रूप में कहीं संपृक्त नहीं हो पाते कि मैं विश्वास कर लूं कि यह शृगार रस न होकर मधुर रस है; उज्ज्वल रस है। पहली बार मेरे मन पर कृष्ण-भक्ति के राग और दर्शन का संपृक्त प्रभाव तारा बाबू के बंगला उपन्यास राधा के कुछ स्थलों द्वारा पड़ा और तभी पहली बार मेरे 'दुष्ट सहृदय' ने शृंगार और मधुर रस में अन्तर की थोड़ी अनुभूति की। वहाँ कुछ ऐसा मिला जो शृंगार रसानुभूति से भिन्न अलौकिक मधुर और उज्ज्वल था। 'गोपिका' में वह उज्ज्वलता, वह माधुर्य आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। मध्यकालीन भक्त कवियों ने जिस मधुर भाव की उज्ज्वलता को स्थूल शृगारिक क्रीड़ाओं के आवरण में लपेटकर प्रच्छन्न कर दिया था, सियारामशरण गुप्त ने उसके अपार्थिव माधुर्य को अपनी विमल भावनाओं और कल्पनाओ द्वारा निखार दिया। इस दृष्टि से 'गोपिका' का स्थान हिन्दी साहित्य मे अन्यतम है। द्विवेदी-युग में पौराणिक आख्यानो और पात्रों के आधुनिकीकरण द्वारा नये

आदर्शों, नये जीवन-दर्शन और नये व्यक्तियो की प्रतिष्ठा की गयी थी। मध्य-कालीन कृष्ण-भक्ति की रीतिकालीन अभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया तो विशेष रूप से कठोर थी। इसीलिए भागवत के कृष्ण की जगह महाभारत के कृष्ण की प्रतिष्ठा की गयी और राधाकृष्ण समष्टि-चेतना की लहर में राष्ट्र-नायिका और लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सियारामशरणजी ने यह काव्य आधुनिकीकरण के उद्देश्य से नही, एक अत्यन्त प्राचीन भारतीय भाव-परम्परा की पुनः प्रतिष्ठा और परिष्करण की दृष्टि से लिखा है—जिसके मूल मे है पूर्ण समर्पण, अह का विगलन और वह सामजस्य-दृष्टि जो समग्र विश्व के साथ अपनत्व स्थापित करके चलती है।

यह अपार्थिव प्रेम, भक्ति की उस सीमा पर पहुँच गया है जहाँ कामनाएँ द्वन्द्व और सघर्ष की स्थिति से परे स्निग्ध, सात्त्विक, परन्तु तीव्र हो गयी है। 'गोपिका' की मुख्य नारी पात्र (नायिका शब्द उसके लिए मांसल पड़ता है) 'इन्दु' के व्यक्तित्व मे अपार्थिव प्रेम के ये सभी आदर्श उतारे गये है। उसका प्रेम सार्वभौम और सार्वकालिक है, वह व्यक्ति नहीं प्रतीक है—उस सनातन प्रेम-साधना का जो ससीम को असीम बना देती है; जिससे शरीर और समय की सीमाएँ टूट जाती है :

' 'इन्दु' के रूप में नही वह सीमाबद्ध—क्या वह इसी शरीर की है—एक इसी क्षण की ? कब से न जाने जन्म-जन्मान्तर एक साथ उसमें ये जाग उठे। कितने असख्यों मे एकाकार एक वह अमृत चुवा रहा है न जाने यह वेणु वहाँ कब से।'

इस प्रसंग मे भी सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ससीम के इस विलय की अभिव्यक्ति सियारामशरणजी ने कृष्ण-भक्ति में स्वीकृत और प्रयुक्त रागात्मक तत्त्वों और परम्पराओ के माध्यम से ही की है, परन्तु उनके हाथों वे परम्पराएँ और वे राग-तत्त्व निखर कर परिष्कृत हो गये है। अपने अग्रज श्री मैथिलीशरणजी की ही तरह परम्पराएँ उनके सस्कार में है। मैथिलीशरणजी ने षड्ऋतु और बारहमासे के चौखटे को आधुनिक रूप से सजाकर तथा यथार्थवादी स्पर्श देकर उसे स्वाभाविक, सुन्दर और आकर्षक बना दिया था, सियारामशरणजी ने कृष्ण-लीलाओ और नायिका-भेदो के चौखटे के पुराने विलास-संस्पर्शित रंगों को मिटाकर उनके स्थान पर कोमल, सात्त्विक विमल और दीप्त रग चढ़ा दिये हैं। जिन पनघट लीलाओ, माखन-चोरी और कुंज-लीलाओं का चित्रण कृष्णभक्त कवि, नैन-सैन, गोरस-दान, छेड़छाड़ इत्यादि

के बिना कर ही नही सकते थे उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की अनेक उक्तियों द्वारा की गयी है :

पी कर किस महुए की महूक,
प्राणों की कोयल उठी कूक।
यह स्वर-शर-दुरागत अचूक,
मेरे झिर-झिर झर-झर प्रभात।

अनेक स्थलों पर दार्शनिक स्पर्श देकर भी लौकिक राग मे अलौकिकता का समावेश किया गया है। कृष्ण की उक्ति है

'एक दूसरे के अनुसारी हम, खोजते फिरे है एक दूसरे को—गाँव-गाँव, घर-घर और जन-जन में। जब तब चित्र मे प्रतीति हुई—पा लिया है, पा लिया है—तो भी यह मिलन सुदुर्लभ है। ब्रज के गोपाल का अनिंद्य गोप बाला से।

सतत प्रमोदमयि दासी नही, तू सुचिर संगिनी है और चिर सहचर सखा हूँ मैं।'

'गोपिका' में निशाभिसारिका, दिवाभिसारिका, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, सद्यःस्नाता इत्यादि नायिकाओ के इतने निर्मल और स्वच्छ चित्र खीचे गये है कि काम का उद्वेग-पक्ष बिलकुल गौण ही पड़ गया है। भावनाओं की तीव्रता को काम की उद्विग्नता से इस प्रकार पृथक् कर सकने की सामर्थ्य केवल सियारामशरणजी मे ही थी। इस प्रसंग मे कुछ उद्धरण देना अनुचित न होगा।

निशाभिसारिका

फहर दुकूल रहा······कच गुच्छ हिलते है, डुलते है। मानो पंख फूटे हो, उड़ती-सी जाती हूँ।

अनजाना स्थान, कृश पगडण्डी वह पीछे कही लौट गयी······सुभगा सहेली सम मीठी थपकी से प्रियतम के निकेतन मे ठेलकर चुपचाप। इन्दु बढ़ती ही गयी जैसे कृष्ण पक्ष के घनाघन दिनों से रात्रियों से घिरे श्यामल निकुंजो में सुधांशु-कला।

सद्यःस्नाता

'उर तक उल्लोलित जल बीच सरसी मे पद रोप अलकें समेटकर ऊली वह और उन्हें पीठ पर उसने उछाल दिया···चुन एक इन्दीवर उपल कठोर सीढ़ियों से वह ऊपर की ओर चली मृदु, मन्द गति से।'

दिवाभिसारिका

'प्रिय की दिवाभिसारिका हूँ। मैं जाती हूँ खुले मे आज निःसंकेत। इन्दु

बढ़ी जा रही है गोवर्धन गिरि के विजन मध्य धूप धुली जागृत दोपहरी-सी, बिन्दी लगे भाल पर स्वेद कणिकाएँ है। जब तब धूप के झलकने से उनमें नवांकुरित होती है, दिवाकर की किरणें—तप से पसीज रही—पीठ पर कसे कंचुकी के बन्ध—उन पर गति लोल कच-गुच्छ केसरिया चूनर के भीतर झलकते। लक्ष्य का पता नही है—तो भी लगता है बेध सकते है उसको ये दीप-शिख इसके नुकीले नेत्र।'

खण्डिता का उदात्तीकरण

मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवि इस प्रसग मे, कृष्ण की पगड़ी में लगे हुए जावक, मुख पर लगे काजल और पीक तथा नख-क्षतो के चिह्नों के बिना बात नही करते। उसी प्रसग को सियारामशरणजी ने कितना पुण्य और पवित्र बना दिया है। दूसरी गोपिका मंजुला के यहाँ कृष्ण को जाता समझकर इन्दु कहती है:

"श्याम बस श्यामिका ही पोत देना जानते हो। सोचती थी मेरे भुजपाश में हो, सोचती थी क्या-क्या कुछ······। छोटी खगी चन्द्र के लिए उड़ी गगन में। तो······अब अंगारे चुगे।"

एक नाटकीय स्थिति के निर्माण के द्वारा इस प्रसंग को स्वाभाविक और मधुर स्पर्श दिया गया है। इन्दु, अपनी चिन्ता मे तन्मय है कि लौटकर कृष्ण कहते है:

"वल्लरी स्वरूप इस छाया में छिपी थी तुम। निकल यहाँ से गया वंचित कुछेक दूर, भूल तब जान पड़ी, लौट यह आया मैं। तू यह अरूप की भुजाओं मे बँधी थी यहाँ देख अब सामने सगुण को। आँख-मिचौनी में देख जीता मैं ही।"

"जीतोगे न क्यो भला—पुरुष हो जीत है तुम्हारी ही······बनी है हारने के लिए हम ये······"

"तुम उन नारियो में नहीं, झीखतीं जो कर के रुदनमात्र; देखती जो हीनता ही अपनी। मंजुला के घर भी जाना है······चलती हो साथ······"

"मैं साथ चलूं? पटक न दूंगी मटकी मैं उसकी।"

"पटक सकोगी इन्दु! चाहता हूँ बन सको ऐसी ही। तोड़ोगी तभी तो जोड़ने की शक्ति पा सकोगी। तब न कहोगी सदा जीत है पुरुष की ही, हारने को हम हैं।"

मर्यादित, व्यक्तित्वनिष्ठ और व्यापक प्रेम-भावना

'गोपिका' में व्यक्त प्रेम-भावना में स्वकीया-परकीया का, ग्राम्या और

नागरी बालाओ का भेद मिट गया है। रुक्मिणी और सत्यभामा गोपिकाओ का प्रेम-भाव स्वय प्राप्त कर लेने को उत्सुक है। गोपिकाओं के हृदय मे कृष्ण की इन परिणीताओ के प्रति श्रद्धा और प्रेम है, उनकी कल्पना मे कही द्वन्द्व और संघर्ष नहीं है। सत्यभामा और रुक्मिणी मुकुन्द को जन-जन के लिए अर्पित करती है। रुक्मिणी, लक्ष्मी और इन्दु को एक-दूसरे का प्रतिरूप चित्रित करके कवि ने भावनाओं के सार्वभौम ऐक्य की स्थापना की है। अनेक स्थलों पर उनके प्रेम मे द्विवेदी युगीन नारी-भावना के मर्यादित प्रेम का स्पर्श भी मिलता है। यशोधरा की भाँति ही इन्दु के मन मे मान है कि कृष्ण उसे बताकर क्यो नही गये :

"मोदू से कहा, कह देना जा रहा हूँ फिर कभी आऊँगा।" "चले गये, पहले कहा क्यो नहीं, डर था क्या रोककर बाँध लेती ?"

मध्यकालीन गोपियों की भाँति सोलह श्रृंगार सजाकर प्रियतम को रिझाना ही उनकी "गोपिका" का उद्देश्य नही है, उसके प्रेम मे आत्मविश्वास है। इन्दु अपनी सखी रुचिरा से कहती है

"हेम हार रत्न मणि पहना दे मुझे—पुतली बनाना है बना दे। कहती हूँ इतना ही सखी हूँ मैं प्रिय की। भलीभाँति जानती हूँ, खेल के खिलौने उन्हे रुचते तो मेरे लिए धूप मे दौडकर वे आते नही।"

दूसरी गोपिका मजुला के शब्द हैं

"जो श्रृंगार बेला ने किया था कुरबक, कुन्द और यूथिका के फूलों से—हरि के अदर्शन से वह परिम्लान हुआ। मैं भी बची सज-धज की लज्जा से।'

विरह-साधना के स्पर्शों के द्वारा इस प्रेम का रूप गम्भीर गरिमापूर्ण हो गया है; प्रेम की विवशता और गम्भीरता एक साथ इन पक्तियों में व्यक्त हुई है ·

"रुचिरा—यह क्या इन्दु ? यह क्या ? दृग क्यो छल-छल है ? भूल मत अपना ही कहना—मैं उनमें नही हूँ जो रोती है। रोना जितना था रो चुकी है मेरी पूर्वजाएँ ही।

यह नलिनी, एक यह सूखती है और दूसरी सलिल में तुरन्त फूट पडती है ! यह साधना है जन्म-जन्म की युगानुयुग कल्प की। सूखती है जिसमे नवीन को चिरन्तन को फिर-फिर फूला खिला देखें—हम पा सके।"

" 'गोपिका' में व्यक्त अपार्थिव श्रृंगार को पढ़कर बापू (सियारामशरणजी गुप्त) का एक प्रश्न याद आ गया। "आपको भी श्रृंगार की रचनाएँ अच्छी लगती हैं ?" उस समय मैं अपने परम्परायुक्त संस्कारों से प्राप्त शील-

सकोच और बापू के प्रति असीम श्रद्धा के कारण 'हाँ' नही कर सकी और 'न' कहने मे मिथ्या-भाषण का भय था। आज, उस प्रश्न का उत्तर मेरे पास है। बापू होते तो मै कहती 'श्रृंगार' अच्छा लगता हो या नहीं, काम्य यही है जो 'गोपिका' मे है।''

प्रेम का अलौकिक प्रभाव

यह तो हुआ गोपिका के प्रतिपाद्य का एक पक्ष। इस मधुर भाव के समकक्ष और विरोध मे, दुर्जय और 'क्रूर' नामक दस्युओ के अमानवीय काण्ड रख दिये गये है। दुर्जय, रुक्मिणी से विवाह करने मे असफल युवक है, जो कृष्ण से प्रतिशोध लेने के लिए तत्पर है—इन्दु में उसे रुक्मिणी की छाया मिलती है और वह उसे अपनाने के प्रयत्न मे लग जाता है। 'क्रूर' नामक पात्र पिता द्वारा निर्वासित किये जाने पर दस्यु-वृत्ति अपना लेता है। कृष्ण के चले जाने के बाद ब्रज के सास्कृतिक और नैतिक पतन के चित्र भी खीचे गये है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गोपिका' लिखते समय चम्बल घाटी के दस्युओं की समस्या तथा विनोबाजी के हृदय-परिवर्तन का प्रसंग उनके अवचेतन में थे। मधुर और कठोर का यह संघर्ष नूतनता की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है लेकिन व्यावहारिक यथार्थ-भूमि पर उसका अधिक अर्थ नही है। मधुर भाव अपने मे चाहे जितना पवित्र गम्भीर और निर्मल हो परन्तु विश्व में प्रबल रूप से छायी हुई क्रूर प्रवृत्तियों का निराकरण करने में समर्थ नहीं हो सकता—वह एक-दो व्यक्तियों का हृदय भले ही छू ले लेकिन समष्टि-स्तर पर उसका समाधान ढूँढ़ना अव्यावहारिक और यथार्थ से दूर है। प्रेम के आध्यात्मिक और अलौकिक प्रभाव से दुर्जयों और क्रूरों की वृत्तियों को बदलना अब केवल पौराणिक विश्वासमात्र रह गया है।

कुशल प्रबन्ध-योजना

गोपिका की प्रबन्ध-योजना सुन्दर है। अधिकतर कहानी पूर्वस्मृतियों के वर्णन तथा विभिन्न पात्रों के दिये हुए वृत्तान्तों द्वारा आगे बढ़ती है। उसकी कथावस्तु घटित कम है वर्णित अधिक। कृष्ण की लीलाओं में अनेक काल्पनिक तत्त्वों का समावेश करके उन्हें सुन्दर, स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाया गया है। इन काल्पनिक और मौलिक उद्भावनाओं से कथा आकर्षक बन गयी है। आख्यानों की भाँति ही गोपिका में काल्पनिक पात्रो की संख्या प्रख्यात पात्रों से अधिक है। काल्पनिक तत्त्वों के योग के द्वारा ही सियारामशरणजी कृष्ण-कथा की बँधी-बँधाई सीमाओं से बाहर निकल सकने में समर्थ हुए है।

'गोपिका' मे ब्रह्म और जीव के अंश-अंशी सम्बन्ध तथा अद्वैत की स्थापना भी की गयी है ।

"दुर्जय चला जा रहा है, रुक्मिणी के साथ राजरथ पर और ये है निम्बा, ये स्वस्ति और इन्दु जीजी एक साथ—एक रूप सब के सब श्रीगोपाल ।"

वैयक्तिक भक्ति-साधना का अन्तर्भाव समष्टि-साधना मे करके सद् से असद् प्रेम से घृणा पर विजय-प्राप्ति के सन्देश के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है । कृष्ण की उक्ति है ·

श्री सुरभि पथ पर सचय के साथ-साथ त्याग का उपार्जन करो; सप्रेम निस्सन्ताप जूझना है पक्ष-प्रतिपक्ष के समस्त दुर्जयो से—सभी क्रूरो से—विजय समग्र पाओ तब तक ।

अभिव्यंजना-पक्ष

सियारामशरणजी की भाषा-शैली हिन्दी-जगत के लिए नयी वस्तु नही है परन्तु 'गोपिका' में दो बाते विशेष रूप से द्रष्टव्य है । प्रथमतः उसमे ब्रजभाषा के शब्दो का बहुलता से प्रयोग हुआ है जिससे पात्रो के वार्तालाप के साथ ही साथ वातावरण मे भी स्वाभाविकता आ गयी है । धेनु की गुहार, बिजन डुलाती रही, मै भी बिखा लाऊँ, अवतरते—जैमे प्रयोगो से भाषा सहज स्वाभाविक बन गयी है । दूसरी विशिष्टता अप्रस्तुत योजनाओ के नये और सजीव प्रयोगों मे है । 'गोपिका' में प्रयुक्त 'उपमान' मधुर भाव के उपयुक्त, क्रान्ति, कोमलता और दीप्ति के भाव जगाने में समर्थ है—कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :

(१) सघन द्रुमो की सन्धियों से झिर यह धूप पीठ पीछे के से चारु चुम्बन-सी इससे आ लिपटी ।

(२) एक धूप रेखा वह धवल कटार—जैसी तापसी उमा के मृदु उत्पल पदों पर पड़ी है ।

(३) नर्तकी मैं नत हूँ—मुख का मुखर हास दीपक की बाती तुल्य धीमा करके बोली ।

(४) एक शुद्ध स्वर में विलीयमान होते है जिस भाँति सारे स्वर यहाँ तमस्सागर में लीन उसी भाँति हुआ गोपीग्राम, गोकुल, समस्त, धरातल ही ।

(५) सुध-बुध खिसक पडी है शीश पर के दुकूल तुल्य ।

योजनाबद्ध प्रतीक-रूपक

गोपिका की प्रबन्ध-योजना में एक ओर नाटकीय तत्त्वो का समावेश है और दूसरी ओर उसमें व्यक्त जीवन-दर्शन प्रतीक-योजना द्वारा व्यंजित है ।

सम्पूर्ण काव्य १७ खण्डो मे विभाजित है, जिनके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्तों और घटनाओ से कथा का विकास होता है। अधिकतर यह विकास स्वगत-कथनों, और कथोपकथनों के द्वारा हुआ है। गद्य और पद्य दोनो साथ-साथ चलते है। इन सब विशेषताओं को देखते हुए 'गोपिका' का काव्य-रूप यशोधरा के निकट पड़ता है, परन्तु 'उन्मुक्त' की प्रतीक-योजना की भाँति ही इसके उद्देश्य की अभिव्यक्ति एक सांगोपाग प्रतीक-योजना द्वारा की गयी है। 'श्री सुरभि पंथ', उदात्त, निस्वार्थ, सामंजस्यमूलक जीवन दर्शन का प्रतीक है, जो 'इन्दु' के चरित्र मे साकार है। इन्दु की वृन्दवाटिका 'वृन्द' की है, अर्थात् समष्टि-साधना ही मनुष्य का उदात्त लक्ष्य है। सकीर्ण, स्वार्थी और क्रूर वृत्तियों के प्रबल प्रसार के कारण इस साधना पर व्याघात पहुँचता है, 'दुर्जय' और 'क्रूर' इन्ही वृत्तियों के प्रतीक है। उनकी आँखें 'वृन्द वाटिका' पर लगी है, जिसके फलस्वरूप वह समूह न रहकर व्यक्ति की सम्पत्ति बन जाती है, उसकी रक्षा के लिए प्रहरी नियुक्त किये जाते हैं। इन्दु बन्दिनी-सी रह जाती है, उदात्त भावना का मार्ग दस्यु वृत्तियों द्वारा अवरुद्ध हो जाता है। 'स्वस्तिग्राम' पर आपत्ति के बादल छा जाते हैं, अर्थात् लोक-हितकारी तत्त्वों की हानि होती है, परन्तु 'इन्दु' की प्रेम-साधना के अलौकिक प्रभाव से दुर्जय और क्रूर परास्त हो जाते है। इन विशेषताओं को देखते हुए गोपिका को एक उद्देश्य-प्रधान, प्रबन्धात्मक, प्रतीक-रूपक कहा जा सकता है जिसमें एक संत कवि की उदात्त-विमल भावना और कल्पना को अभिव्यक्ति, मिली है।

परिशिष्ट (१)

महामहिम राज्यपाल से निवेदन

श्रीयुत सम्पादक, 'जागरण', झाँसी

उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री विश्वनाथदासजी इन दिनो झाँसी पधारे हुए है और वे इस जिले का दौरा कर रहे है। उनकी सेवा मे आपके सम्मानित पत्र 'जागरण' के द्वारा मै अपने दो शब्द पहुँचाने की आज्ञा चाहता हूँ।

कृपा करके महामहिम चिरगाँव भी पधारे। उन्होने यहाँ के सहकारी क्रय-विक्रय समिति लि० के भवन का उद्घाटन किया। उन जैसे महान् प्रशासक का आगमन इस छोटे ग्राम में यह पहली ही बार हुआ। इसके पहले महात्मा गांधी, श्री सुभाषचन्द्र बोस और प० जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्रवदित पुरुष यहाँ आ चुके है और उनके उपदेश बिना किसी दुभाषिये के यहाँ की ग्रामीण जनता ने इसी देश की भाषा मे सुने। पर महामहिम का अग्रेज़ी भाषण उसके तात्कालिक हिन्दी अनुवाद के साथ यह पहली बार यहाँ की जनता ने आज ही सुना। हम जानते हैं कि वे हमारे स्वाधीनता सग्राम के श्रेष्ठ सेनानी और आज के प्रजातंत्र मे हमारे माननीय राज्यपाल है। उन्हें हिन्दी नही आती है तो हम यह नहीं चाहते कि वे हिन्दी सीखे। अग्रेजी की अपेक्षा वे ऐसी ग्राम-सभाओं में उड़िया मे भाषण करें, यही निवेदन हमे उनसे करना है। उडिया के हिन्दी अनुवादक की व्यवस्था उन जैसे श्रेष्ठ प्रशासक के लिए कठिन नहीं होनी चाहिए।

मैं यहाँ के उनके अभिनन्दन समारोह मे उपस्थित था। इसलिए मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि महामहिम के मुख से निकले शब्द कुछ सरकारी कर्मचारियों और इने-गिने दो चार व्यक्तियो को छोडकर किसी के भी पल्ले नहीं पड़े। उडिया में यदि उनका भाषण होता तो यहाँ की सामान्य जनता, जिनके लिए उन्होने यहाँ तक आने का कष्ट किया, उसमे अपने देश की सुगन्धि का अनुभव तो करती ही साथ ही साथ उसे उडिया प्रान्त की अखिल भारतीय जगन्नाथपुरी का पावन संस्पर्श भी मिलता। जनता का हृदय स्पन्दित करने के लिए यह मुझे प्राथमिक कर्तव्य जान पड़ता है।

यह निवेदन करने का एक अन्य कारण भी है। जिस स्थान पर चिरगाँव में आज महामहिम का भाषण हुआ उसी स्थान पर सन् १६२६ मे पूज्य बापू हिन्दी में ही भाषण कर चुके है और यह स्वाभाविक ही है कि उनका यह वाक्य स्मरण आ जाय कि स्वाधीनता के उपरान्त देश के कार्य के लिए अंग्रेज़ी एक दिन भी नही चलनी चाहिए। निरी ग्राम-जनता की सभाओं में तो उसका औचित्य सम्भव ही नही है। अत· पूरे आदर के साथ अपने महामहिम राज्यपाल तक ये कुछ शब्द पहुँचाना चाहता हूँ।

चिरगाँव भवदीय,

२५-८-६२ (ह०) सियारामशरण गुप्त

परिशिष्ट (२)

श्री सुभाषचन्द्र बोस के लिए अभिनन्दनीय भाषण

आदरणीय महोदय,

चिरगाँव निवासियों की ओर से मैं आपका सादर स्वागत करता हूँ। यह हम लोगो का सौभाग्य है कि आपके दर्शन हुए। इस कृपा के लिए हम सब अपनी गहरी कृतज्ञता अर्पित करते है।

आप बगाल के श्रेष्ठ पुत्रो मे है। बगाल आपका ही नही है। वह उतना ही हमारा है, जितना आपका। इसलिए आप भी हमारे है। आपके द्वारा हम अपनी श्रद्धा बंगाल को भी अर्पित करते है।

बगाल सारे भारतवर्ष का मानस-तीर्थ है। वही पहले पहल मन्त्रद्रष्टा ऋषि बंकिमचन्द्र ने मधुर और श्रद्धा-भरे कण्ठ से 'वन्दे मातरम्' का गान गाया। वह 'वन्दे मातरम्' हमारे राष्ट्रीय उद्‌बोधन का मूल मन्त्र हो गया है। करोड़ों कण्ठों ने और सहस्रो बलिदानो ने उस मन्त्र की साधना की है। उसे सिद्ध किया है। बंगाल से ही विवेकानन्द ने आध्यात्मिक और राजनीतिक बोध को सुदूरव्यापी जागरण दिया है। वहीं से रवीन्द्रनाथ ने अपना सार्वभौम कवि-कण्ठ कूजित किया है। वही से शरत्‌चन्द्र ने कथा कहते-कहते हमारा हृदय द्रवित किया है, मानव-हृदय की एकता की गूढ़ चेतना दी है। वही के सुपुत्रों ने, भले ही उनका मार्ग वांछनीय न हो, देश के ऊपर हँसते-हँसते मर जाने की प्रेरणा दी है। उसी बंगाल के आप भी सुपुत्र है। आपने देश के लिए जो संकट झेले है, उनके लिए हम सब लोग आपके चिर कृतज्ञ रहेगे। हम आपका सादर स्वागत करते है।

आप हमारे आदरणीय अतिथि है। बहुत शिष्टाचार आप जैसे महापुरुषों के लिए नही होता। आप इसलिए यात्रा का महान् कष्ट झेलने के लिए नहीं निकले है कि आपकी चाटुकारी की जाय, खुशामद की जाय। सत्य के सन्धान और प्रचार के उद्देश्य से ही अपने स्वास्थ्य को खतरे मे डालकर आप ये यात्राएँ कर रहे है। इसलिए हमारे लिए सबसे बडी सेवा आपकी यही होगी कि हम अपना हृदय खोलकर आपके सामने रख दें।

आपने देखा है कि जहाँ-जहाँ आप पधारे है, वही बहुत बड़े जन-समूह ने उपस्थित होकर आपका समादर किया है। आपको थैलियाँ भेंट की है। अखबारों में आपका सन्देश दूर-दूर तक पहुँचाया गया है। हम सोचते हैं, आपकी दृष्टि में यह बहुत बड़ी बात न होगी।

हम भारतवासियो में एक बड़ा गुण अतिथि-सत्कार का है। यदि आज यहाँ डाक्टर अम्बेदकर आ जायँ, डाक्टर मुजे आ जायँ और हाँ,—डाक्टर खरे आ जायँ, जनाब जिन्ना आ जायँ, तब भी हमारे स्वागत-सत्कार में कमी नही पड़ेगी। उनके लिए भी सुन्दर-सुन्दर आयोजन किये ही जायेंगे। इसे अतिथि-सत्कार कहना ही ठीक होगा। हम भारतीयो का यह गुण इस सीमा तक पहुँचा हुआ है कि सात समुद्र पार से कुछ वणिक आते है और उन्हें हम अपना सर्वस्व तक अर्पित कर देते है। पर इस सत्कार के साथ सिद्धान्तों की सहमति भी है, यह नही समझा जाता।

राष्ट्र का हृदय जहाँ पर है, वह अभी हाल के राष्ट्रपति के चुनाव में प्रकट हो चुका है। खेद है, इस चुनाव में बगाल हाथ नहीं बँटा सका। परन्तु बचे हुए भारतवर्ष का मत तो प्रकट हुआ ही है। और बगाल सारे देश का नहीं है, वह देश के मत का निरादर करता है, ऐसी बात कहना बगाल का भयंकर अपमान होगा। यह चुनाव उन लोगों के प्रति विश्वास की घोषणा है, जिन्हें 'कांग्रेस हाई कमाण्ड' कहकर निन्दित किया जाता है। इस चुनाव में कही कोई त्रुटि हो सकती है, किन्तु इसे अस्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। एक बार ऐसे ही चुनाव की मान्यता हमारे मान्य अतिथि स्वयं स्वीकार कर चुके है।

इस चुनाव में देश का राष्ट्रमत प्रकट हो चुका है। परन्तु उसमें कुछ विरोध भी है। विरोध किस बात का नहीं होता? इसी से कभी हम तत्काल सत्याग्रह छेड़ देने की बात सुनते है। कभी यह सुनते है कि कांग्रेस हाई कमाण्ड दुर्बल है। और फिर कभी यह भी सुनते है कि वे लोग दुश्मनों के साथ समझौता कर रहे है। यहाँ समझौते का अर्थ देश के साथ विश्वासघात करना किया जाता है। इस अर्थ से यह आशय भी निकलता है कि हमारी सर्वश्रेष्ठ विभूतियाँ देश के साथ दगा करने वाली है। परन्तु हम जानते हैं कि सभी सुनी बाते सच नही होतीं। बहुत-सी बाते किसी खास मतलब से एक समय कह दी जाती है। बाद मे उन्ही के लिए बड़ों तक को कहना पड़ता है, हमने ऐसा सुना था।

हमने भी एक बात सुनी है, और उसे हम प्रकट कर देना चाहते हैं। एक के स्थान पर अब दो काग्रेसें बनायी जायेंगी। जनाब जिन्ना ने हिन्दुस्तान को

दो राष्ट्र कहा है। उसे वे एक नही मानते। इन दो काग्रेसों के द्वारा उनके उस कथन का कैसा बढ़िया स्वय-समर्थन होगा।

इसके आगे हमने और जो बात सुनी है, उसे सुनकर हम दग रह गये है। हमारा मर्मस्थल पीडित हो उठा है, लज्जा से हमारा सिर नीचा है, यह हम मे कैसी बात पैदा हो गयी है कि हम अपनी विश्ववन्द्य विभूति का अपमान करे। किस तरह हमने यह कार्य किया है, वह कहा भी नही जाता। मानते है, वैसे घृणित कार्य के लिए हम अपने सारे समूह की निन्दा नही कर सकते। दो-चार या दस-बीस जनो का ही वह कार्य हो सकता है। परन्तु यह सख्या तो बहुत बडी है। जयचन्द एक ही बहुत होता है, जगत सेठ दो नही होते। मीर जाफर अकेला एक ही होता है। केवल एक के कार्य के लिए सारे के सारे राष्ट्र को गुलाम होना पड़ता है।

इसलिए अपने मान्य अतिथि की सेवा मे हम सादर और सविनय निवेदन करना चाहते है, यह समय उनके इधर-उधर घूमने का नही है। हमारे बंगाल को इस समय उन्हीं की आवश्यकता है। यह आवश्यकता ऐसी है कि वहाँ के लिए वे नगे पैर दौड़े जायँ। उनके पैर का जूता तो वहाँ से पहले ही निकाल लिया गया है। हमारी ओर से ही वे वहाँ पहुँचे। उसके प्रति हमारी उस श्रद्धा का सन्देश पहुँचावें, जो उसके पुनीत उपकारों से हमारे हृदयो मे रहती आयी है। इसी बात की इस समय वहाँ आवश्यकता है। इस बीच में यहाँ कोई ऐसा समझौता शत्रु के साथ न हो जायगा, जो हमारे बंगाल को स्वीकार न हो। और तत्काल सत्याग्रह छेड़ना आवश्यक हो, तो वह भी वहाँ छेडा जा सकता है। बंगाल जैसा बड़ा क्षेत्र गांधीजी के लिए न तो दक्षिण अफ्रीका में, न चम्पारन में, न खेड़ा मे, और न बारडोली में ही था। मौखिक नहीं, कोई वास्तविक कार्य होगा तो स्वय गांधीजी उसे ग्रहण कर सकते है। हिमालय जैसी भूल स्वीकार कर लेने में भी उनका गौरव नही घटता। वहाँ किये गये उस वास्तविक कार्य की चिनगारी सारे का सारा भारतवर्ष उसी प्रकार ग्रहण कर लेगा, जिस प्रकार सप्त कोटिजनों के लिए गाये गये वन्दे मातरम् को उसने त्रिंश कोटि के लिए स्वीकार कर लिया है।

इन शब्दों के साथ मैं पुनः नगर की ओर से आपका सादर स्वागत करता हूँ।

चिरगाँव, झाँसी सियारामशरण गुप्त